उद्योतकरकृत

न्यायवार्तिक

तृतीय भाग

डॉ० श्रीनिवास शास्त्री

उद्योतकरकृत

न्यायवार्त्तिक

(न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य सहित)

भाग–३ (तृतीय अध्याय)

डा० श्रीनिवास शास्त्री

इण्डोविज़न प्राइवेट लिमिटेड
II ए–२२० नेहरू नगर, गाजियाबाद २०१००१

प्रकाशक :

इण्डोविज़न प्राइवेट लिमिटेड
II ए-२२० नेहरू नगर
गाजियाबाद-२०१००१

१९९२

डा० श्रीनिवास शास्त्री

मूल्य :

मुद्रक :
देव प्रिन्टर्स
सत्ता रोड (शाहपीर गेट)
मेरठ।

विषय-सूची

न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक (तृतीय अध्याय)

परीक्षा प्रकरण

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

१. (इन्द्रियव्यतिरिक्तात्मपरीक्षा,)

अवतरणिका

न्यायभाष्यम्

परीक्षितानि प्रमाणानि प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते । तच्चात्मादीत्यत्रात्मा विविच्यते, किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासंघातमात्रमात्मा, आहोस्वित्तद्व्यतिरिक्त इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

आनन्तर्यात् प्रमेयपरीक्षा । यद्विषयोऽहङ्कारः संसारं प्रतनोति यद्विषयं च तत्त्वज्ञानं संसारविनिवृत्तिहेतुर्भवति तदानन्तर्यात् परीक्ष्यते । तच्चात्मादीत्यात्मा विचार्यते । किं पुनरस्य विचार्यम् ? किं शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्त आहो नेति ? न, धर्म्यप्रसिद्धेः—व्यतिरेकाव्यतिरेकावात्मधर्मौ, सति धर्मिणि धर्मो भवतीति धर्मी चात्माप्रसिद्धः, न चाप्रसिद्धे धर्मिणि धर्मयोर्विचारो युक्तः, तस्माद् धर्म्येव तावत्प्रतिपाद्यतामिति ? न, इच्छादिसूत्र आत्मसद्भावः प्रतिपादितः प्रतिपादितत्वादनन्तरो विचारो युक्त इति ।

---

१. इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की परीक्षा—प्रमाणों की परीक्षा की गई, अब प्रमेयों की परीक्षा करनी है । प्रमेय आत्मा इत्यादि हैं अतः आत्मा का विवेचन किया जाता है । क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि (ज्ञान), वेदना (सुख-दुःख का अनुभव) का संघातमात्र आत्मा है अथवा उनसे भिन्न (अतिरिक्त) है । (प्रमाण के) अनन्तर निर्देश करने के कारण प्रमेय की परीक्षा की जाती है । जिस (प्रमेय) के विषय में होने वाला अहंभाव संसार (जन्म-मरण) का हेतु होता है, और जिसके विषय में होने वाला तत्त्वज्ञान संसार की निवृत्ति का हेतु होता है, उसको अनन्तर होने से परीक्षा की जाती है । वह (प्रमेय) आत्मा इत्यादि है अतः आत्मा का विचार किया जाता है । (प्रश्न) किन्तु इसका क्या विचार करना है ? (उत्तर) क्या शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि (ज्ञान) से भिन्न आत्मा है अथवा नहीं । (आक्षेप) यह ठीक नहीं, धर्मी (आत्मा) के प्रसिद्ध न होने से—भिन्नता और अभिन्नता तो आत्मा के धर्म हैं । धर्मी के होने पर ही धर्म होता है और धर्मी यहां अप्रसिद्ध है तथा प्रसिद्ध न होने वाले धर्मी में धर्मों का विचार युक्त नहीं । इसलिये प्रथमतः धर्मी का ही प्रतिपादन करना चाहिये । [परिहार] (आक्षेप) ठीक नहीं, इच्छा आदि सूत्र (१.१.१०) में आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन किया जा चुका है, उसके अनन्तर विचार युक्त ही है ।

परीक्षितानि प्रमाणानि—यहाँ प्रमाणपरीक्षा हेतु है तथा प्रमेयपरीक्षा हेतुमती है अतः प्रमाणों की परीक्षा के पश्चात् प्रमेयों की परीक्षा की जाती है (टी० ४६६) ।

आत्मा विविच्यते—आत्मा का विवेचन किया जाता है, यह आत्मा ज्ञान आदि से भिन्न है, नित्य है इत्यादि दिखलाया जाता है ।

धर्म्यप्रसिद्धेः—धर्मी है आत्मा । वह देहादि से भिन्न है या उनका संघातमात्र यह विवेचन किया जाता है ।

इच्छादिसूत्रे—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति (१।१।१०) सूत्र में ।

न्यायभाष्यम्

कुतः संशयः ? व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः। क्रियाकरणयोः कर्त्रा सम्बन्धस्याभिधानं व्यपदेशः। स द्विविधः, अवयवेन समुदायस्य 'मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति' 'स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते' इति। अन्येनान्यस्य व्यपदेश 'परशुना वृश्चति' 'प्रदीपेन पश्यति'। अस्ति चायं व्यपदेशः 'चक्षुषा पश्यति' 'मनसा विजानाति' 'बुद्ध्या विचारयति' 'शरीरेण सुखदुःखमनुभवति' इति। तत्र नावधार्यते किमवयवेन समुदायस्य देहादिसंघातस्य, अथान्येनान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वा' इति।

न्यायवार्त्तिकम्

अविप्रतिपत्तेः—न कश्चिदात्मसद्भावे विप्रतिपद्यते, किन्तु विशेषे विप्रतिपद्यते, शरीरमात्रमात्मा, बुद्ध्यादय आत्मा, संघात आत्मा, व्यतिरिक्त आत्मेति। इयं च धर्मविशेषविप्रतिपत्तिरप्रतिपन्नात्मसत्त्वानां न युक्तेति युक्तो धर्मविचारः असत्त्वप्रतिपादकप्रमाणासम्भवाच्च। न चात्मासत्त्वप्रतिपादकं प्रमाणमस्तीत्यतश्च सद्भावे न विप्रतिपद्यत इति।

संशय क्यों है ? व्यवहार (व्यपदेश) के दोनों प्रकार सिद्ध हो जाने से—क्रिया तथा करण का कर्ता से सम्बन्ध कथन व्यपदेश (व्यवहार) है। वह दो प्रकार का है ? अवयव से समुदाय का; जैसे वृक्ष जड़ों से खड़ा है, खम्भों से प्रासाद (महल को) धारण किया जाता है। अन्य से अन्य का (भी) व्यपदेश होता है, जैसे फरसे से काटता है, प्रदीप से देखता है। यह भी व्यपदेश होता हैं कि चक्षु से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से विचार करता है, शरीर से सुख-दुःख का अनुभव करता है। उसमें यह निश्चय नहीं किया जाता। क्या (यहाँ) अवयव से समुदाय अर्थात् देहादि संघात का व्यपदेश किया जा रहा है अथवा अन्य से अन्य का उस (देहादि संघात) से भिन्न का।

मतभेद न होने से—कोई आत्मा की सत्ता में मतभेद नहीं रखता किन्तु उसके विशेष रूप में मतभेद रखता है। (कोई मानता है) शरीरमात्र आत्मा है, (कोई) बुद्धि आदि आत्मा है, (कोई) शरीर आदि का संघात आत्मा है (कोई) इनसे भिन्न आत्मा है। यह विशेष धर्म का मतभेद आत्मा की सत्ता न मानने वालों में नहीं हो सकता अतः (आत्मा के) धर्म का विचार युक्त ही है। आत्मा के न होने का प्रतिपादक प्रमाण न होने से भी—आत्मा के न होने का प्रतिपादक प्रमाण नही है, अतः (उसकी) सत्ता में मतभेद नहीं है।

कुतः संशय.—यहाँ संशय का निमित्त दिखलाया गया है। दोनों प्रकार व्यपदेश बन सकने से।

व्यपदेशस्योभयथासिद्धेः—इस वाक्य को कोई सूत्र मानते हैं। भाष्य में संशय का स्वरूप 'अवयवेन समुदायस्य' आदि में दिखलाया गया है।

असत्त्वप्रतिपादकः—आत्मा के अस्तित्व के अभाव का प्रतिपादन करने वाला कोई प्रमाण नहीं है अतः आत्मा के अस्तित्व में सन्देह नहीं है अपितु उसके धर्मों में सन्देह है, स्वरूप में सन्देह है। उसका ही विचार यहाँ किया जा रहा है। यद्यपि वृक्ष तथा प्रासाद में, अवयवों से व्यपदेश किया जाता है जो न्याय के मत में अवयवी से अन्य ही है तथापि दूसरे की दृष्टि से यह उदाहरण दिया गया है। (द्र० टी० ४२६)।

न्यायवार्त्तिकम्

न, नास्त्यजातत्वादित्येके—नास्त्यात्मा अजातत्वात् शशविषाणवदिति । तत्र नास्त्यात्मेतिपदे तावद् व्याहन्येते—नास्तिशब्दसमानाधिकरणोऽयमात्मशब्दो नात्मनोऽसत्त्वं प्रतिपादयति। किं कारणम् ? आत्मेति सत्त्वमभिधीयते, नास्तीति तस्य प्रतिषेधः यच्च यत्र प्रतिषिध्यते तत् तस्मादन्यत्रास्ति, यथा नास्तिना समानाधिकरणो घटशब्दो न घटाभावं प्रतिपादयितुं शक्नोति, अपितु देशकालविशेषे प्रतिषेधति नास्ति घट इति। देशविशेषे वा प्रतिषेधो गेहे नास्तीति, कालविशेषे वा प्रतिषेध 'इदानीं नास्तीति' 'प्राङ्नास्ति' 'ऊर्ध्वं नास्तीति । सर्वश्चायं प्रतिषेधो नानभ्युपगतघटसत्त्वस्य[1] युक्तः । तथा नास्त्यात्मेति किमयं देशविशेषे प्रतिषिध्यते, अथ कालविशेष इति ? यदि तावद्देशविशेषे प्रतिषेधः[2] स आत्मनि न युक्तः, अदेशत्वादात्मनः । न च[3] देशविशेषप्रतिषेधादात्मा प्रतिषिद्धो भवति ।

नहीं (मतभेद नही है, ऐसा नहीं) । कोई कहते हैं आत्मा नही हैं, उत्पन्न न होने से—आत्मा नहीं है, उत्पन्न न होने से शशविषाण (खरगोश के सींग) के समान । वहाँ 'आत्मा नहीं हैं' इन पदों में ही प्रथमतः व्याघात हैं—'नहीं है' पद का समानाधिकरण होकर भी यह 'आत्म' शब्द आत्मा की 'सत्ता का न होना' नहीं बतलाता । (प्रश्न) क्या कारण है ? (उत्तर) आत्मा शब्द से होना (सत्त्व) कहा जाता है नास्ति' (नहीं है) से उसका प्रतिषेध किया जाता है और जिसका जहाँ प्रतिषेध किया जाता है वह उससे भिन्न देश या काल में (अन्यत्र) होना है जैसे 'नहीं है' (नास्ति) का समानाधिकरण होकर घट शब्द घटाभाव को नहीं बतला सकता, अपितु देशविशेष तथा कालविशेष में ही घट का प्रतिषेध करता है कि वहाँ घट नहीं हैं—या तो विशेष स्थान (देशविशेष) में प्रतिषेध होता हैं कि 'घर में घट नहीं है' अथवा कालविशेष में कि इस समय घट नहीं है, पहले घट नही था, आगे घट नहीं होगा । और यह सब प्रतिषेध (ही) घट की सत्ता न मानने वाले के मत में युक्त नहीं उसीप्रकार 'आत्मा नहीं है' क्या यह विशेष स्थान में प्रतिषेध करता है अथवा विशेषकाल में ? यदि विशेष स्थान में प्रतिषेध है तो वह आत्मा में युक्त नहीं, आत्मा के स्थान (देश) न होने से । और स्थान (देश) विशेष में (आत्मा के) प्रतिषेध से आत्मा का प्रतिषेध ।

नास्ति—यह बौद्ध की शङ्का है, इसमें आत्मा के अस्तित्व में विप्रतिपत्ति दिखलाई गई है। टी० में 'तत्रैव भवान् प्रष्टव्यो जायते' इत्यादि में इसका प्रतिवाद करके आत्मा की सिद्ध की गई है।
व्याहन्येते—आगे यह व्याघात दिखलाया गया है। टी० (४९९) में 'आत्मा नास्तीति' । पदयोः घातः इसकी व्यख्या है।
तथा नास्त्यात्मा—यह कथन केवल देशविशेष अथवा कालविशेष में आत्मा का प्रतिषेध करता है, जो युक्त नहीं है, यह आगे दिखलाया गया है ।

---

१. नालक्ष्यगतघटसत्त्वस्य, पा० ।
२. देशविशेषे प्रतिषिद्धः, पा० ।
३. देशविशेषे प्रतिषेधा, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

अथायं भवतामभिप्रायः शरीरमात्मा न भवतीति ? कस्य वाशरीरमात्मा यं प्रति प्रतिषेधः। शरीरे नास्त्यात्मेत्येवं[1] प्रतिषेध इति चेत् ? कस्य वा शरीरे आत्मा यं प्रति प्रतिषेधः ? क्व तर्ह्यात्मा ? न क्वचिदात्मा। किमयं नास्त्येव न नास्ति, विशेषप्रतिषेधात्। केयं वाचोयुक्तिः न च शरीरे, नान्यत्र, न च नास्ति ? एषैषा वाचोयुक्तिः, यद्यथाभूतं तत्तथा निर्दिश्यते; 'न चायमात्मा क्वचिदपि' इति तस्मान्थैव निर्देशः।

न च कालविशेषप्रतिषेधोऽपि युक्तः, आत्मनि त्रैकाल्यस्यानभिव्यक्तेः[2]—न ह्यात्मनि त्रैकाल्यमभिव्यज्यते नित्यत्वात्, नित्यं आत्मेत्येतदुपरिष्टात् पूर्वाभ्यस्तसूत्रे प्रतिपादयिष्यामः। तस्मान्न कालविशेषप्रतिषेधोऽपि।

यदि आपका यह अभिप्राय है कि शरीर आत्मा नहीं है (तो प्रश्न है) किसके मत में शरीर आत्मा है जिसके प्रति प्रतिषेध है ? यदि शरीर में आत्मा नहीं है, इसप्रकार प्रतिषेध है तो किसके मत में शरीर में आत्मा है जिसके प्रति प्रतिषेध किया जाता है ? (प्रश्न) तब यह आत्मा कहाँ है ? (उत्तर) आत्मा कहीं भी नहीं। (प्रश्न) क्या यह है ही नहीं ? (उत्तर) नहीं है, ऐसा नहीं, विशेष (देशविशेष तथा कालविशेष) का प्रतिषेध होने से। (प्रश्न) यह क्या कथन है कि शरीर में नहीं; अन्यत्र नहीं और नहीं है ऐसा नहीं। [उत्तर] यही यह वचन है कि जो जैसा है वैसा निर्देश किया जाता है। यह आत्मा कहीं भी नहीं है, अतः वैसा ही निर्देश किया जाता है।

विशेषकाल में प्रतिषेध करना भी युक्त नहीं; आत्मा में तीनों कालों की अभिव्यक्ति, न होने से—वस्तुतः आत्मा में तीनों कालों की अभिव्यक्ति नहीं होती (उसके) नित्य होने से। आत्मा नित्य है यह आगे पूर्वाभ्यस्त सूत्र (३·१·१८) में सिद्ध करेंगे। अतः कालविशेष का भी (आत्मा में) प्रतिषेध नहीं होता।

अथायं भवतामभिप्रायः— 'नास्त्यात्मा' यह देशविशेष में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिषेध है। यहाँ विकल्प यह है कि शरीर आत्मा नहीं है, अथवा शरीर में आत्मा नहीं हैं- इन दोनों का निराकरण आगे किया जा रहा है।

केयं वाचोयुक्तिः—यह शङ्का करने वाले का प्रश्न है।

एषा—यही वाचोयुक्ति है जो आगे दिखलाई जा रही है। 'यद्यथाभूतं' इत्यादि से यह दिखलाया गया है कि जो वस्तु जैसी है उसका उसीप्रकार कथन किया जाता है। यही वाचोयुक्ति है।

न च कालविशेषप्रतिषेधोऽपि युक्तः—यहाँ कालविशेष के प्रतिषेध का निराकरण किया गया है। एक-एक काल कालविशेष है। उसका प्रतिषेध भी आत्मा में युक्त नहीं। जैसे तीनों कालों में घट आदि का विवरण दिया जाता है, 'घट है घट था तथा घट होगा।' उसप्रकार आत्मा में तीनों कालों का विवरण नहीं दिया जाता वह तो नित्य है।

---

१. आत्मेत्ययं, पा०। २. त्रैकाल्यात् तस्यानभिव्यक्तेः, पा०।

न्यायवार्तिकम्

आत्मप्रतिक्षेपं[1] च कुर्वाणेनात्मशब्दस्य विषयो वक्तव्यः । न ह्येकं पदं निरर्थकं पश्यामः । अथापि शरीरादिविषयमात्मशब्दं प्रतिपद्येथाः, एवमप्यनिवृत्तो व्याघातः । कथमिति ? नास्त्यात्मेति वाक्यस्य तदानीमयमर्थो भवति शरीरादयो न सन्तीति । अथ यं भवन्त आत्मानं कल्पयन्ति स नास्तीति ? न वयमात्मानं कल्पयामः—कल्पना हि नामातथाभूतस्य तथाभाविभिः सामान्यात् तद्धर्मारोपेण तत्प्रत्ययविषयत्वम् । न चात्मानमेवम्भूतं प्रतिपद्यामहे । यं भवन्त आत्मानं कल्पयन्तीति च ब्रुवाणो भवान् प्रष्टव्यो जायते, कथं वयमात्मानं कल्पयाम इति । किं सत्त्वेनाथासत्त्वेन वा । यदि सत्त्वेन ? किमसतः सता साधर्म्यं[2] येन कल्पनाविषय आत्मा ? आत्मसामान्यं चानात्मनो ब्रुवता आत्माभ्युपगतो भवतीति, न ह्यसतः सता सामान्यमस्तीति ।

आत्मा का प्रतिषेध करने वाले को आत्मशब्द का विषय भी बतलाना होगा । हम एक भी पद निरर्थक नहीं पाते हैं । यदि शरीर आदि के विषय में 'आत्मशब्द होता है' यह मानते हो, इसप्रकार भी व्याघात की निवृत्ति नहीं होती । कैसे ? 'आत्मा नहीं है' इस वाक्य का तब यह अर्थ होता है कि 'शरीर आदि नहीं है, (शङ्का) यदि (कहते हो) जिसे आप आत्मा कल्पित करते हैं 'वह नहीं है । [समाधान] हम आत्मा की कल्पना नहीं करते—कल्पना तो वह होती है जहाँ वैसा न होते हुए वैसों की समानता से उनके धर्म का आरोप करके ज्ञान का विषय कर लिया जाता है । (अर्थात् वैसा ज्ञान कर लिया जाता है) । किन्तु (च) आत्मा को ऐसा हम नहीं मानते । और, 'जिसे आप आत्मा कल्पित करते हैं', यह कहते हुए आपसे पूछना है 'हम आत्मा की कैसे कल्पना करते है 'क्या सद्रूप में अथवा असद् रूप में' ? यदि सद् रूप में ? तो असत् (अभाव) की सत् (भाव) से क्या समानता है जिससे आत्मा कल्पना का विषय हो जाता है और अनात्मा की आत्मा से समानता बतलाते हुए, आत्मा को स्वीकार कर लिया जाता है, असत् की (तो) सत् के साथ समानता नहीं होती ।

आत्माप्रतिक्षेपम्—आत्मा का प्रतिषेध । टीका (५००) में 'आत्मप्रतिषेध' यही पाठ है ।
पदम्—पद का अर्थ है जिससे कोई अर्थ जाना जाता है, पद्यतेऽनेन कश्चिदर्थः, (टी० ५००) ।
आत्मशब्दस्य विषयः—आत्मन् शब्द का प्रयोग किस विषय में होता है, यह कहना होगा ।

---

१. प्रतिषेधं, पा० ।
२. साधर्म्यम्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ शरीरादिविषयमहङ्कारमात्मनि कल्पयित्वा विपर्यस्यति[1] एवं शरीरादिव्यतिरिक्ताऽहङ्कारविषयसत्त्वाभ्युपगमादनिवृत्तो व्याघातः । अथ मन्यसे-एकपदस्य नावश्यमर्थेन भवितव्यमिति यथा 'शून्यं तमः' इति । तन्न. व्याघातानिवृत्तेः—शून्यशब्दस्य तावदयमर्थः 'यस्य रक्षिता द्रव्यस्य न विद्यते तद् द्रव्यं श्वभ्यो हितत्वाच्छून्यमित्युच्यते, तमः शब्दस्याप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानि द्रव्यगुणकर्माणि विषयः । यत्र यत्रासन्निधिस्तेजसस्तत्र तत्र द्रव्यादि तमः शब्देनोच्यते । तमः शब्दश्चानर्थक इति ब्रुवाणः स्वसिद्धान्तं बाधते, 'चतुर्णामुपादेयरूपत्वात्तमसः' इति, तस्मान्नानर्थकं पदमिति ।

नास्त्यात्मेति चैवं ब्रुवाणः सिद्धान्तं बाधते । कथमिति ? 'रूपं भदन्त

यदि शरीर आदि विषयक अहंकार को आत्मा में कल्पित करके भ्रान्ति (विपरीत ज्ञान) हो जायेगी ? इसप्रकार भी शरीरादि से भिन्न अहंकार के विषय की सत्ता स्वीकारने से व्याघात की निवृत्ति नहीं होती । (शङ्का) यदि मानते हो कि एक पद का अवश्य ही अर्थ होना चाहिये, ऐसा नहीं है; जैसे—'शून्य अन्धकार है' (इसका अर्थ नहीं होता) । [समाधान] वह भी नहीं, व्याघात की निवृत्ति न होने से—शून्य शब्द का तो यह अर्थ है 'जिस द्रव्य का रक्षक नहीं वह द्रव्य कुत्तों का हितकारी होने से शून्य कहा जाता है' 'तमस्' शब्द का भी जो उपलब्ध नहीं होते ऐसे द्रव्य, गुण तथा कर्म विषय है, जहाँ-जहाँ तेजस् की अनुपस्थिति (असन्निधि) होती है वह-वह द्रव्य आदि तमस् कहलाता है । किञ्च, तमस् शब्द अनर्थक है यह, कहने वाला (बौद्ध) अपने सिद्धान्त का बाध करता है, उसने कहा है 'चतुर्णामुपादेयरूपत्वात् तमसः' (अन्धकार के चार 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श' का उपादेय रूप होने से), इसलिये कोई पद अनर्थक नहीं ।

किञ्च, आत्मा नहीं है; यह कहने वाला (बौद्ध) अपने सिद्धान्त का बाध करता है । कैसे ? भदन्त, मैं रूप नहीं हूँ, भदन्त, मैं वेदना, संस्कार—

शरीरादिविषयम्—अहंभाव परमार्थतः शरीर आदि के विषय में है 'मैं स्थूल हूँ, मैं गोरा हूँ' ऐसा ज्ञान होने से । उस शरीर को ही आत्मा मानकर मिथ्या ज्ञान हो जाता है । उस मिथ्या ज्ञान का ही यहाँ प्रतिषेध किया गया है कि शरीर आत्मा नहीं है ।

एवं शरीरादि—इसप्रकार शरीरादि से भिन्न अहंकार का विषय मानने से व्याघात है ही ।

शून्यशब्दस्य तावदयमर्थः—यहाँ वार्त्तिककार ने अपने विचार से शून्य शब्द की निरुक्ति की है ।

चतुर्णामुपादेयरूपत्वात्—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार हैं, इनका उपादेय तमस् है । यहाँ 'उपादान' पाठ भी मिलता है । टी० के अनुसार 'उपादेय' पाठ सुगम है । तमः के स्थान पर नभः पाठ भी है । द्र० टी० ५०० ।

---

१. विमर्याग[illegible]ति, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

नाहं वेदना संस्कारो[1] विज्ञानं भदन्त नाहमिति, एवमेतद् भिक्षो रूपं न त्वं वेदना संस्कारो विज्ञानं वा न त्वमिति। त एते स्कन्धा रूपादयोऽहंविषयत्वेन[2] प्रतिषिद्धाः[3]। विशेषप्रतिषेधश्चायं न सामान्यप्रतिषेधः आत्मानं चानभ्युपगच्छता सामान्यमेव प्रतिषेद्धव्यम् 'नाहं नैव त्वमसीति'। अथैकशः प्रतिषेधेन[4] समुदायविषयोऽहङ्कार इति? तथापि रूपादिस्कन्धपञ्चकव्यतिरेकेण समुदायो वक्तव्योऽहङ्कारविषयः। तद्व्यतिरिक्तं च समुदायमहङ्कारविषयमभ्युपगच्छता[5] सञ्ज्ञा भिद्यते। 'आत्मा समुदाय इति। अथाव्यतिरिक्तमेक प्रत्ययो न प्राप्नोति 'अहमिति'। न हि बहुष्वेकशब्दं[6] पश्यामः न च रूपादिस्कन्धा एकशः समुदिता वा आत्मा, इत्यहङ्कारप्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्राप्तः।

विज्ञान नहीं हूँ, इसीप्रकार हे भिक्षु, तुम न रूप हो, न वेदना संस्कार या विज्ञान। वे ये स्कन्ध रूप आदि है ये अहं का विषय नहीं हैं, ऐसा प्रतिषेध किया गया है। और यह विशेष का प्रतिषेध है, सामान्य का नहीं किन्तु आत्मा को न स्वीकारते हुए सामान्य का ही प्रतिषेध करना चाहिये 'न मैं हूँ' 'न तुम' (ऐसा कहना चाहिये)। (शङ्का) यदि एक-एक का प्रतिषेध करने से 'अहंभाव' समुदाय (स्कन्ध समुदाय) के विषय में होता है। (समाधान) तो भी रूपादि पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त समुदाय कहना होगा जो 'अहंभाव' का विषय है। उस (रूपादि स्कन्ध) से भिन्न समुदाय को 'अहंभाव' का विषय मानने में नाम (संज्ञा) का भेद है, क्योंकि आत्मा (ही) समुदाय है। यदि रूपादि से (समुदाय) भिन्न नहीं है तो 'अहं' (एकत्व) यह प्रतीति नहीं प्राप्त होती। वस्तुतः बहुतों में एक शब्द हम नहीं देखते। और, रूपादिस्कन्ध एक-एक या मिले हुए (समुदित) आत्मा नहीं, अतः 'अहम्' यह प्रतीति अन्य में उसकी प्रतीति मिथ्याप्रतीति होगी।

रूपादयोऽहंविषयत्वेन प्रतिषिद्धाः—सातपुत्रीय वैभाषिकों का यह मन्तव्य है (टी० ५००)। वार्त्तिककार ने इस पर बतलाया है कि रूप आदि स्कन्ध अहंभाव के विषय नहीं।

सामान्यमेव प्रतिषेद्धव्यम्—'मैं नहीं हूँ, तुम नहीं हो' इसप्रकार प्रतिषेध करना चाहिये।

समुदायो वक्तव्यः—पाँचों स्कन्धों का समुदाय अहंभाव का विषय है, यह कहना होगा। यह समुदाय यदि रूपादि स्कन्ध से भिन्न है तो आत्मा ही है, यदि अभिन्न है तो अनेक रूपादि स्कन्ध में एकत्व की प्रतीति होती है।

अतस्मिंस्तदिति प्राप्तः—तस्मिन् तत्प्रतीति ही यथार्थ है। यहाँ अनेकों में एक प्रतीति हो रही है, अतः यह अतस्मिन् तत्प्रतीति है, मिथ्याज्ञान है।

न्यायवार्त्तिकम्

भवतु मिथ्याप्रत्ययः किन्नो बाध्यत इति ? कथं न बाध्यते, यदा सम्यक् प्रत्ययानुकारिणो मिथ्याप्रत्यया भवन्ति। न चात्मानमनभ्युपगच्छता तथागतदर्शनमर्थवत्तायां व्यवस्थापयितुं शक्यम्। न चेदं वचनं नास्ति सर्वाभिसमयसूत्रेऽभिधानात्। तस्मान्नास्त्यात्मेति ब्रुवाणः[1] सिद्धान्तं बाधत इति। तथा भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल इति, यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवति' इति सूत्रम्।

योऽप्ययं हेतुरजातत्वादिति, अयमपि राश्यन्तरव्यवच्छेदहेतुत्वाद् विरुद्धः, जातमजातमिति च वस्तुधर्मावेतौ। किं पुनर्जातं किं चाजातमिति ? यस्य कारणवतः सत्ता तज्जातम्, यस्याकारणवतः सत्ता तदजातम्। किं कारणम् ? नञो जन्मप्रतिषेधविषयत्वात्—अयं खलु नञ् प्रवर्तमानो।

(शङ्का) मिथ्या प्रतीति हो जाये, हमारी क्या हानि है। [समाधान] हानि क्यों नहीं है। जब मिथ्या प्रतीति सम्यक् प्रतीति का अनुकरण करने वाली होती है। किञ्च, आत्मा को न स्वीकारते हुये बौद्ध (तथागत=बुद्ध) दर्शन का प्रयोजन (अर्थवत्ता) नहीं दिखलाया जा सकता। यह भी नहीं कि यह वचन ही नहीं है, 'सर्वाभिसमयसूत्र' में यह कहा गया है। इसलिये 'आत्मा नहीं है' ऐसा कहने वाला (बौद्ध) सिद्धान्त का बाध करता है। सूत्र यह है 'भिक्षुओ, तुम्हें भार का उपदेश करूँगा और भारहार का भी, पांच स्कन्ध (ही) भार हैं और भारहार है पुद्गल (जीवात्मा)। जो कहता है, आत्मा नहीं है वह मिथ्यादृष्टि वाला है।'

जो भी यह हेतु है 'अजातत्वात् (उत्पन्न न होने से), यह भी अन्य वर्ग का निराकरण (व्यवच्छेद=व्यावृत्ति) करने वाला हेतु है, अतः विरुद्ध (हेत्वाभास) है। 'उत्पन्न हुआ', 'उत्पन्न न हुआ' ये (दोनों) वस्तु के धर्म हैं। (प्रश्न) किन्तु उत्पन्न हुआ क्या है, उत्पन्न न हुआ क्या है ? (उत्तर) जिस कारण वाले की सत्ता है वह उत्पन्न हुआ (कहलाता है); जिस कारण रहित की सत्ता है वह उत्पन्न न हुआ (अजात कहा जाता है)। (प्रश्न) क्या कारण है ? (उत्तर) 'न' (नञ्) के उत्पत्ति के प्रतिषेध के विषय में होने से—वस्तुतः यह 'न' जब प्रयुक्त होता है तो जन्म का

बाध्यते—बाधित होता है, बिगड़ता है, हानि होती है। किन्नो बाध्यते=हमारा क्या बिगड़ता है।

सम्यक्प्रत्ययानुकारिणो मिथ्याप्रत्यया भवन्ति—जो मिथ्याज्ञान है, वह सम्यक्ज्ञान के अनुकरण पर होता है, सम्यक् ज्ञान से उसका सादृश्य आदि हुआ करता है।

आत्मानमनभ्युपगच्छता···शक्यम्—यदि बुद्ध आत्मा को नहीं मानते तो उनके दर्शन का सप्रयोजन (सार्थक) होना सिद्ध नहीं होता।

अभिसमयसूत्रे—अभिसमयसूत्र को बुद्ध वचन माना जाता है, वहाँ कहा गया है कि रूपादि स्कन्ध भार हैं और पुद्गल भारहार है।

राश्यन्तरव्यवच्छेद०—'अजातत्वात्' यह हेतु तो आत्मा के जन्म का प्रतिषेध करता है।

---

1. नात्मेति ब्रुवाणः, पा०

न्यायवार्त्तिकम्

जन्मनः प्रतिषेधं करोति, नास्य जन्म विद्यत[1] इति। तदिदमजातमित्यात्मनः प्रतिषेधो न भवति यथा 'अनुदकः कमण्डलुः' इति। अथायं भावप्रतिषेध एवाजातमिति? तथापि प्रतिज्ञाहेत्वोरेकत्वम्। अजातमिति चायं धर्मः, न च धर्मः स्वतन्त्रो युक्तोऽन्यत्र समवायात्। यत्तन्त्रोयं धर्मः स आत्मेति विरुद्धः। अथ धर्मोऽस्ति न धर्मीति? तथाप्यनिवृत्तो व्याघातः स्वतन्त्रस्य धर्मस्यादर्शनात्। कश्चायमर्थोऽजातत्वादिति? यदि तावदयमर्थो नास्य जन्मेति ततोऽसिद्धम्[2], जन्मवानात्मा। किं पुनरात्मनो जन्म? निकायविशिष्टाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरपूर्वाभिरभिसम्बन्धः। अथाजातत्वमकारणकत्वम्? तथा न कश्चिद्[3] बाध्यते, विरुद्धश्च हेतुरकारणकस्य नित्यत्वात्—असत्त्वं साधयतो नित्यतामापाद्यत इति विरुद्धो हेतुः।

प्रतिषेध करता है, इसका जन्म नहीं होता (वह अजात है)। उसप्रकार 'अजात' इससे आत्मा का प्रतिषेध नहीं होता; जैसे कमण्डलु जलरहित है (इस कथन से कमण्डलु का प्रतिषेध नहीं होता)। (शङ्का) यदि यह 'अजात' (आत्मा की) सत्ता का ही प्रतिषेध करता है (समाधान) तो भी प्रतिज्ञा तथा हेतु की एकता (अभेद) होता है। और 'अजातम्' यह धर्म है तथा धर्म समवाय के विना (अन्यत्र) स्वतन्त्र रूप से होना युक्त नहीं। यह धर्म जिसके अधीन है वह आत्मा है अतः यह विरुद्ध (हेत्वाभास) है। (शङ्का) यदि धर्म है धर्मी नहीं [समाधान] तो भी व्याघात निवृत्त नहीं होता। (कहीं भी) धर्म स्वतन्त्र (धर्मी के विना) नहीं देखा जाता। किञ्च, इसका क्या अर्थ है 'अजातत्वात्'। यदि यह अर्थ है कि इसका जन्म नहीं होता तब तो यह असिद्ध है आत्मा का जन्म होता है। किन्तु आत्मा का जन्म क्या है? संघात से विशिष्ट अपूर्व शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि (मन) तथा वेदना से सम्बन्ध होना। (शङ्का) यदि 'अजातत्व' का अभिप्राय है कारण रहित होना। (समाधान) तो कोई हानि नहीं; किन्तु हेतु विरुद्ध है कारण रहित के नित्य होने से—अभाव सिद्ध करते हुए नित्यता प्राप्त करा (सिद्ध कर) दी जाती है, अतः हेतु विरुद्ध है।

भावप्रतिषेध एव—यह केवल जन्म का प्रतिषेध नहीं अपितु आत्मा की सत्ता का प्रतिषेध है।

निकायविशिष्टाभिः—देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि का जो शरीरादि का संघात है वही निकाय है, संस्थान है।

न कश्चिद् बाध्यते—नित्यता सिद्ध हो जाती है जो नैयायिक को इष्ट ही है। यही हेतु की विरुद्धता है।

---

1. जन्मप्रतिषेध इति, पा०। 2. तदाऽसिद्धम्, पा०। 3. किञ्चिद्, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

प्रतिज्ञाहेत्वोश्च विरोधः—प्रतिज्ञायाः विषयो 'नास्त्यात्मेति' हेतोर्विषय आत्यन्तिकसत्ताऽसम्बन्धः। तावेतौ प्रतिज्ञाहेतू [1]सदसद्विषयत्वाद् विरुद्धौ। एतेन निर्हेतुकत्वाज्जन्महेत्वनुपादानाद् अकार्यत्वादकारणत्वादित्येवमादयस्तुल्यदोषा इति प्रत्युक्ताः।

यदपीदमुच्यते शशविषाणवदिति, अयमप्यसिद्धो दृष्टान्तः। कथमिति ? शशविषाणशब्दस्य सम्बन्धविषयत्वात्, सम्बन्धप्रतिषेधो न विषाणप्रतिषेधः। शशविषाणसम्बन्धमुदाहरणं भविष्यतीति ? सोऽपि न युक्तः, कदाचिद्विषाणेन शशस्य सम्बन्धोपपत्तेः। लोकविरोध इति चेत्—अथ मन्यसे यदि शशे विषाणमस्ति, ननु लोको विरुद्धयते' इति। न विरुद्धयते, कार्यकारणभावप्रतिषेधद्वारेण लौकिकप्रवृत्तेः—लोकस्तावत् कार्यं कारणं वा शशस्य विषाण नास्तीत्येव प्रतिषेधति; यथा गोर्विषाणस्य च कार्य-

---

प्रतिज्ञा तथा हेतु का भी विरोध है—प्रतिज्ञा का विषय है कि आत्मा नहीं है, हेतु का विषय है (जन्म की) सत्ता से आत्यन्तिक सम्बन्ध का अभाव। वे ये (दोनों) प्रतिज्ञा तथा हेतु सत् तथा असत् के विषय में होने के कारण विरुद्ध हैं। इस (कथन) से हेतु रहित होने के कारण 'जन्म का हेतु न देने के कारण' कार्य न होने से तथा कारण न होने से इत्यादि 'अजातत्वात्' के तात्पर्य हैं। इनका भी निराकरण हो गया; क्योंकि ये भी समान दोष वाले हैं।

जो यह कहा जाता है 'शशविषाण के समान'। यह दृष्टान्त भी असिद्ध है। कैसे ? शशविषाण शब्द के सम्बन्धविषयक होने से, यह सम्बन्ध का प्रतिषेध है, विषाण (सींग) का प्रतिषेध नहीं। (शङ्का) शश और विषाण का सम्बन्ध उदाहरण हो जायेगा। (समाधान) वह भी युक्त नहीं, कभी विषाण का शश से सम्बन्ध बन सकने से। यदि इसमें लोक का विरोध है—यदि मानते हो कि शश में विषाण है तो लोक का विरोध है। (समाधान) विरोध नहीं है, लोक की प्रवृत्ति कार्यकारणभाव के प्रतिषेध द्वारा हो जाती है— लोक तो शश का विषाण नहीं, यहाँ कार्य अथवा कारण नहीं, यह प्रतिषेध करता है। जैसे गौ तथा विषाण का कार्यकारणभाव होता है।

प्रतिज्ञाहेत्वोश्च—प्रतिज्ञा तथा हेतु का विरोध है। प्रतिज्ञा में आत्मा का अभाव सिद्ध किया गया है और हेतु में नित्यता सिद्ध की जा रही है, अजातत्वात्=जन्म न होने से।

सदसद्विषयत्वम्—सत्=नित्यता, असत्=अभाव। प्रतिज्ञा अभाव के विषय में है और हेतु से नित्यता सिद्ध की जा रही है।

शशविषाणशब्दस्य—शशस्य विषाणम्=शशविषाणम्, इसप्रकार यह शब्द सम्बन्ध के विषय में होता है।

कार्यं कारणं वा—यदि विषाण कारण है तो केश, नख आदि के समान यह शरीर का आरम्भक नहीं, यदि यह कार्य है तो शरीर से उत्पन्न होगा, अतः विषाण शरीर का कारण या कार्य नहीं।

---

१. असत्सद्विषयत्वाद्, प्रकाशितपुस्तके पाठः।

न्यायवार्त्तिकम्

कारणभावो न चैवं शशस्य विषाणस्य च कार्यकारणभावः। न च कार्यकारणभावप्रतिषेधादसत्त्वम्—न हि यद्यस्य न कार्यं[1] न कारणं तन्नास्ति, यथा देवदत्तस्य घट इति। इदं च शशविषाणं नास्तीति ब्रुवाणः प्रष्टव्यः किमयं सामान्यप्रतिषेधोऽथ विशेषप्रतिषेध इति। यदि सामान्यप्रतिषेधः, तन्न युक्तमशक्यत्वात्। 'शशस्य विषाणं नास्ति' इति गवादिविषाणान्यपि शशस्य न सन्तीति प्राप्तम्। एतच्चाशक्यम्। न हि तानि न सन्ति। अथ विशेषप्रतिषेधः किञ्चिद्विषाणं शशस्य प्रतिषिध्यते यस्य शशो न कार्यम्, तच्च[2] शशस्य न कारणमिति। सोऽयं कार्यकारणसम्बन्ध एव प्रतिषिध्यते। कार्यकारणसम्बन्धश्चान्यत्र दृष्ट इह प्रतिषिध्यते इति नात्यन्तासत्त्वप्रतिपादने दृष्टान्तो भवति एतेन खपुष्पाद्यसत्त्वं व्याख्यातं वेदितव्यम्।

इसप्रकार शश और विषाण का कार्यकारणभाव नहीं, और कार्यकारणभाव के प्रतिषेध से अभाव नहीं होता—वस्तुतः जो किसी का कार्य नहीं या कारण नहीं, वह नहीं है ऐसा नहीं होता; जैसे देवदत्त का घट (न कार्य है, न कारण किन्तु वह नहीं है, ऐसा नहीं)। शशविषाण नहीं है, ऐसा कहने वाले से यह पूछना है कि क्या यह सामान्य का प्रतिषेध है अथवा विशेष का प्रतिषेध। यदि सामान्य का प्रतिषेध है वह ठीक नहीं, क्योंकि वह (सामान्य का प्रतिषेध) किया नहीं जा सकता, शश के विषाण नहीं इसका अभिप्राय है (कि विषाण शश से सम्बन्ध नहीं रखता फिर तो) गो आदि के विषाण भी शश से सम्बन्ध नहीं रखते, यह प्राप्त होता है, यह कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः वे (सम्बन्धी) नहीं हैं, ऐसा नहीं। यदि विशेष का प्रतिषेध है तो किसी शश के विषाण का प्रतिषेध किया जाता है, जिसका कार्य नहीं और जो शश का कारण नहीं। वह यह कार्यकारण सम्बन्ध का ही प्रतिषेध किया जाता है, जो कार्यकारणसम्बन्ध अन्यत्र देखा गया है उसका यहाँ प्रतिषेध किया जाता है; अतः अत्यन्त अभाव के प्रतिपादन में यह दृष्टान्त नहीं है। इस (कथन) से आकाशकुसुम आदि के अभाव रूप होने की व्याख्या हो गई, यह जानना चाहिये।

यथा देवदत्तस्य घटः—घट न तो देवदत्त का कारण है न कार्य किन्तु उसका अभाव नहीं।

सामान्यप्रतिषेधः—शश के विषाण से सम्बन्ध का प्रतिषेध है। यदि सम्बन्ध का प्रतिषेध है तो गौ आदि के विषाण का भी शश से कोई सम्बन्ध न होगा।

विशेषप्रतिषेधः—कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध का प्रतिषेध है (द्र० टी० ५०१)।

अत्यन्तासत्त्वप्रतिपादने—यह दृष्टान्त अत्यन्ताभाव को नहीं बतला सकता।

खपुष्पाद्यसत्त्वम्—आकाशकुसुम के अभाव पर भी इसीप्रकार प्रश्न किये जा सकते हैं अतः आकाशकुसुम आदि भी दृष्टान्त नहीं। यहाँ 'आदि' (आद्य) शब्द से वन्ध्यापुत्र आदि का ग्रहण होगा।

---

1. यस्य यत्र कार्यं न कारणं, पा०। 2. यच्च, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

नास्त्यात्मानुपलब्धेरिति चेत् ? अत्रापि प्रतिज्ञादिदोषो दृष्टान्तदोषश्च पूर्ववत्। यदनुपलब्धेरिति तदप्ययुक्तम्। अनुपलब्धिरसिद्धा, प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वाद्[1] आत्मनः— प्रत्यक्षेण तावदात्मोपलभ्यते। कथम् ? लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यनपेक्षं विषयस्वभावभेदानुविधायि 'अहमितिविज्ञानम्[2], रूपादिज्ञानवत् प्रत्यक्षम्। यच्चापि भवान् मुक्तसंशयं प्रत्यक्षं प्रतिपद्यते तस्य कुतः प्रत्यक्षत्वमित्यवश्यं भवता विज्ञानमेव लिङ्गादिसम्बन्धनिरपेक्षं स्वात्मसंवेद्यं प्रतिपत्तव्यम्। अथ मन्यसे 'अस्त्ययमहं प्रत्ययो न पुनरस्यात्मा विषयः ? हन्त तर्हि निर्दिश्यतां विषयः। रूपादिर्विषय इति चेत्—अथ मन्यसे रूपादय एवाहङ्कारस्य विषयः, तथा चोक्तमहङ्कारालम्बनत्वेनोत्पत्तिनिमित्तत्वादात्मेत्युच्यते' इति। तन्न, असत्वात् प्रतिषेधाच्च—प्रतिषिद्धोऽहङ्कारो रूपादिषु 'रूपं नाहमेवमेतद् भिक्षो रूपं न त्वमिति। तस्माद्रूपादयः तावदहङ्कारस्य विषया न भवन्ति।

यदि (कहो) आत्मा नहीं है उपलब्ध न होने से ? यहाँ भी प्रतिज्ञा आदि का दोष तथा दृष्टान्त का दोष पहले के समान है। (आत्मा की) जो अनुपलब्धि से, यह कहा गया है वह अयुक्त है। उपलब्धि न होना असिद्ध है; आत्मा के प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय होने से—प्रथमतः आत्मा की उपलब्धि प्रत्यक्ष से होती है। (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर) लिङ्ग (व्याप्य धूम आदि) तथा लिङ्गी (व्यापक अग्नि आदि) के सम्बन्ध (व्याप्ति) और व्याप्ति-स्मृति की अपेक्षा न करने वाला, विषय के स्वरूप का अनुसरण करने वाला 'मैं हूँ' (अहमिति) ज्ञान रूपादि के ज्ञान के समान प्रत्यक्ष है। और जो आप संशयरहित प्रत्यक्ष मानते हैं वह प्रत्यक्ष क्यों है' इसलिये अवश्य ही आपको लिङ्ग आदि के सम्बन्ध की अपेक्षा न रखने वाले स्वात्मसंवेद्य ज्ञान को ही (प्रत्यक्ष) मानना होगा। (शङ्का) यदि मानते हो कि 'अहम्' अनुभव तो होता है; किन्तु इसका आत्मा विषय नहीं है। (समाधान) तब इसके विषय का निर्देश कीजिये। (शङ्का) यदि इसके विषय रूपादि हैं—यदि मानते हो 'अहंकार' के विषय रूपादि ही हैं जैसा कि कहा गया है (अहंकारालम्बनत्वेन) 'अहंकार आलम्बन वाला होने से तथा उत्पत्ति का निमित्त होने से (रूपादि ही) आत्मा कह दिया जाता है'। (समाधान) वह नहीं, न होने के कारण तथा प्रतिषेध कर दिये जाने के कारण—रूपादि में अहंकार का प्रतिषेध किया गया है 'हे भिक्षो, रूप मैं नहीं, रूप तुम नहीं' इसलिये रूपादि तो 'अहंकार' के विषय नहीं होते।

विषयस्वभावभेदानुविधायि—यहाँ विषय है आत्मा, उसका स्वभाव भेद है कर्तृत्व भोक्तृत्व (मैं जाता हूँ, मैं भोगता हूँ) आदि। 'अहं' यह मानस ज्ञान उसका अनुसरण करता है, टी० ५०१।
अहङ्कारालम्बनत्वेन—'अहम्' इस ज्ञान का आलम्बन होने से। यहाँ विषयी (ज्ञान) से विषय (आत्मा) को उपलक्षित किया गया है, टी० ५०१।

---

1. गोचरत्वाद्, पा० 2. ज्ञानम्, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

न चायमहङ्कारो रूपादिषु कदाचिदपि दृष्टः—न हि भवति कदाचिदहं रूपमहं वेदनादय इति। ननु भवत्यहं गौरोऽहं कृष्ण इति। न भवतीति ब्रूमः। कथम्? न ह्येतस्य द्रष्टुर्यदेतन्मम रूपं गौरमेतदहमिति प्रत्ययो भवति, केवलं मतुप्लोपं कृत्वाऽहं गौर इति षष्ठ्यर्थं निर्दिशति। एवमेतन्न तत्त्वत इति। कुत इति चेत्—अथ मन्यसे मतुप्लोपादयं षष्ठ्यर्थव्यपदेशो न तत्त्वत इति[1] को हेतुरिति? ममप्रत्ययसमानाधिकरणस्य निर्देशात्—यस्मिन्नर्थे ममप्रत्ययोऽस्य भवति तत्रैवायमहङ्कारोऽपीति ममप्रत्ययसामानाधिकरण्याद् गम्यते मतुप्लोप इति। ममप्रत्ययसमानाधिकरणश्चायमहं प्रत्ययोऽन्यत्वे दृष्टः, उपकारकत्वात्—उपकारके वस्तुनि ममप्रत्ययसमानाधिकरणोऽहंप्रत्ययो दृष्टः, 'योऽयं सोऽह'मिति।

और यह अहङ्कार रूपादि में कभी नहीं देखा गया—वस्तुतः कभी (ऐसा) नहीं होता कि मैं रूप हूँ, मैं वेदना हूँ इत्यादि। (पूर्वपक्ष की) शङ्का है, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, ऐसा तो होता है। (समाधान) नहीं होता हम तो यह कहते हैं। कैसे? वस्तुतः इस द्रष्टा को यह (ज्ञान) होता है कि जो मेरा रूप गोरा है वही मैं हूँ। वह केवल मतुप् का लोप करके 'मैं गोरा हूँ' इस षष्ठी (विभक्ति) के अर्थ का निर्देश कर देता है (मेरा रूप गोरा है इसके स्थान पर मैं गोरा हूँ यह कह देता है)। (शङ्का) यदि यह ऐसा है वस्तुतः 'मैं गोरा हूँ' ऐसा नहीं, यदि ऐसा क्यों (माना गया) है—यदि मानते हो कि मतुप् का लोप होने से यह षष्ठी के अर्थ का व्यपदेश होता है, वस्तुतः ऐसा नहीं। तो इसमें क्या हेतु है? (समाधान) मेरा (मम) इस ज्ञान के समानाधिकरण निर्देश के कारण—जिस पदार्थ में इस (व्यक्ति) को 'मम' (मेरा) यह ज्ञान होता है, वहीं यह अहङ्कार भी, अतः मम (मेरा) प्रतीति के समानाधिकरण होने से जाना जाता है (गम्यते) कि (यहाँ) मतुप् का लोप है। 'मम' (मेरा) प्रतीति के समानाधिकरण होने पर अहं की प्रतीति अन्य होने पर देखी गई है, उपकारक होने के कारण—उपकारक वस्तु में 'मम' (मेरी) प्रतीति की समानाधिकरण होने वाली 'अहं' प्रतीति देखी गई है जैसे 'जो यह है वह मैं हूँ'।

ननु भवत्यहं गौरः—यह पूर्वपक्षी का आक्षेप है।

न भवतीति ब्रूमः—यह परिहार है। भाव यह है कि हम व्यपदेशमात्र को रूपादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में हेतु नहीं कहते अपितु अनुभव को। शरीरादि जो यह (इदम्) के विषय हैं, 'अहम्' के नहीं किन्तु मम (मेरा) के विषय हैं उनमें 'अहम्' प्रतीति नहीं होगी (टी० ५०१)।

कुत इति चेत्—यह शङ्का है जो आगे स्पष्ट की गई है।

मम प्रत्यय०—जिससे मम (मेरा) ज्ञान होता है, उसमें ही 'अहम्' यह ज्ञान हो जाता है; जैसे उपकारी में जो यह है वही मैं हूँ, ऐसा ज्ञान हो जाता है।

---

१ इति इह, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

उक्तं चात्र रूपादिस्कन्धेष्वहंप्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति। तदेवमहंप्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत्प्रत्यक्षः, अनुमानेनापि यथात्मोपलभ्यते 'तथोक्तमिच्छादिसूत्रे' इति। आगमोऽप्यस्त्येव। तान्येतानि प्रमाणानि त्रीण्येकविषयतया प्रतिसन्धीयमानान्यात्मानं प्रतिपादयन्ति। न च प्रमाणान्तरं विप्रतिपत्तिहेतुरस्ति। तस्मादनुपलब्धेरित्यसिद्धो हेतुः।

सन्दिग्धश्चानुपलब्धेस्त्रिकारणत्वात्—अनुपलब्धिकारणानि त्रीणि उपलब्धोपलम्भनमुपलभ्यमिति। तत्रेयमनुपलब्धिर्भवन्ती कस्याभावादिति[1] सन्दिह्यते। यदि ब्रूषे 'उपलभ्यस्याभावादिति ?' नन्वयं प्रतिज्ञार्थ एव; न च प्रतिज्ञा प्रतिज्ञां साधयतीत्यनुपलब्धिरहेतुः। या चेयमनुपलब्धिरात्मासत्त्वप्रतिपादनायोपादीयते तस्याः क आश्रयः ? यद्यात्मानं प्रतिपद्यसे ? व्याहतं भवति 'आश्रयश्च नास्ति चेति'। अथानाश्रयः ? कः साधनार्थः, न ह्यनाश्रयो धर्मः साध्यं साधयितुं शक्नोति।

इस विषय में कह दिया गया है कि रूपादि स्कन्धों में जो 'अहं' प्रतीति होती है वह मिथ्या (अतस्मिंस्तदिति) प्रतीति है। तो इसप्रकार अहं प्रतीति का विषय होने से आत्मा प्रत्यक्ष तो है (ही) अनुमान से भी जैसे आत्मा की उपलब्धि होती है, यह इच्छादि सूत्र (न्या० सूत्र १.१.१०) में कहा जा चुका है। शब्द प्रमाण भी (इस विषय में) है ही। वे ये तीनों प्रमाण एक विषय में प्रतिसन्धान किये जाते हुए आत्मा की सिद्धि करते हैं और अन्य प्रमाण मतभेद का हेतु है नहीं, इसलिये उपलब्ध न होने से (आत्मा नहीं है) यह असिद्ध हेतु है।

(यह हेतु) सन्दिग्ध भी है, अनुपलब्धि के तीन कारण होने से—अनुपलब्धि के तीन कारण हैं—१. उपलब्ध, २. उपलब्धि और ३. उपलब्ध होने वाला। वहाँ यह अनुपलब्धि किसके अभाव से हो रही है, यह सन्देह है। यदि कहते हो उपलब्ध होने वाले के अभाव से हो रही है; किन्तु यह (तो) प्रतिज्ञा का अभिप्राय ही है और प्रतिज्ञा ही प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं करती अतः अनुपलब्धि (ठीक) हेतु नहीं। और जो यह अनुपलब्धि आत्मा का अभाव बतलाने के लिये दी जा रही है उसका आश्रय क्या है ? यदि आत्मा को (उसका आश्रय) मानते हो तो व्याघात होता है 'जो आश्रय है, वह नहीं है'। यदि आश्रयरहित है तो साधन का क्या प्रयोजन है। आश्रयरहित धर्म तो साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

तस्मादनुपलब्धेरित्यसिद्धो हेतुः—प्रत्यक्षादि से आत्मा की उपलब्धि होती है अतः 'अनुपलब्धेः' यह असिद्ध हेतु है।

सन्दिग्धश्च—यह हेतु सन्दिग्ध भी है। अनुपलब्धि के तीन कारण है, यह सन्देह होता है कि किससे यह अनुपलब्धि हो रही है।

कः साधनार्थः—हेतु का क्या प्रयोजन है जब 'प्रतिज्ञा' का अभिप्राय भी यही है। यहाँ टीका ५०२ है, कः साधनशब्दस्यार्थः (?)।

---

१. भावाद् भवन्तीति, पा०।

न्यायवार्तिकम्

अथानुपलब्धिरपि नास्ति ? कः साधनार्थोऽनुपलब्धेरिति । न ह्यसाधनं भवितुमर्हतीति । अथ कल्पितस्यानुपलब्धिर्धर्म इति ? कथं कल्पितस्येति वक्तव्यम्, किं सत्त्वेनाथासत्त्वेन ? यदि सत्त्वेन ? नानुपलब्धिस्तस्य धर्मः, न हि स्थाणोः पुरुषत्वेन कल्पितस्य स्थाणुधर्माः प्रत्यवभासन्ते । अथासत्त्वेन कल्पितस्यानुपलब्धिर्धर्मः ? सिध्यत्यनुपलब्धिधर्मो वृथा तु कल्पना । किं कारणम् ? कल्पनाया अतथाभावात्—कल्पना हि नाम तथाभावः, असत्त्वेन चात्मा कल्पित इत्यसत्त्वेन नास्ति, असत्त्वेन चेन्नास्ति वृथा कल्पना । किमर्थं चायमात्मा असत्त्वेन कल्प्यते ? यदि हेत्वर्थमुपपन्नो हेतुर्यदर्थमुपात्तः स पुनरर्थो न सिध्यति, न हि यः पुरुषे स्थाणुधर्मानध्यारोप्य हेतुत्वेनापदिशेत्[1] तस्यासौ स्थाणुः स्यादिति । तदेवमप्यनुपलब्धिरप्यहेतुः ।

यदि अनुपलब्धि भी नहीं है । तो 'अनुपलब्ध होने से' इस हेतु का क्या अर्थ है ? असत् तो साधन नहीं हो सकता (न ह्यसत् साधनं...) । यदि कल्पित (आत्मा) का अनुपलब्धि धर्म है ? तो कैसे कल्पित का यह कहना होगा । क्या सद् रूप से अथवा असद् रूप से ? यदि सद् रूप से (कल्पित का) तो उसका धर्म अनुपलब्धि नहीं, वस्तुतः पुरुष रूप से कल्पित स्थाणु के धर्म भासित नहीं होते । यदि असद् रूप से कल्पित (आत्मा) का अनुपलब्धि धर्म है तो अनुपलब्धि धर्म सिद्ध हो जाता है किन्तु कल्पना व्यर्थ है । क्या कारण है ? कल्पना के परमार्थ सत् न होने से—कल्पना परमार्थ सत् नहीं होती और असद् रूप से आत्मा की कल्पना की गई है, अतः वह असत् नहीं है, जब असत् नहीं है तो कल्पना व्यर्थ है और किसलिये आत्मा की असद् रूप में कल्पना की जाती है ? यदि हेतु के लिये तो हेतु बन गया किन्तु जिसके लिये हेतु दिया गया है वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वस्तुतः जो पुरुष में स्थाणु के धर्मों का आरोप करके हेतु रूप में कहे उसके मत में यह (पुरुष) स्थाणु न होगा । तो इसप्रकार अनुपलब्धि भी हेतु नहीं ।

न ह्यसाधनं भवितुमर्हतीति—न ह्यसत् साधनं भवितुमर्हतीति, इति पाठ्यम् द्र० म० म० गङ्गानाथ झा, पृ० १०८२ ।

अथ कल्पितस्य—अनुपलब्धि असत् नहीं अपितु अन्य तत्त्व में है, केवल उसका आश्रय कल्पित है, यदि ऐसी शङ्का हो तो समाधान है 'कथं कल्पितस्य' इत्यादि ।

यदर्थमुपात्तः—आत्मा नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये हेतु दिया गया है, वह इससे सिद्ध नहीं होता । यदि पुरुष में स्थाणु के धर्मों की कल्पना कर ली जाये तो वहाँ परमार्थसत् स्थाणुत्व नहीं सिद्ध किया जा सकता (द्र० टी० ५०२) ।

---

१. व्यपदिशेत्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

रूपादिस्कन्धवाचकशब्दविषयव्यतिरिक्तविषय आत्मशब्दः, रूपादिशब्देभ्योऽन्यत्वे सत्येकशब्दत्वाविति घटशब्दवदिति[1]। एतेनाहं प्रत्ययो व्याख्यातः। असिद्धो दृष्टान्त इति चेत्? अत्रोक्तम्—यथा गुणव्यतिरिक्तो गुणीति। तमः शब्दादिभिरनैकान्तिक इति चेत्—अथ मन्यसे, 'यथा रूपादिशब्देभ्योऽन्यत्वे सत्येकपदत्वे च तमःशब्दस्यार्थान्तराविषयत्वमेवमात्मशब्दस्यापि' इति। तन्न विरोधात्—तमःशब्दो निर्विषय इति ब्रुवाणः सिद्धान्तं बाधते। उपादायरूपत्वात्तमस इति। न चैतदस्माभिरभ्युपगम्यते तमःशब्दो निर्विषय इति। तमःशब्दस्य सविषयत्वे सूत्रव्याघातो 'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः' इति। न सूत्रार्थापरिज्ञानात् निराकृततेजःसम्बन्धीनि द्रव्यगुणकर्माणि तमःशब्देनाभिधीयन्ते तस्मान्न सूत्रव्याघातः।

(सिद्धान्ती-आत्मा की सिद्धि)

रूपादि स्कन्ध के वाचक शब्दों से भिन्न विषय में आत्मा शब्द होता है, रूपादि शब्दों से अन्य होकर एक शब्द होने से घट शब्द के समान। इस (कथन) से अहं प्रतीति की व्याख्या हो गई। यदि (कहो) दृष्टान्त असिद्ध है। [समाधान] इस विषय में कहा जा चुका है कि गुणों से भिन्न गुणी होता है। (शङ्का) यदि यह (कथन) तमस् आदि शब्दों से अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है—यदि मानते हो कि जैसे रूपादि शब्दों से अन्य होने पर और एक पद होने पर भी तमस् शब्द अन्य पदार्थ के विषय में नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा शब्द भी है। [समाधान] वह (ठीक) नहीं, विरोध होने से—तमस् शब्द का विषय नहीं है यह कहने वाला सिद्धान्त का बाध करता है 'उपादायरूपत्वात् तमसः' अर्थात् तमस् के उपादेय रूप वाला होने से (यह कहा गया है)। (शङ्का) हम यह नहीं मानते कि तमस् शब्द का कोई विषय नहीं है। (वस्तुतः) तमस् शब्द का विषय होने पर सूत्र का विरोध होता है, सूत्र (वै० ५.२.१९) है 'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् भाभावस्तमः' (द्रव्य, गुण तथा कर्म की सिद्धि न होने से अन्धकार ज्योति का अभाव है)। [समाधान] नहीं, सूत्र का अर्थ भली-भाँति न जानने से—(सूत्र का अर्थ है) तेजस् का अभाव होने वाले तमस् शब्द से तेजस् के सम्बन्धी द्रव्य, गुण तथा कर्म कहे जाते हैं इसलिये सूत्र का विरोध नहीं।

रूपादिशब्देभ्योऽन्यत्वे सत्येकशब्दत्वात्—इसका पञ्चकृत्य टीका में दिखलाया गया है टी० पृ० ५०२।

असिद्धो दृष्टान्तः—घटवत्, यह दृष्टान्त असिद्ध है। बौद्धमत में रूपादि ही एक क्रिया करने के कारण घटादि कहलाते हैं, रूपादि से भिन्न घट आदि नहीं।

उपादायरूपत्वात्—उपादेयरूपत्वात्, जैसे दाय शब्द से देय कहा जाता है उसीप्रकार यहाँ उपादाय शब्द से उपादेय कहा गया है।

सविषयत्वम्—सद्विषयत्वम्, ऐसा मानकर ही पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है।

सूत्रव्याघातः—वैशेषिक के सूत्र (५.२.१९) का विरोध होता है। वै० में 'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति वैधर्म्यात् अभावस्तमः' यह पाठ है।

---

1. घटादिवदिति, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

अपरे तु जीवच्छरीरं निरात्मकत्वेन पक्षयित्वा सत्त्वादित्येवमादिकं हेतुं ब्रुवते। तन्न, विकल्पानुपपत्तेः, निरात्मकमिति[1] कोऽर्थः ? यदि तावदात्मनोऽनुपकारकमिति, न दृष्टान्तोऽस्ति—न हि किञ्चिदात्मनोऽनुपकारकमस्ति । अथात्मप्रतिषेधः, आत्मा शरीरं न भवति ? कस्यात्मा शरीरम्, उत्तरपदविषयत्वाच्च निसः किं सात्मकमिति वाच्यम्—न ह्यसत्युत्तरपदे निसः प्रयोगं पश्यामः; यथा निर्मशकमिति । अथ शरीरे आत्मा प्रतिषिध्यते ? सिद्धं साधयति, कस्य वा शरीरे आत्मा विद्यते ? अथ शरीरमात्मसम्बन्धि न भवतीति पुनर्दृष्टान्तो नास्तीति, सर्वे चैते विशेषप्रतिषेधाः, विशेषप्रतिषेधाच्च सामान्यमभ्युपगम्यते[2]। एवं च सति यत् प्रतिषेद्धव्यं तदनुज्ञातं भवति ।

अथात्मशब्दोऽनित्यविषयो वर्णात्मकत्वात् । तथापि नित्यशब्देनानैकान्तिकम् शरीरादीनामात्मशब्दत्वात् सिद्धसाधनम् । अथ शरीरादिव्यतिरिक्तविषय आत्मशब्दोऽनित्यविषयः, तथापि शरीरादिव्यतिरिक्तविषयाभ्युपगमे विरोधः । तदेवं यथा यथा आत्मासत्त्वं विचार्यते तथा तथा न्यायं न सहते इति ।

दूसरे तो जीवित शरीर को निरात्मक रूप से पक्ष बनाकर 'सत्त्वात्' (जीवच्छरीरं निरात्मकं सत्त्वात्) यह हेतु कहते हैं। वह (ठीक) नहीं, विकल्प न बन सकने से—आत्मा रहित है (=निरात्मकम्) इसका क्या अर्थ है। यदि तो आत्मा का उपकारक नहीं है (यह अर्थ है) तो दृष्टान्त नहीं है। वस्तुतः कुछ भी आत्मा का अनुपकारक नहीं है। यदि आत्मा का प्रतिषेध (इसका अर्थ है) कि आत्मा शरीर नहीं होता। तो (प्रश्न है) (क) किसके मत में (कस्य) आत्मा शरीर हैं। (ख) और निस् (उपसर्ग) उत्तर पद के विषय में होता है अतः सात्मक (आत्मा सहित) क्या है ? यह कहना होगा—वस्तुतः उत्तर पद न होने पर निस् का प्रयोग हम नहीं देखते, जैसे निर्मशक (मच्छर रहित) वह उत्तर पद के साथ ही निस् का प्रयोग होता है। यदि शरीर में आत्मा का प्रतिषेध किया जाता है ? तो (आप) सिद्ध को ही सिद्ध करते हैं, अथवा किसके मत में शरीर में आत्मा है। यदि (कहो) कि शरीर आत्मा सम्बन्धी नहीं होता ? किन्तु इसमें दृष्टान्त नहीं है। और ये सब विशेष के प्रतिषेध हैं। किञ्च विशेष के प्रतिषेध से सामान्य की स्वीकृति हो जाती है। ऐसा होने पर जिसका प्रतिषेध करना हैं उसे स्वीकार लिया जाता है। यदि (कहो) आत्मन् शब्द अनित्यों के विषय में होता है, वर्णस्वरूप होने से, तथापि वह नित्य शब्द से अनैकान्तिक है (क्योंकि नित्य शब्द भी वर्णात्मक है) और शरीर आदि के लिये भी आत्मन् शब्द होने से वह सिद्ध साधन है। यदि शरीर आदि से भिन्न के विषय में आत्मन् शब्द अनित्यविषयक है तथापि शरीरादि से भिन्न विषय स्वीकारने से विरोध है। तब इस प्रकार ज्यों-ज्यों आत्मा के असत्त्व का विचार किया जाता है, त्यों-त्यों वह न्याय को नहीं सहन करता।

अपरेतु—ये दूसरे भी बौद्ध हैं किन्तु किस आचार्य का यह मत है, यह ज्ञात नहीं।

वर्णात्मकत्वात्—जो वर्णात्मक है, वह सब अनित्य होता है जैसे घटादिशब्द है (टी० ५०६)।

तथापि शरीरादिव्यतिरिक्त—बौद्ध का सिद्धान्त है कि पांच रूपादि स्कन्धों से भिन्न कुछ नहीं है (टी० ५०२)।

1. निरात्मकत्वमिति पा०। 2. सामान्यमधिगम्यते, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनादिवदिति । संघातान्तरार्था इति चेत् ?—अथ मन्यसे, सत्यं संघाताः परार्था भवन्ति, ते तु संघातान्तरार्थाः; यथा शयनादय इति ? न, संघातस्याभ्युपगमे विरोधात्—न हि रूपादिस्कन्धव्यतिरिक्तं संघातं भवन्तः प्रतिपद्यन्ते । न चासति संघातान्तरे संघातानां संघातान्तरार्थता भवति । अथ प्रतिपद्यते ? व्याहतं भवति । अनिष्टप्रसङ्ग इति चेत् ?—अथ मन्यसे, न मया संघातान्तरं प्रतिपद्यते, अपि त्वस्मिन हेतौ मतीदमनिष्टं भवति, परार्थस्य संघातान्तराविनाभावित्वात्—यायत्परार्थं भवति, तत्सर्वं दृष्टमिति । न, विरोधात्, अनभ्युपगमाच्च —न हि कश्चिद् व्यतिरिक्तात्मवादिनः संघातः संघातस्य परार्थं करोति, तदुभयपक्षे संप्रतिपन्नं नानिष्टापादनं दृष्टमिति ।

(सांख्य में पुरुष की सिद्धि के लिये युक्ति दी गई है) चक्षु आदि परार्थ (किसी दूसरे के लिये) संघात-भिन्न के लिये, (पुरुष के लिये) हैं, संघात होने से, शयन (विस्तर) तथा आसन के समान । (बौद्ध की शङ्का) यदि (कहो) अन्य संघात के लिये होंगे ? यदि मानते हो कि ठीक है 'संघात दूसरे के लिये होते है किन्तु वे अन्य संघात के लिये होंगे जैसे विस्तर और आसन आदि हैं । यह (ठीक) नहीं, अन्य संघात स्वीकारने पर (आप=बौद्ध के मत में) विरोध होने से—आप (बौद्ध) रूप आदि के स्कन्ध से भिन्न कोई संघात नहीं मानते । और वस्तुतः अन्य संघात के न होने पर ये संघात अन्य संघात के लिये नहीं हो सकते । यदि अन्य संघात मानते हो तो व्याघात होता है । (शङ्का) यदि अनिष्ट का प्रसङ्ग होता है, यदि मानते हो कि मेरे (बौद्ध के) द्वारा अन्य संघात तो नहीं माना जाता, अपितु (यह दिखलाया जाता है) इस हेतु के होने पर यह अनिष्ट होता है, दूसरे के लिये होना अन्य संघात का अविनाभावी होने से—जो दूसरे के लिये (परार्थ) होता है वह सभी दूसरे संघात के लिये (होता हुआ) देखा गया है । [समाधान] यह (ठीक) नहीं (क) विरोध होने के कारण (ख) स्वीकार न करने के कारण —वस्तुतः (शरीरादि से) भिन्न आत्मा को मानने वाले के मत में कोई संघात दूसरे संघात का उपकार (परार्थम्) नहीं करता ? वह दोनों पक्षों के स्वीकारने पर अनिष्ट का प्रसङ्ग नहीं देखा गया ।

संघातस्याभ्युपगमे विरोधात्—बौद्ध सभी वस्तुओं को रूपादि स्कन्ध रूप मानते है । यदि वे शयनासनादि संघात के लिये मानेंगे तो अन्य संघात मानना पड़ेगा । उसके मानने में विरोध है ।

अनिष्टप्रसङ्ग इति चेत्—शङ्का का आशय यह है कि एक संघात दूसरे संघात के लिये देखा जाता है । अतः जो शयनासनादिसंघात के लिये है वह भी संघात होगा । इसप्रकार आत्मा संघात रूप होगा ।

न्यायवार्त्तिम्

विरोधाच्च—यदि विवक्षितार्थव्यतिरेकेणानुमानस्याविवक्षितमपि विषयः, नन्वेतस्यां कल्पनायां सर्वमनुमानं व्याहन्येत। कथमिति ? यदिष्टमनुमानत्वेन तदपि नानुमानं प्राप्नोति, यथा शब्दानित्यत्वे कृतकत्वम्। किं कारणम् ? यथैवं कृतकत्वमनित्यत्वेनाविनाभूतमनित्यत्वं साधयति, एवं दुःखशून्यानात्मकत्वमपि[1] साधयति, दुःखशून्यानात्मकत्ववद्[2] अश्रोत्रग्राह्यत्वमपि साधयिष्यति। ततश्च न श्रोत्रग्राह्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति। अथानुमानेन बाध्यते अयं प्रतिज्ञार्थ इत्यतो न हेतुः ? नन्वयमपि संघातान्तरार्थश्चक्षुरादय इत्यागमेनानुमानेन च बाध्यते, यच्चापि भवान् संघातान्तरं प्रतिपद्यते, तत्राप्यनिवृत्तं संघातत्वमिति तेनापि संघातान्तरार्थं भवितव्यमिति, एवं चानवस्था। न चैनां शक्तः कश्चित् प्रतिपादयितुमिति। यत एषा निवर्ततेतदसंहतम्। अथासंहतं नैवास्ति ? असंहतानभ्युपगमे संघातानुपपत्तेर्व्याघातः—न हि कदाचिद् संहतप्रतिषेधे संघातः सिध्यति—

विरोध होने से भी—यदि विवक्षित अर्थ से भिन्न अनुमान का अविवक्षित (अर्थ) भी विषय होता है तो (ननु) इस कल्पना में सारा अनुमान नष्ट हो जायेगा। कैसे ? जो अनुमान के रूप में अभीष्ट है वह भी अनुमान न प्राप्त होगा, जैसे शब्द की अनित्यता (सिद्ध के करने) के लिये कृतकत्व (कार्य होना) (हेतु दिया जाता है या अनुमान है) क्या कारण है ? जिसप्रकार यह कृतकत्व अनित्यत्व का अविनाभावी है तथा अनित्यता को सिद्ध करता है, इसीप्रकार दुःखशून्यत्व अनात्मकत्व को भी सिद्ध करता है, दुःखशून्यत्व एवं अनात्मकत्व के समान अश्रोत्रग्राह्यत्व को भी सिद्ध करेगा। और तब शब्द श्रोत्रगाह्य (श्रवण का विषय) न होगा, कृतक होने से घट के समान। यदि (कहो) यह प्रतिज्ञा का अर्थ अनुमान से बाधित होता है अतः यह हेतु नहीं। फिर तो (ननु) यह भी आगम एवं अनुमान से बाधित हो जाता है कि चक्षु आदि अन्य संघात के लिये हैं। और आप जिसे अन्य संघात मानते हैं वहाँ भी संघातत्व निवृत्त नहीं हुआ अतः वह भी अन्य संघात के लिये होगा, और इस प्रकार अनवस्था होती है। किन्तु इस (अनवस्था) को कोई प्रतिपादित नहीं कर सकता। अतः जहाँ यह परम्परा (अनवस्था) निवृत्त होती है वह असंहत है (संघात रूप नहीं), असंहत न मानने पर संघात नहीं बनने से व्याघात होता है। असंहत का प्रतिषेध करने पर कभी संघात सिद्ध नहीं होता।

यदि विवक्षितार्थव्यतिरेकेण—अनुमाता का विवक्षित है कि शरीर इन्द्रिय आदि का संघात पदार्थ है, यदि अनुमान के द्वारा विवक्षित अर्थ से भिन्न अविवक्षित अर्थ भी गृहीत होता है तो सभी अनुमान का उच्छेद हो जायेगा।

अथानुमानेन बाध्यते—शब्द श्रोत्रग्राह्य नहीं, कृतक होने से, घट के समान, यह प्रतिज्ञा का अर्थ अन्य अनुमान से बाधित हो जाता है।

नन्वयमपि संघातान्तरार्थश्चक्षुरादयः—यह भी अन्य अनुमान से बाधित हो जाता है। किसी के असंहत हुए बिना संघात किसका होगा।

---

१. असंघाता, पा०। २. संघात प्रतिषेधे, पा०।

न्यायवार्तिकम्

अथानुमानं नैवास्तीति परः प्रतिपद्यते ? स कथं न प्रतिपद्यते' इति प्रष्टव्यः । यद्यनुमानबाधितत्वादनुमानं नास्ति । अतिन्यायोऽनुमानेन च बाध्यते, अनुमानं च नास्तीति । अतीन्द्रियार्थाधिगतिश्च कथम्—यद्यनुमान नास्ति कथमतीन्द्रियार्थाः गम्यते । आगमादतीन्द्रियार्थाधिगतिर्भविष्यतीति न युक्तम्, आगमव्यतिरिक्तविषयत्वात् – कस्माद् ? अनुमानस्यागमव्यतिरिक्तो विषयः ? यथा स्तनयित्नुशब्दस्य हेतौ, न हि तत्र प्रत्यक्षं नागम इति ।

तदेवमात्मास्तीति समधिगतम् । तस्मिन् व्यपदेशस्योभयथा सिद्धः संशयः । कः पुनरयं व्यपदेशः ? क्रियाकरणयोः कर्त्रा सम्बन्धाभिधानं व्यपदेशः—दर्शनं क्रिया, करणं चक्षुः, करणस्य क्रियायाः कर्त्रा सम्बन्धः 'चक्षुषा पश्यति' इति ।

यदि पूर्वपक्षी (पर=दूसरा) यह मानता है कि अनुमान ही नहीं है । वह अनुमान को क्यों नहीं स्वीकार करता यह पूछना होगा । (क) यदि अनुमान से बाधित होने के कारण अनुमान नहीं होता तो यह न्याय का अतिक्रमण (अति न्याय) है कि अनुमान से बाधित होता है, अतः अनुमान नहीं है । (ख) अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान कैसे होगा—यदि अनुमान नहीं है तो अतीन्द्रिय अर्थ कैसे जाना जाता है । आगम से अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान हो जायेगा, यह युक्त नहीं, आगम का भिन्न विषय होने के कारण—क्यों ? अनुमान का आगम से भिन्न विषय होता है, जैसे बादल के शब्द के हेतु (के ज्ञान) में । वहाँ न प्रत्यक्ष है न आगम ।

तो इस प्रकार आत्मा है यह निश्चित हो गया । उसमें व्यवहार (व्यपदेश) दोनों प्रकार सिद्ध होने से संशय होता है । (प्रश्न) किन्तु यह व्यपदेश क्या है ? (उत्तर) क्रिया तथा करण का कर्ता से सम्बन्ध—कथन व्यपदेश (कहलाता) है, (जैसे) देखना (दर्शन) क्रिया है, चक्षु: करण है, करण की क्रिया का कर्ता से सम्बन्ध दिखलाना 'चक्षु से देखता है' (यह व्यपदेश है) ।

अनुमानं च नास्तीति—यदि पूर्व पक्षी अनुमान को ही नहीं स्वीकार करता ।

अतीन्द्रियार्थाधिगतिश्च कथम्—अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है । अनुमान को माने बिना अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा ? आगम (शब्द) से तो सभी अतीन्द्रियार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

तदेवमात्मास्तीति समधिगतम्—इस प्रकार 'आत्मा है' यह जान लिया गया । उसके क्रियादिसम्बन्ध (व्यपदेश) में विप्रतिपत्ति है, उसकी सत्ता में नहीं ।

१. इन्द्रियार्थावगतिः कथम्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

स चायं व्यपदेशो द्वेधा भवति, अवयवेन समुदायस्य; यथा मूलैर्वृक्षस्तिष्ठतीत्यत्र, समुदायशब्देनावयवी वृक्षोऽभिधीयते' इति । एकदेशेन चैकदेशान्तराणाम्, यद्भिन्नजातीयैरारभ्यते, तत्र ह्येकदेशदर्शनादेकदेशान्तराणि प्रतिपद्यते । तत्रापि[1] च व्यपदेशः 'स्तम्भैः प्रासादो्ध्रियते' इति । अन्येन चान्यस्य व्यपदेशः परशुना व्रश्चतीति, परशुः करणं वृश्चतिः क्रिया, ताभ्यां कर्तुरभिसम्बन्धः 'परशुना वृश्चति' इति । अस्ति चायमिहापि व्यपदेशः 'चक्षुषा पश्यति' इति । किमन्येनान्यस्य व्यपदेशः अथवा अवयवेनाप्यवयविनः; अथैकदेशेनैकदेशान्तराणामिति ?

क्रियाकरणकर्मणां वा कर्त्रा सम्बन्धो व्यपदेशः, 'चक्षुषा वृक्षं पश्यति' इति । क्रियाकरणकर्मणां कर्त्रा सम्बन्धः, अस्ति चायमिहापि व्यपदेशः 'शरीरेण सुखदुःखमनुभवति' । तत्र न ज्ञायते किं तत्त्वमिति ?

और वह यह व्यपदेश (व्यवहार) दो प्रकार से होता है—क १ अवयव से समुदाय का, जैसे जडों से वृक्ष खड़ा है, यहाँ, समुदाय शब्द से अवयवी वृक्ष का कथन किया जाता है । क २. एकदेश (एक अङ्ग) । से अन्य अङ्गों का व्यपदेश होता है, जो भिन्न जाति वाले से बनता है (आरभ्यते) । वहां एकदेश (एक अङ्ग) को देखकर अन्य अङ्गों को जान मान लिया जाता है । और वहाँ भी व्यपदेश होता है जैसे 'खम्भों से प्रासाद (महल) धारण किया जाता है' । (ख) अन्य से अन्य का भी (च) व्यपदेश होता है, (जैसे) 'फरसे से काटता हैं' । यहाँ 'फरसा' करण है, काटना (वृश्चतिः) क्रिया है, उन दोनों से कर्ता का सम्बन्ध (दिखलाया जाता) है कि 'फरसे से काटता है' । और यहाँ भी व्यपदेश होता है कि 'चक्षु से देखता है । यह क्या अन्य से अन्य का व्यपदेश है, अथवा अवयव से अवयवी का (व्यपदेश है) वा एकदेश से (एक अङ्ग से) अन्य अङ्गों का (व्यपदेश है, वह सन्देह होता है) ।

अथवा क्रिया करण तथा कर्म का कर्ता से सम्बन्ध (दिखलाना) व्यपदेश है, जैसे "चक्षु से वृक्ष को देखता है ।" यहाँ (पश्यति=देखता है) करण (चक्षुषा=नेत्र के) तथा कर्म (वृक्षम्=वृक्ष को) का कर्ता (देखने वाला) से सम्बन्ध (दिखलाया गया) है । और यहाँ भी यह व्यपदेश होता है कि 'शरीर से सुख दुःख का अनुभव करता है ।' उसमे यह नहीं ज्ञान होता कि क्या तत्त्व (वास्तविकता) है ।

व्यपदेशः—कथन, व्यवहार । यह दो प्रकार से होता है; १. अवयव से अवयवी का, जैसे जड़ों, से वृक्ष खड़ा है, २. एक अङ्ग से अन्य अङ्गों का जैसे खम्भों से महल (प्रासाद) खड़ा है। कहीं-कहीं अन्य से अन्य का व्यपदेश होता है जैसे परशु से लकड़ी काटता है । वार्त्तिककार ने क्रिया, करण तथा कर्म का कर्ता से सम्बन्ध दिखलाना व्यपदेश है, ऐसा बतलाया है । यह व्यपदेश यहाँ भी होता है, अतः संशय है।

एकदेशेन—यह दिखलाते हुए वार्त्तिककार को यह अभिमत है कि गृह, प्रासाद आदि अवयवी नहीं, क्योंकि इनके आरम्भक विजातीय पदार्थ हैं (टी० ५०४) ।

---

[1] तदापि, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः। कस्मात् ?

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् । ३।१।१।।

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते—'यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि' इति, 'यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि' इति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते । न च संघातकर्तृकौ नेन्द्रियेणैककर्तृकौ । तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य गृहीताभिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति सोऽर्थान्तरभूत आत्मा ।

न्यायवार्त्तिकम्

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेश इति तत्त्वम् । कथम् ? दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् । दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः, स्पृशत्यनेनात्मा[1] स्प्रष्टव्यमर्थमिति—

अन्य से यह अन्य का व्यपदेश है (यह तत्त्व है)। क्यों ?

दर्शन तथा स्पर्शन से एक विषय (अर्थ) का ग्रहण होने से। ३।१।१।

दर्शन से कोई विषय गृहीत होता है, स्पर्शन से भी वही विषय गृहीत होता है। "जिसे मैंने चक्षु से देखा था उसको स्पर्शन (त्वक्) से भी स्पर्श करता हूँ।" "जिसे मैंने स्पर्शन से छुआ उसे चक्षु से देखता हूँ"। ये दोनों (दर्शन तथा स्पर्शन ज्ञान एक विषय में होते हैं तथा एक (ही) कर्ता द्वारा किये जाते हैं। ये संघात के द्वारा किये गये नहीं, न इन्द्रिय रूप एक कर्ता के द्वारा किये गये हैं। अतः जो यहाँ चक्षु से तथा त्वग् इन्द्रिय से एक विषय का ग्रहण करने वाला है, जो भिन्न (चक्षु तथा त्वक्) निमित्त वाले किन्तु एक कर्ता के ज्ञानों का समान विषय में प्रतिसन्धान करता है, वह (इन्द्रिय आदि स) भिन्न आत्मा है।

अन्य से यह अन्य का व्यपदेश है, वह वास्तविकता है । कैसे ? दर्शन स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् (यह सूत्र है)। इससे देखा जाता है, यह दर्शन है, चक्षुः। स्पर्श करने योग विषय को जिससे आत्मा स्पर्श करता है, वह स्पर्शन है,

---

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः—भाष्यकार का निर्णय है कि यहाँ अन्य से अन्य का व्यपदेश होता है।

दर्शनस्पर्शनाभ्याम्—वृत्तिकार विश्वनाथ ने बतलाया है—दर्शनस्पर्शने ज्ञानविशेषौ, तृतीया च प्रकारे। तेन चाक्षुष स्पार्शनोभयवत्त्वेनैकस्य धर्मिणः प्रतिसन्धानादित्यर्थः; अर्थात् दर्शनस्पर्शन ज्ञान-विशेष है। (चक्षु स होने वाला ज्ञान दर्शन है और त्वक् से होने वाला ज्ञान स्पर्शन है)। उस दर्शन तथा स्पर्शन से एक ही धर्मी (ज्ञान वाला) के होने का प्रतिसन्धान होता है।

वार्तिककार ने दर्शन=चक्षु और स्पर्शन=त्वक् किया है (द्र० ऊपर)। यद्यपि तात्पर्य में दोनों का भेद नहीं तथापि शब्दों में भेद है ही।

प्रतिसंधानं च नाम—यहाँ प्रतिसन्धान का अभिप्राय दिखलाया गया है :

---

[1] स्प्रष्टव्यमिति, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

स्पर्शनं त्वगिन्द्रियमुच्यते। दर्शनेन दृष्टमर्थं स्पर्शनेन प्रत्यभिजानाति 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि, यमस्प्राक्षं तं पश्यामि' इति। एकविषयावेतौ प्रत्ययौ प्रतिसन्धीयेते, प्रतिसन्धानं च नाम स्मृत्या सहैकविषयत्वम्। दर्शनस्पर्शनप्रत्यययोर्घटादिविषयत्वादसम्बन्ध इति चेत्—अथ मन्यसे यावेतौ दर्शनस्पर्शनप्रत्ययौ तौ घटादिविषयौ न व्यतिरेकमात्मनो व्यधिकरणत्वादगमयत इति ? न सूत्रार्थापरिज्ञानात्—दर्शनस्पर्शनप्रत्ययावेककर्तृकाविति सूत्रार्थः। यदि चानुषक्तं गुणव्यतिरेकमप्येकविषयत्वेन साधयति न कश्चिद्दोषः। गुणव्यतिरेकोऽसिद्ध इति चेत् ? उक्तमेतद्, यथा 'गुणव्यतिरिक्तो गुणी इति। कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानमिति चेत् ? उक्तोत्तरमेतद् इच्छादिसूत्रे' इति। अकार्यकारणभूतानां च प्रतिसन्धानेऽनेकान्तः (१)।

त्वक् इन्द्रिय कहा जाता है। चक्षु (दर्शन) से देखे गये विषय को त्वक् इन्द्रिय से पहचानता है (प्रत्यभिजानाति) 'जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ। जिसका स्पर्श किया था उसे देखता हूँ।' एक विषय में होने वाले ये दो ज्ञान पहचाने जाते हैं (प्रतिसन्धीयेते)। प्रतिसन्धान का अभिप्राय है स्मृति के साथ एक विषय में होने वाला (ज्ञान)। (शङ्का) यदि दर्शन और स्पर्शन ज्ञान के घटादि विषयक होने से उनका (आत्मा की एकता से) सम्बन्ध नहीं—यदि मानते हो कि जो ये दर्शन और स्पर्शन ज्ञान हैं ये घटादि के विषय में हैं, वे भिन्न अधिकरण में होने के कारण आत्मा का (इन्द्रियों से) भेद नहीं सिद्ध करते—[समाधान] ठीक नहीं, सूत्र का अर्थ न जानने से—सूत्र का अर्थ है कि दर्शन और स्पर्शन ज्ञान एक ही कर्ता द्वारा किये जाते हैं। यदि यह आनुषङ्गिक गुणों से (गुणों का) भेद भी एक विषय में होने से सिद्ध कर देता है तो कोई दोष नहीं। (शङ्का) यदि गुणों से (गुणी का) भेद असिद्ध है ? [समाधान] यह कहा जा चुका है कि गुणी से भिन्न गुणी होता है। (शङ्का) यदि कार्यकारण भाव से प्रतिसन्धान हो जाता है ? [समाधान) इसका उत्तर इच्छादि सूत्र (१·१·१०) में दिया जा चुका है। किञ्च, जिनमें कार्यकारण भाव नहीं होता उनमें भी प्रतिसन्धान होने से यह (कथन) सव्यभिचार है।

अथ मन्यसे—पूर्वपक्ष की शङ्का है कि दर्शन और स्पर्शन तो विषय से सम्बन्ध रखते हैं। वे ज्ञान आत्मा से भिन्न आधार में होते हैं फिर ये आत्मा को शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न कैसे सिद्ध करते हैं ?
न सूत्रार्थापरिज्ञानात्—यह ऊपर की शङ्का का समाधान है। सूत्र का अर्थ है कि दर्शन और स्पर्शन दोनों एक कर्ता द्वारा किये जाते हैं।
चानुषक्तम्— यहाँ गुण तथा गुणी का भेद अनुषक्त है, अविनाभावी है। उसकी सिद्धि हो जाती है।
अकार्यकारणभूतानां च—जो कार्य तथा कारण नहीं उनमें भी प्रतिसन्धान होता है, जैसे कालाक्षी गौ को देखकर स्वस्तिमती में प्रतिसन्धान होता है।

---

२. प्रतिसन्धानेनानेकान्तः, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

भावस्य भवित्रपेक्षत्वाद् वेति सूत्रार्थः—दृष्टिर्दर्शनम्, स्पृष्टिः स्पर्शनमिति, भावरूपावेतौ प्रत्ययौ भवितारं प्रतिपादयतः। न हि भावमनाधारं पश्यामः। 'उत्पत्तिवत् कर्माधारो भविष्यति' इति न युक्तम्। कर्मण्यसति दर्शनात्—असत्यपि कर्मणि स्मृतेर्भावो भवति' इति। न च विनष्टं कर्म भावस्याधारो युक्तः, ततो यदाधारो भावः स आत्मा। दर्शनस्पर्शनग्रहणयो रूपादिविषयत्वान्न घटादिविषयत्वम्? न, रूप (स्प) र्शानुपलब्धौ तद्विशिष्ट प्रत्ययदर्शनात्—यदाऽयमनुपलभ्यमान रूपादिकं वस्तूपलभते तदाऽस्य तद्विशिष्टः प्रत्यय उपजायते; यथा नीलाद्युपरिस्थितस्फटिके प्रत्ययो, रूपाद्यनुपलब्धौ भवति, रात्रौ च बलाकायां शुक्लादि रूपाग्रहणात् पक्षिप्रत्ययः। तस्माद्रूपस्पर्शव्यतिरिक्ते घटप्रत्ययः। प्रतिसन्धानाच्च व्यतिरिक्तनिमित्तत्वम्—न हि नाना विषयौ प्रत्ययौ प्रतिसन्धीयेते। अस्ति च प्रतिसन्धानं 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' इति। 'यमस्प्राक्षं तं पश्यामि' इति। तस्मादेकविषयत्वम्।

अथवा सूत्र का अर्थ है कि क्रिया (भाव) कर्ता की अपेक्षा रखती है—दर्शन का अर्थ है दृष्टि, स्पर्शन का अर्थ है स्पृष्टि (स्पर्श करना)। ये दोनों क्रिया के रूप में हैं अतः कर्ता का बोध कराते हैं। वस्तुतः क्रिया को बिना आधार के हम नहीं देखते। (शङ्का) यदि उत्पत्ति के समान कर्म (ही) इसका आधार होगा? (समाधान) ठीक नहीं। कर्म के न होने पर भी (क्रिया का) दर्शन होने से—कर्म न होने पर भी स्मृति की क्रिया होती है तथा नष्ट हुआ कर्म तो (स्मृति रूप) क्रिया का आधार होना ठीक नहीं। अतः जिसके आधार पर क्रिया (स्मृति) है वह आत्मा है। (आक्षेप) दर्शन और स्पर्शन ज्ञानों के विषय रूप आदि हैं इनके विषय घटादि नहीं है? [परिहार] नहीं, रूप और स्पर्श की अनुपलब्धि होने पर (भी) उनसे विशिष्ट ज्ञान देखा जाने से—जब यह (व्यक्ति) जिस (वस्तु) का रूप आदि उपलब्ध नहीं होता ऐसी वस्तु को उपलब्ध करता है तब (भी) इसे उस (रूपादि से) विशिष्ट ज्ञान होता है, जैसे रूपादि के अनुपलब्ध होने पर स्फटिक के ऊपर नील स्थित है, यह ज्ञान हो जाता है और रात्रि में बलाका के शुक्ल आदि रूप का ग्रहण नहीं होता किन्तु पक्षी (बलाका) का ज्ञान हो जाता है। इसलिये रूप तथा स्पर्श से भिन्न घटप्रतीति होती है। प्रतिसन्धान के कारण भी इसका भिन्न निमित्त है—भिन्न विषय वाली प्रतीतियों का प्रतिसन्धान नहीं होता। किन्तु (च) यहाँ प्रतिसन्धान है कि 'जिसे मैंने देखा था उसका स्पर्श करता हूँ, जिसका स्पर्श किया था उसको देखता हूँ। इसलिये इस प्रतिसन्धान का एक विषय है।

भावस्य—भाव अर्थ है क्रिया, भवितृ का अर्थ है, कर्ता। दर्शन और स्पर्शन दोनों भाव है इन्हें भवितृ की अपेक्षा होती है। कोई क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती।

उत्पत्तिवत् कर्माधारो भविष्यति?—इस शङ्का का अभिप्राय है 'जिसे उत्पन्न किया जाता है उसकी ही क्रिया होती है, कर्म ही क्रिया का आधार होता है। इसी प्रकार स्मृति का आधार भी कर्म ही होगा। इसका समाधान 'कर्मण्यसति दर्शनात्' में किया गया है।

न्यायभाष्यम्

कथं पुनर्नेन्द्रियेणैककर्तृकौ ? इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति, नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति । कथं न संघातकर्तृकौ ? एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ प्रत्ययौ प्रतिसंहितौ वेदयते न संघातः कस्मात् ? अनिवृत्तं हि संघाते प्रत्येकं विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसंधानमिन्द्रियान्तरेणैवेति । ४।१।१॥

न्यायवार्त्तिकम्

संघातकर्तृकौ दर्शनस्पर्शनविषयौ प्रत्ययौ भविष्यत इति न युक्तम्, संघातस्य नानात्वाबाधनात्—संघातः संहन्यमानतन्त्रो भवति' इति संहन्यमानं चानेकम् । अनेकं च प्रतिसन्धानकारणं न युक्तम् नानाकर्तृकाणां नानाविषयाणां च प्रत्ययानामप्रतिसन्धानात् । एकेन्द्रियप्रत्ययाविति चेत्—अथ मन्यसे, यदेवेन्द्रियं दर्शनप्रत्ययस्य कारणं तदेव स्पर्शनप्रत्ययस्यापीति ? तन्न, अविषयत्वात्—चक्षुः खलु स्वविषय प्रतिसन्धातुमर्हति' इति यमद्राक्षं स एवायमर्थ इति, न पुनः स्पर्शमिन्द्रियान्तरविषयत्वाद्' सति । इन्द्रियान्तरवैयर्थ्यं वा—एकैकमेवेन्द्रियमनेकविषयग्रहण प्रतिसन्धत्ते इन्द्रियान्तरोत्पादो व्यर्थः । ३।१।१॥

(प्रश्न) किन्तु (ये ज्ञान) इन्द्रिय नामक एक कर्ता के क्यों नहीं हैं ? (उत्तर) वस्तुतः इन्द्रिय तो अपने-अपने विषय के ज्ञान का, जो दूसरे (कर्ता) का किया हुआ नहीं, प्रतिसन्धान कर सकती है, अन्य इन्द्रिय के अन्य विषय के ज्ञान का नहीं । (प्रश्न) ये ज्ञान संघात (समुदाय) के किये हुए क्यों नहीं ? (उत्तर) वस्तुतः यह एक (व्यक्ति) भिन्न निमित्त वाले अपने द्वारा किये गये (चाक्षुष तथा स्पार्शन) ज्ञान का प्रतिसन्धान करता है, संघात नहीं, क्यों ? संघात में (भी) अन्य इन्द्रिय के समान किसी एक (कइन्द्रिय) का अन्य विषय के ज्ञान का प्रतिसन्धान अन्य इन्द्रिय से होना निवृत्त नहीं होता ।

दर्शन और स्पर्शन विषय की प्रतीति संघात (रूप) कर्ता को होगी, यह भी युक्त नहीं, संघात की भिन्नता का बाध न होने से—सघात (समुदाय) समुदायियों के अधीन होता है, और समुदायी अनेक हैं । अनेकों का प्रतिसन्धान का कारण होना युक्त नहीं, क्योंकि अनेक कर्ताओं के अनेकविषयक ज्ञानों का प्रतिसन्धान नहीं होता । (शङ्का) यदि (दोनों) एक इन्द्रिय की प्रतीति हैं—यदि मानना हो कि जो ही इन्द्रिय दर्शन प्रतीति का कारण है वही स्पर्शन प्रतीति का भी ? (समाधान) वह (ठीक) नहीं, विषय न होने से—वस्तुतः चक्षु अपने विषय का प्रतिसन्धान कर सकती है, 'जिसे मैंने देखा था वही यह पदार्थ है । वह स्पर्श का प्रतिसन्धान नहीं कर सकती, अन्य इन्द्रिय (त्वक्) का विषय होने से । अथवा अन्य इन्द्रिय व्यर्थ होगी—एक ही इन्द्रिय है जो अनेक विषयों के ज्ञान का प्रतिसन्धान करती है तब अन्य इन्द्रियों की उत्पत्ति व्यर्थ है । ३।१।१॥

नेन्द्रियेणैककर्तृकौ—ये दर्शन तथा स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा नहीं किये जाते; क्योंकि इन्द्रिय तो अपने अपने विषय का ग्रहण करती है ।

भिन्ननिमित्तौ—भिन्न-भिन्न निमित्त वाले, भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ इनकी निमित्त हैं ।

न सघातकर्तृकौ—ये संघात द्वारा भी नहीं किये जाते, संघात में भी इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न होना बना ही रहता है ।

एकमेवेन्द्रियम्—यदि एक इन्द्रिय मानी जाये तो अन्य इन्द्रियों की रचना व्यर्थ होगी ।

न विषयव्यवस्थानात् । ३।१।२।।

न देहादिसंघातादन्यश्चेतनः । कस्मात् ? विषयव्यवस्थानात्—व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि, चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते । यच्च यस्मिन् असति न भवति, सतिभवति, तस्य तदितिविज्ञायते, तस्माद्रूपग्रहणं चक्षुषः, चक्षू रूपं पश्यति । एवं घ्राणादिष्वपि' इति । तानीन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषयग्रहणाच्चेतनानि, इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात् । एवं सति किमन्येन चेतनेन ।

न्यायवार्त्तिकम्

न विषयव्यवस्थानात् । चेतनानीन्द्रियाणि विषयव्यवस्थानात्—विषयव्यवस्थानाद् इत्यस्यायमर्थः, करणविषयनियमादिति, सति चक्षुषि रूपग्रहणं भवत्यसति न भवति । यच्च यस्मिन् सति भवति, असति न भवति तस्य तत् । सति च चक्षुषि रूपग्रहणं भवति, तस्माद्रूपग्रहणं चक्षुषः । एवं शेषेष्वपि । एवं सति किमन्येम चेतनेनेति चेत् ?

(संघात से भिन्न आत्मा) नहीं (इन्द्रियों के) विषयों की व्यवस्था होने से । ३।१।१।।

देह आदि के संघात से अन्य चेतन (आत्मा) नहीं । कैसे ? विषयों की व्यवस्था होने से—इन्द्रियों के विषय नियत हैं; चक्षु के न होने पर रूप का ग्रहण नहीं होता । और जिसके न होने पर नहीं होता, होने पर होता है, वह उसका ही समझा जाता है, इसलिये रूप का ग्रहण चक्षु का (कार्य) है, चक्षु रूप को देखती है । इसीप्रकार घ्राण आदि के विषय मे भी है । वे ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के ग्रहण से चेतन हैं, क्योंकि इन्द्रियों के होने या न होने पर विषय-ग्रहण का होना या न होना होता है (तथा भावात्) । ऐसा होने पर अन्य चेतन (आत्मा) की क्या आवश्यकता है ।

न विषयव्यवस्थानात् (यह सूत्र है) इन्द्रियाँ चेतन हैं (इनके) विषयों की व्यवस्था (नियम) होने से—'विषयव्यवस्थानात्' इसका यह अर्थ है कि इन्द्रियों के विषय का नियम होने से, चक्षु के होने पर रूप का ग्रहण होता है उसके न होने पर नहीं होता। जो जिसके होने पर होता है, न होने पर नहीं होता वह उसका (विषय) है । तथा चक्षु के होने पर ही रूप का ग्रहण होता है । अतः रूप का ग्रहण चक्षु का (विषय) है । इसीप्रकार शेष इन्द्रियों में भी हो सकता है । ऐसा होने पर अन्य चेतन की क्या आवश्यकता है ?

न विषयव्यवस्थानात्—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है । शङ्का का आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय नियत हैं । इन्द्रियाँ चेतन हैं अतः अन्य चेतन के अनुमान की आवश्यकता नहीं ।

चक्षू रूपं पश्यति—यह अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध किया गया है । इसी प्रकार इन्द्रिय की चेतनता सिद्ध की गई हैं ।

एवं सति किमन्येन चेतनेन—यह पूर्वपक्ष का उपसंहार है । भाष्य की व्याख्या में यह कहा गया है । इसीप्रकार का भाष्य भी है ।

न्यायभाष्यम्

सन्दिग्धत्वादहेतुः—योऽयमिन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः, स किमयं चेतनत्वादाहोस्विच्चेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वादिति सन्दिह्यते । चेतनोपकरणत्वेऽपीन्द्रियाणां ग्रहणनिमित्ताद् भवितुमर्हति । ३।१।२॥

न्यायवार्त्तिकम्

न सन्दिग्धत्वाद् अहेतुः—आहो चेतनोपकरणत्वाद् इति सन्दिह्यते । चेतनोपकरणत्वेऽपि सतीन्द्रियाणाम् एतद्भवितुमर्हति; यथा प्रदीपस्य सद्भावे रूपग्रहणं भवति, असति न भवति, न च रूपग्रहणं प्रदीपस्य । विपर्ययप्रसाधकश्चायं हेतुर्विषयव्यवस्थानाद् इति । ३।१।२॥

सन्देह का विषय होने पर (सन्दिग्धत्वाद्) यह हेतु (ठीक) नहीं—जो यह इन्द्रियों के होने पर विषय का ग्रहण होना, न होने पर न होना (तथाभावः) । वह क्या यह (इन्द्रियों के) चेतन होने से है अथवा चेतन के साधनों के ग्रहण का निमित्त होने से है ? यह सन्देह होता है । (क्योंकि) चेतन (आत्मा) के साधन होने पर भी इन्द्रियों के ग्रहण का निमित्त होने पर (यह) हो सकता है । ३।१।२॥

सन्देह का विषय (सन्दिग्ध) होने से (ठीक) नहीं (अहेतुः)—क्या यह इन्द्रियों के विषय का नियम चेतन होने से है अथवा चेतन का साधन होने से है, यह सन्देह होता है । (इन्द्रियों के) चेतन के (ग्रहण का) साधन होने पर भी इन्द्रियों का यह हो सकता है, जैसे प्रदीप के होने पर रूप का ग्रहण होता है, उसके न होने पर नहीं होता, किन्तु (च) रूप का ग्रहण प्रदीप का विषय नहीं । किञ्च, 'विषयव्यवस्थानात्' यह हेतु विपरीत (संघात से भिन्न चेतन) का साधक है । ३।१।२॥

सन्दिग्धत्वादहेतुः—यह सिद्धान्त भाष्य है । अन्वयव्यतिरेक तो कारण मात्र में प्रमाण है, यह नहीं कि अन्वय-व्यतिरेक कर्ता को अचेतन तथा करण को चेतन बना देंगे । (टी० ५०५) ।

सन्दिग्धत्वाद्—सन्देह युक्त होने से, सन्देह क्या है, यह आगे दिखलाया गया है । यह हेतु सन्देह युक्त है अतः हेतु नहीं (हेत्वाभास है) । बौद्धमत में सन्दिग्ध (अनिश्चित) नाम का हेत्वाभास भी माना गया है (द्र० टी० २८९-२९०, प्रमाणवार्त्तिक ४·१९४, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन, कुरु० विश्व० १९६८ ई०, पृ० १६७ तथा आगे) ।

इति सन्दिह्यते—सन्देह यह है कि इन्द्रियों का जो विषयनियम है 'चक्षु रूप को ही देखती है, त्वचा केवल स्पर्श करती है' वह क्या इनके चेतन होने से है अथवा चेतन (आत्मा) के साधन होने से । साधन होने से भी यह हो सकता है ।

विपर्ययसाधकश्च— विपर्यय का अर्थ है विरुद्ध, यह हेतु इन्द्रियों की अचेतनता को सिद्ध करता है अतः विपर्ययसाधक है (द्र० टी० ५०५)

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यच्चोक्तं विषयव्यवस्थानादिति ।

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः । ३।१।३ ॥

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषयग्राहि चेतनं स्यात्, कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात् । यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि तस्मात्तेभ्योऽन्यश्चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितितोऽनुमीयते । तत्रेदमभिज्ञानमप्रत्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाह्रियते, रूपदर्शी खल्वयं रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति । गन्धप्रतिसंवेदी च रूपरसावनुमिनोति ।

न्यायवार्त्तिकम्

विपर्यय[1] साधकत्वज्ञापनार्थं च 'तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः इति सूत्रम् । यस्मादेवैतानीन्द्रियाणि व्यवस्थितविषयाण्यत एवाव्यवस्थितविषयेणान्येन भवितव्यम् । यदि हि किञ्चिदिन्द्रियमनेकार्थग्राह्यव्यवस्थितविषयं स्यादिति कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात् । चैतन्यं तु—

जो यह कहा गया है विषयव्यवस्थानात् इति ।

उनके विषयग्रहण का नियम होने से ही आत्मा की सत्ता होने से प्रतिषेध नहीं । ३।१।३॥

यदि वस्तुत: एक इन्द्रिय अव्यवस्थित विषयवाली सर्वज्ञ सब विषयों का ग्रहण करने वाली तथा चेतन होती तो उनसे भिन्न चेतन (आत्मा) का कौन अनुमान कर सकता । क्योंकि इन्द्रियाँ व्यवस्थित (नियम) विषय वाली हैं, इसलिये उनसे भिन्न सर्वज्ञ सब विषयों का ग्रहण करने वाले चेतन (आत्मा) का विषय की व्यवस्था (नियत होने) से अनुमान किया जाता है । उसमें (ही) यह प्रतिसन्धान जिसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता ऐसा चेतन का वृत (आचार्यों के द्वारा) उदाहरण दिया जाता है । वस्तुत. यह (चेतन) रूप को देखकर पहले देखे गये रस अथवा गन्ध का अनुमान कर लेता है । और गन्ध को जानता हुआ रूप तथा रस का अनुमान कर लेता है ।

यह सूत्र विपर्यय का साधक है, वह सूचित करने के लिये ही 'तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः' यह सूत्र है । क्योंकि व्यवस्थित (नियत) विषय वाली इन्द्रियाँ हैं, इसीलिये अव्यवस्थित विषय वाले अन्य (चेतन) को होना चाहिये । वस्तुत: यदि कोई इन्द्रिय अनेक विषयों का ग्रहण करने वाली अव्यवस्थित (अनियत) विषय वाली हो तो उससे अन्य चेतन (आत्मा) कौन अनुमान कर सकता है । आत्मा की चेतनता तो

सर्वज्ञः=सर्वविषयग्राही—सब इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण करने वाला, सर्वज्ञ इत्यस्य विवरणं सर्वविषयग्राही, सर्वेषामिन्द्रियाणां च ये विषयास्तद्ग्राही (टी०) । वस्तुतः इन्द्रियाँ तथा प्रमाण नियतविषय वाले हैं । यह आत्मा सभी विषयों का ग्रहण करता है (टी० ५०५) ।

विपर्ययसाधक ज्ञापनार्थं च—जैसा कि न्यायवार्त्तिक ने बतलाया है कि यह सूत्र विपर्ययज्ञापनार्थं च 'पहिले सूत्र 'विषयव्यवस्थापनात्' को विपरीत हेतु (विरुद्धहेतु) सूचित करता है ।

न्यायभाष्यम्

एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम् । रूपं दृष्ट्वा गन्धं जिघ्रति, घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति । तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते । प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रसन्दधाति, प्रतिसन्धाय वेदयते । सर्वार्थविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते, अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य । क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्व पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकेनेन्द्रियेण गृह्णाति । सेयं सर्वज्ञस्य ज्ञेयाऽव्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम् । आकृतिमात्रं तूदाहृतम् । तत्र यदुक्तम् 'इन्द्रियचैतन्ये सति किमन्येन चेतनेन' तदयुक्तं भवति ॥ ३।१।३ ॥

न्यायवार्तिकम्

आत्मनः स्वातन्त्र्ये सत्यव्यवस्थानाच्चक्षुरादिवदिति—नाचेतन—

इसी प्रकार शेष विषयों में भी कहा जा सकता है । रूप को देखकर गन्ध को सूँघता है, और गन्ध को सूँघकर रूप को देखता है । तब इसप्रकार अनियत क्रम (पर्याय) वाले सब विषयों का ज्ञान एक चेतन (आत्मा) में जिसका अन्य कर्ता नहीं है उसका प्रतिसन्धान करता है । प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा संशय ज्ञानों का जिनके विषय भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु कर्ता अपना आत्मा ही होता है प्रतिसन्धान करता है, प्रतिसन्धान करके उनका अनुभव करता है । और सब अर्थों के विषय होने वाले शास्त्र को जान लेता है, श्रोत्र का विषय न होने वाले अर्थ को (भी) । क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्णों को सुनकर पद तथा वाक्य के रूप में प्रतिसन्धान करके शब्द और अर्थ की व्यवस्था को जानता हुआ अनेक विषय वाले अर्थों को, जो एक इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है, जान लेता है । वह यह सर्वज्ञ (अर्थात् सब इन्द्रियों के विषय को जानने वाले) की अव्यवस्था (नियत विषय को न जानना) पद-पद पर जाननी चाहिये, इसे छोड़ा नहीं जा सकता । यहाँ आकृतिमात्र का उदाहरण दिया गया है । उस विषय में जो कहा गया है, इन्द्रियों के चेतन होने पर अन्य चेतन से क्या ? वह अयुक्त है ॥ ३।१।३ ॥

स्वतन्त्र होकर चक्षु आदि के समान व्यवस्थित (नियत) विषय वाला न होने के कारण है, आत्मा अचेतन नहीं, चक्षु आदि के समान स्वतन्त्र—

विषयशेषेऽपि—घ्राणादि के विषयों में इसीप्रकार होता है, जो आगे दिखलाया गया है ।

अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य—श्रोत्र का विषय अर्थ नहीं है केवल शब्द है । आत्मा ही सर्वार्थविषयक शास्त्र को जानता है । यहाँ भाष्य में आत्मा के विशेष चिह्न (लिङ्ग) दिखलाये गये हैं ।

क्रमभाविनो वर्णान्—वर्ण तो क्रम से होते हैं । उन्हें सुनकर आत्मा पद तथा वाक्य रूप में प्रतिसन्धान करता है ।

अनेकविषयार्थजातम्—अनेक पदार्थ हैं विषय जिसके ऐसा अर्थों का समूह । यदि 'अनेकविषयमर्थजातम्' यह पाठ है तो सुगम है (टी० ५०५) ।

आकृतिमात्रम्—सामान्यमात्रमित्यर्थः (टी० ५०५) । यहाँ आत्मा (चेतन) की सिद्धि के लिये सामान्यतः कहा गया है ।

न्यायवार्त्तिकम्

आत्मा अस्वातन्त्र्यप्रसङ्गाच्चक्षुरादिवद इति। अन्वयाभावादयुक्तमिति चेत्—अथ मन्यसे आत्मनश्चैतन्यसाधनस्याव्यवस्थानस्य नान्वयोऽस्ति, न चान्वयमन्तरेण हेतुः सिध्यति' इति ? न, विपर्यय[1] सम्बन्धस्याव्यभिचारात्—नायमन्वयी हेतु [2]रपि तु व्यतिरेकी हेतुः।[3] तत्र च व्यतिरेकसम्बन्धा[4] व्यभिचारः सामर्थ्यम्। यच्चाचेतनं तत्सर्वं व्यवस्थितविषयं दृष्टमिति। पृथिव्यादिनित्यत्वसाधने गन्धवत्त्वादिप्रसङ्ग इति चेत्—अथ मन्यसे, यदि व्यतिरेकी हेतुर्भवत्यन्वयमन्तरेण अथ पृथिव्यादिनित्यत्वे साध्ये गन्धवत्त्वं कस्मान्न हेतुः ? न हेतुरुभयव्यावृत्तेः—यस्माद् गन्धवत्त्वं नित्याच्चानित्याच्च व्यावर्तते, न पुनरव्यवस्थानमेवम् तस्माद् अव्यवस्थानं हेतुर्न गन्धवत्त्वमिति ॥ ३।१।३ ॥

न होने का प्रसङ्ग होने से। (शङ्का) यदि अन्वयी हेतु का अभाव होने से यह अयुक्त है—यदि मानते हो कि आत्मा की चेतनता का साधन जो अव्यवस्थान (व्यवस्था न होना) है उसका अन्वय नहीं है और अन्वय के विना हेतु सिद्ध नहीं होता ? [समाधान] नहीं, विपरीत सम्वन्ध (व्यतिरेकव्याप्ति) का व्यभिचार न होने से—यह अन्वयी हेतु नहीं अपितु व्यतिरेकी हेतु है। और उसमें व्यतिरेकसम्बन्ध (व्यतिरेक-व्याप्ति) का व्यभिचार न होना ही सामर्थ्य है। जो अचेतन है, वह सब व्यवस्थित (नियत) विषय वाला देखा गया है। (शङ्का) यदि पृथिवी इत्यादि की नित्यता सिद्ध करने के लिये गन्धवत्व आदि (हेतु) का प्रसङ्ग होता है—यदि मानते हो कि अन्वय के विना (भी) व्यतिरेकी हेतु होता है तो पृथिवी आदि की नित्यता सिद्ध करने के लिये गन्ध वाला होना हेतु क्यों नहीं होता ? [समाधान] हेतु नहीं होता, दोनों (नित्य तथा अनित्य) से व्यावृत्त होने के कारण—क्योंकि गन्धवत्त्व (गन्ध वाला होना) नित्य तथा अनित्य से व्यावृत्त होता है; किन्तु अव्यवस्थान तो ऐसा नहीं है। इसलिये अव्यवस्थान (व्यवस्था न होना) हेतु है गन्धवाला होना नहीं ॥ ३।१।३ ॥

स्वातन्त्र्ये सति—टीका में यह पाठ ३.१.१ के अन्त में है। यह व्यतिरेकी हेतु है जो अचेतन है वह स्वतन्त्र होकर अवस्थित नहीं होता; जैसे चक्षु आदि। यदि 'अवस्थानात्' केवल इतना ही हेतु देते तब मन' से व्यभिचार होता, अतः 'स्वातन्त्र्ये सति' दिया गया है।

अथवा—आत्मा अचेतन नहीं, अस्वतन्त्र होने का प्रसङ्ग होने से यहाँ स्वातन्त्र्य को ही आत्मा की चेतनता में हेतु कहा गया है।

विपर्ययसम्वन्धस्याव्यभिचारात्—यहाँ व्यतिरेकी हेतु में व्यभिचार नहीं है, वस्तुतः व्यतिरेकी हेतु में भी व्यभिचार नहीं होता।

पृथिव्यादिनित्यत्वसाधनेन—शङ्का का आशय है, यदि अन्वयी हेतु के विना भी केवल व्यतिरेकी तु हहो सकता है, तो पृथिवी आदि का नित्यत्व सिद्ध करने के लिये 'गन्धवत्त्वात्' हेतु होना चाहिये। हेतुरुभयव्यावृत्तेः' यह इसका उत्तर है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

२. (आत्मनः शरीरव्यरिक्तत्वपरीक्षा)

इतश्च देहादि व्यतिरिक्त आत्मा, न देहादिसंघातमात्रम् ।

शरीरदाहे पातकाभावात् ।। ३।१।४ ।।

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासंघातः प्राणिभूतो गृह्यते । प्राणिभूतं शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतपापं पातकमित्युच्यते । तस्याभावः, तत्फलेन कर्तु रसम्बन्धात् अकर्तु श्च सम्बन्धात् । शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धे खल्वन्यः संघात उत्पद्यतेऽन्यो निरुध्यते ।

न्यायवार्त्तिकम्

इतश्च शरीरादिव्यतिरिक्त आत्मा न शरीरादिसंघातमात्रम् 'शरीरदाहे पातकाभावात्' । शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासंघातः प्राणिभूतो गृह्यते । शरीरं प्राणिभूतं दहतः प्राणिहिंसाकृतं पापं पातकमित्युच्यते । तस्याभावोऽकर्त्तुः फलेन सम्बन्धः, कर्त्तु श्चानभिसम्बन्ध इति ।

---

२. [शरीर से भिन्न आत्मा की परीक्षा]

इसलिये भी देहादि से भिन्न आत्मा है, देहादि का संघातमात्र नहीं, शरीर के जलाने पर पाप न लगने से ।।३।१।४ ।।

(सूत्र में) शरीर शब्द से शरीर, इन्द्रिय, मन (बुद्धि) तथा वेदना (सुख-दुःख का अनुभव) का समुदाय जो प्राणी है उसका ग्रहण होता है । प्राणी होने वाले शरीर को जलाने वाले को प्राणी की हिंसा से होने वाला पाप (ही) पातक कहा जाता है । उसका अभाव है, उसके फल से कर्ता का सम्बन्ध न होने से तथा न करने वाले का सम्बन्ध होने के कारण । वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय, मन (बुद्धि) तथा वेदना के प्रवाह (प्रबन्ध) में अन्य संघात उत्पन्न हो जाता है, अन्य निरुद्ध हो जाता है ।

इसलिये भी आत्मा शरीर आदि से भिन्न है, शरीरादि का समुदायमात्र नहीं, शरीरदाहे पातकाभावात् (यह सूत्र है) । शरीर (शब्द) के ग्रहण से शरीर, इन्द्रिय, मन (बुद्धि), वेदना (सुख-दुःख का अनुभव) के समुदाय प्राणी का ग्रहण होता है । शरीर जो प्राणी है, उसे जलाने वाले को प्राणी की हिंसा से होने वाला पाप, पातक कहा जाता है । उसका अभाव है न करने वाले का फल से सम्बन्ध होना तथा करने वाले का (फल से) सम्बन्ध न होना ।

इतश्च—यहाँ भाष्यकार ने अन्य सूत्र को अवतरित किया है (टी० ५०५) ।

शरीरदाहे पातकाभावात्—इसका भाव है, प्राणी की हिंसा में पाप का प्रसङ्ग न होने से प्राणातिपाते पातकाभावप्रसङ्गात् (टी० ५०५) । यह बौद्धों के प्रति कहा गया है, जो मानते हैं कि पहला शरीर, इन्द्रिय बुद्धि आदि का संघात नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है किन्तु प्राणातिपात में पातक होता हैं । यद्यपि बौद्धों में कुछ विद्वान् विज्ञान की सन्तति को ही आत्मा कहते हैं तथापि दूसरे विद्वान् पञ्चस्कन्ध के समुदाय को आत्मा मानते हैं, यही संघातवाद कहलाता है ।

न्यायभाष्यम्

उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते, देहादिसंघातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात् अन्यत्वाधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायते' इति । एवं सति यो देहादिसंघातः प्राणिभूतो हिंसां करोति नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते, यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसा कृता । तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते । सति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोध्ये चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति । तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात् । तद्यदि देहादिसंघातमात्रं सत्त्वं स्यात् शरीरदाहे पातकं न भवेत्, अनिष्टं चैतत् । तस्माद् देहादिसंघातव्यतिरिक्त आत्मा नित्य इति ।। ३।१।४ ।।

न्यायवार्त्तिकम्

कस्मात् ? अनभ्युपगतार्थान्तरात्मनोऽन्यः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासंघातः कर्ता अन्यश्च तत्फलभोक्तेति । तदेवमकृतकृताभ्यागमविनाशदोषप्रसङ्गः, अनिष्टश्च; तस्मात् कर्ता भोक्ता च यः स आत्मेति ।

उत्पत्ति तथा विनाश का सन्तान होने वाला प्रवाह (प्रबन्धः) अन्य होने का बाध नहीं करता । शरीर आदि का संघात अन्यत्व का स्थान होने से (अन्यत्वाधिष्ठानत्वात्) वस्तुतः यह अन्यता का स्थान कहलाता है । ऐसा होने पर (क) जो शरीर आदि का समुदाय प्राणी रूप होकर हिंसा करता है वह हिंसा के फल से सम्बन्ध नहीं रखता और जो सम्बन्ध रखता है उसने हिंसा नहीं की है । तो इसप्रकार प्राणी का भेद होने पर (सत्त्वभेदे) किये की हानि तथा विना किये के भोग (अकृताभ्यागमः) का प्रसङ्ग होता है । (ख) और प्राणी की उत्पत्ति तथा प्राणी का विनाश होने पर प्राणियों की सृष्टि विना कर्म के निमित्त से प्राप्त होती है । इसमें मुक्ति (मोक्ष) के लिये ब्रह्मचर्य से रहना न हो सकेगा । तब यदि शरीर आदि का समुदाय ही प्राणी होगा तो शरीर के जलाने पर पाप न होगा और यह अनिष्ट है । इसलिये शरीर आदि के समुदाय से भिन्न आत्मा है जो नित्य है ।।३।१।४।।

क्यों ? आत्मा को अन्य (पदार्थ न मानने वाले के (मत में) अन्य शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि (मन) वेदना का संघात (ही) कर्त्ता है, और उसके फल का भोगने वाला अन्य है । तो इसप्रकार न किये (कर्म की) प्राप्ति और किये का विनाश दोष प्राप्त होता है, अनिष्ट भी है । इसलिये जो कर्त्ता तथा भोक्ता है वह आत्मा है ।

उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धः—यद्यपि देहादि का संघात बार-बार उत्पन्न होता है तथा नष्ट हो जाता है, यह प्रवाह चलता रहता है तथापि एक के पश्चात् होने वाले संघात अन्य ही है ।

कृतहानाकृताभ्यागमः—जिसने प्राणिहिंसा आदि की है उसे पातक नहीं होता, जिसने कर्म नहीं किया उसे पातक होता हैं, अतः यह दोष है ।

अकर्मनिमित्तः—प्राणियों की सृष्टि कर्म के निमित्त से नहीं अपितु विना कर्म के ही होगी ।

अनिष्टश्च—'अनिष्टं चैतत्' इस भाष्य की व्याख्या है । बौद्ध तो कर्मनिमित्तक सत्त्वसर्ग मानते हैं, अतः विना कर्म के सत्त्वसर्ग होना अनिष्ट है ।

न्यायवार्त्तिकम्

तदिदं सूत्रं यस्यात्मा नास्ति तस्यायं दोष इति, दोषप्रतिपादनार्थं न साधनार्थमिति । हेतुफलभावात् स्मृतिवत् कर्तृभोक्तृव्यवहारः—यथा हेतुफलभावेन व्यवस्थितायां सन्ततौ यस्यामेव भावनोपजायते तस्यामेव सन्ततौ स्मृतिर्भवतीति' एवं यत्कायचित्तसन्तानप्रभवं कर्म तत्कायचित्तसन्तानप्रभवं फलमिति नास्त्यकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गः । स कथं स्यादिति यद्यन्यस्यां सन्ततौ कृतं कर्म, अन्यस्यां सन्ततौ फलं दद्यात् । यदि च भवानेवमर्थं[1] प्रतिपादयितुं शक्नोति 'य एव करोति स एव भुङ्क्ते' इति । उभयञ्च नास्ति तस्मादकृताभ्यागमादिरदोषः ? नोक्तोत्तरत्वात्—न सन्तानो नानात्वं बाधते' 'इत्युक्तोत्तरमेतत् । यत्पुनरेतदेकस्मिन्नदर्शनाद्' इति । अत्राप्युक्तमेकनिमित्तानां प्रत्ययानां प्रतिसन्धानाद्' इति ।

वह यह सूत्र जिसके मत में आत्मा नहीं है उसके मत में यह दोष है, दोष दिखलाने के लिये है, (आत्मा की सत्ता) सिद्ध करने के लिये नहीं । (शङ्का) हेतु तथा फल होने से स्मृति के समान कर्ता और भोक्ता का व्यवहार होता है; जैसे हेतु तथा फल रूप से व्यवस्थित सन्तति में जिस (सन्तति) में संस्कार (भावना) होता है उसी सन्तति में स्मृति होती है, इसीप्रकार जिस काया तथा चित्त की सन्तति में उत्पन्न होने वाला कर्म होता है उसी काया तथा चित्त की सन्तति में होने वाला फल होता है, अतः विना किये (कर्म की) फल-प्राप्ति तथा किये के नाश का प्रसङ्ग नहीं है। वह (दोष) कैसे होगा (क) यदि अन्य सन्तति में किया हुआ कर्म अन्य सन्तति में फल देगा । (ख) और यदि आप इसप्रकार अर्थ का प्रतिपादन कर सकें "जो (कर्म) करता है वही (फल) भोगता है" इति । ये दोनों नहीं हैं इसलिये अकृताभ्यागम आदि (आदि शब्द से कृतहान) दोष नहीं है । [समाधान] यह ठीक नहीं, उत्तर कह दिये जाने से—सन्तान(सन्तति) भिन्नता (नानात्वम्-अन्यता) का बाध नहीं करती, यह उत्तर दिया जा चुका है । फिर जो यह कहा गया है कि एक में न देखा जाने से ? इस विषय में भी कहा जा चुका है 'एक निमित्त वाले ज्ञानों का प्रतिसन्धान होने से (यह ठीक नहीं) ।

तदिदं सूत्रम्—यहाँ सूत्र का अभिप्राय दिखलाया गया है।

भावनोपजायते—भावना=स्मृति का हेतु होने वाला संस्कार जो आत्मा में रहता है, भावनास्मृतिहेतुः संस्कारः (टी० ५०६) ।

यत्काय०—जिस शरीर से उपलक्षित कोई चित्तसन्तान कर्म करता है, वह चित्तसन्तान अन्य काया में पहुँचकर भी उसका फल भोगता है (टी० ५०६) ।

स कथं स्यात्—यहाँ 'सः' का अर्थ है दोष, वह कैसे हो सकता है, यह आगे कहा गया है ।

---

१. एतदर्थं, पा० ।

शाल्यादिबीजवद्[1] इति चेत्—अथ मन्यसे, यथा शालिबीजाद् अङ्कुर उपजायते, शालिबीजावमर्दोत्तरकालं नालकाण्डादिभावेन भूतानुग्रहवशाच्छालिबीजं प्रादुर्भवति। न च तत्रैकं निमित्तं किञ्चिदनुबद्धमस्ति, अथ च नियमः शालिबीजपूर्वाङ्कुराच्छालिबीजम्। एवं हेतुफलभावेन व्यवस्थितायां सन्ततावान्तरे चेतसि परिणामविशेषप्राप्तात् कर्मणः फलम्' इति ? तन्न, बीजावयवानुवृत्तेः—शालिबीजवाद् इत्यसिद्धो दृष्टान्तः, तत्रापि ये बीजावयवास्ते पूर्वव्यूहपरित्यागेन व्यूहान्तरमापद्यन्ते, व्यूहान्तरापत्तौ च पृथिवीधातुरब्धातुना सङ्गृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानं रसद्रव्यं निर्वर्तयति। स रसः पूर्वावयवसंहितोऽङ्कुरादिभावमापद्यते। तस्माद्बीजावयवानुवृत्तेरसिद्धमिदमुच्यते 'यथा शालिबीजाद् विनष्टाद् अङ्कुर उत्पद्यते अथ च प्रतिसन्धानम्' इति।

(शङ्का) यदि शालि (धान) आदि के बीज के समान (होता) है—यदि मानते हो, शालि के बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है, शालि के बीज के नाश के पश्चात् नाल काण्ड आदि होकर (पृथिवी आदि) भूतों के उपकार (अनुग्रह) से फिर शालिबीज का प्रादुर्भाव होता है। और वहाँ एक निमित्त कोई अनुबद्ध (निश्चित) नहीं होता, किन्तु यह नियम होता है कि शालिबीज के निमित्त से होने वाले अङ्कुर से शालिबीज ही होता है, इसीप्रकार हेतु-फल-भाव से व्यवस्थित सन्तान में आन्तरिक चित्त में विशेष परिणाम को प्राप्त होने वाले कर्म से फल हो जाता है ? [समाधान] वह (ठीक) नहीं, बीज के अवयव की अनुवृत्ति होने से—शालि-बीज के समान यह दृष्टान्त असिद्ध है, वहाँ भी जो बीज के अवयव हैं वे पहली रचना (व्यूह) को छोड़कर अन्य रचना को प्राप्त हो जाते हैं, और अन्य रचना को प्राप्त होने पर (बीज में स्थित) पृथिवी धातु जल धातु से मिलती है, आन्तरिक तेज से पाक को प्राप्त होती हुई रस-द्रव्य को उत्पन्न करती है। वह रस पूर्वावयवसहित अङ्कुर आदि रूप को प्राप्त होता है। इसलिये बीजावयवों की अनुवृत्ति होने से यह असिद्ध (ही) कहा गया है कि जिस प्रकार नष्ट हुए शालि के बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है, उसीप्रकार प्रतिसन्धान हो जाता है।

शाल्यादिबीजवत्—जिसप्रकार शालि के बीज से शालि का बीज उत्पन्न होता है उसीप्रकार जिस सन्तति के चित्त से कर्म किया जाता है उसी सन्तति का चित्त उस कर्म का फल भोगता है। अतः कोई दोष नहीं। बोधिचर्यावतारपञ्जिका (पृ०४७२) में इस विषय की अन्य उदाहरणों से भी पुष्टि की गई है।

तन्न—यहाँ उपर्युक्त शङ्का का समाधान किया गया है, मुख्य युक्ति है 'बीजावयवानुवृत्तेः'।

---

१. धान्यादि, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

परमाण्वस्थत्वाद् बीजावयवानां यथोक्तदोषापत्तिरिति चेत्—अथ मन्यसे अथापि[1] बीजावयवाः पूर्वव्यूहं परित्यजन्ति व्यूहान्तरं चापद्यन्ते तस्यापि परमाण्वस्थत्वाद् बीजस्य परमाणुमात्रं शिष्यत इति । न च यवबीजशालिबीजपरमाणूनां कश्चिद् विशेषः, यथानुपजातविशेषाः परमाणवः कार्यकारणभावनियमात् तत्पूर्वकतया शाल्यङ्कुरमभिनिर्वर्तयन्ति तथा ममापि कार्यकारण भावान्नियम[2] इति ? नानभ्युपगमात्—परमाण्ववस्थानि बीजानि भवन्तीत्येतन्न प्रतिपद्यामहे । सर्वावस्थोपलब्धेः—यस्माच्छाल्यादि बीजमुच्छूनावस्थामादिं कृत्वा यावदुपान्त्यं शालिबीजकार्यं तावन्न कदाचित् परमाण्ववस्थं भवति । यदि तु स्यात् कदाचित् नोपलभ्येत । यदि तह्यापरमाणोर्विभागो नास्ति कल्पादावुत्पत्तिर्न स्यात्, परमाण्ववस्थत्वाज्जगतः, परमाण्वस्थे

(शङ्का) बीज के अवयवों के परमाणु के अवस्था में हो जाने से यथोक्त दोष का प्रसङ्ग होता है—यदि मानते हो जब बीज के अवयव पहली रचना को छोड़ देते हैं और अन्य रचना को प्राप्त हो जाते हैं उसके (मत में) भी बीज के परमाणु अवस्था में हो जाने से परमाणुमात्र शेष रहता । और यवबीज तथा शालिबीज के परमाणुओं का कोई भेद नहीं रहता, जिसप्रकार भेद न होने वाले परमाणु कार्य-कारणभाव के नियम से शालिपूर्वक होने से शालि के अङ्कुर को उत्पन्न करते हैं उसीप्रकार मेरे मत में भी कार्यकारणभाव से नियम होता है। [समाधान] ठीक नहीं, न स्वीकार करने से—बीज परमाणु की अवस्था में हो जाते हैं, यह हम नहीं मानते, सब अवस्थाओं में (बीज की) उपलब्धि होने से—क्योंकि शालि आदि का बीज फूली हुई (उच्छून) अवस्था से लेकर जब तक अन्त के समीप का (उपान्त्यम्) शालिबीज का कार्य होता है तब तक कभी भी परमाणु की अवस्था में नही होता। यदि वह कभी (परमाणु) की अवस्था में होता (तो तब) उपलब्ध न हुआ करता। (वैशेषिक की शङ्का) यदि तो परमाणुपर्यन्त विभाग नहीं होता तो कल्प (सृष्टि) के आदि में जगत् की परमाणु अवस्था से उत्पत्ति न हुआ करे—संसार के परमाणु की अवस्था में हो

कार्यकारणभावनियमः—कार्यकारणभाव से नियम होता है, जिस कायसन्तान द्वारा कर्म किये जाते है उनका फल उस कायसन्तान के कार्य द्वारा ही भोगा जाता है।

नानभ्युपगमात्—बीज परमाणु की अवस्था में होकर ही अपना कार्य आरम्भ करता है यह नैयायिक नहीं मानता। परमाणु की अवस्था में पहुंचकर ही घट आदि पकते है, इसका नैयायिक ने निराकरण किया है। पीलुपाकवाद (परमाणु में पाक होता है) इस मत को वैशेषिक मानता है, नैयायिक पिठरपाकवाद को मानता है।

सर्वावस्थोपलब्धेः—सभी अवस्थाओ में बीज के अवयवों की उपलब्धि होती है जो बीज के परमाणु रूप हो जाने पर नहीं होगी।

१, यस्यापि, पा०। २. भावनियम, पा०

च जगति न शाल्यादिजातिव्यक्तिरस्ति' इति पुनरुत्पादे जातिव्यक्तिहेतवः परमाणव एवेत्यभ्युपगन्तव्यम् । यथा च कल्पादावेवं परमाण्ववस्थे बीजेऽपीति ? नानेनैवोक्तोत्तरत्वात् —अनेनैवसर्वावस्थोपलब्धेरित्युक्तोत्तरमेतत्' सर्गादौ शालिजातिव्यक्तिहेतुरदृष्टविशेषो येनादृष्टेन प्राणिनामुपभोगाय शाल्यादयो निर्वर्त्यन्ते, तमदृष्टविशेषमपेक्षमाण ईश्वरस्तान् परमाणून् तथा संघातयति, यथा-यथा शाल्यादिजातिव्यक्तिरिति ।

एतेन घटादिपाको व्याख्यातः । न परमाण्वन्तो विभागः[1], सर्वावस्थोपलब्धेरिति । आमध्यात् पाकानुपपत्तिरिति चेत ?—अथ मन्यसे 'यदि कार्यकारणद्रव्ये पच्येते, आमध्यात पाको न प्राप्नोति, पाचकेन तेजसा अप्राप्तत्वात् ? ना प्रतिबन्धात् —भवेदप्येष दोषो यदि तेजोऽनुप्रवेशमवयवी प्रतिबध्नाति । स तु न प्रतिबध्नाति, अप्रतिबद्धं तेजोऽनुप्रविशति' इति ।

जाने पर शालि आदि जाति की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती है। इस प्रकार फिर उत्पन्न होने में जाति की अभिव्यक्ति के हेतु परमाणु ही हैं, यह मानना चाहिये। और जिस प्रकार सृष्टि के आदि में होता है उसीप्रकार बीज के परमाणु की अवस्था में हो जाने पर भी ? [समाधान] ठीक नहीं, इसीसे उत्तर कह दिये जाने के कारण—सब अवस्थाओं में बीज की उपलब्धि होने से, इसी से इसका उत्तर कह दिया गया है । सृष्टि के आदि में शालि जाति की अभिव्यक्ति का हेतु अदृष्ट विशेष है—जिस अदृष्ट से प्राणियों के उपभोग के लिये शालि आदि उत्पन्न किये जाते हैं, उस अदृष्ट विशेष की अपेक्षा करता हुआ ईश्वर उन-उन (भिन्न-भिन्न) परमाणुओं को उस-उस प्रकार से संघात रूप में कर देता है जिससे शालि आदि जाति की अभिव्यक्ति हो जाती है ।

इस (कथन) से घट आदि के पाक की व्याख्या कर दी गई। उसका भी परमाणुपर्यन्त विभाग नहीं होता; क्योंकि (बीज की) सब अवस्थाओं में उपलब्धि होती है । (पूर्वपक्ष का आक्षेप) यदि मध्यपर्यन्त पाक न होगा—यदि मानते हो कि (पीलुपाकवाद को न मानने से) यदि कार्य तथा कारणद्रव्य में पाक होता है तो मध्यपर्यन्त पाक प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वह (मध्य भाग) पकाने वाले तेज से प्राप्त न किया जायेगा । [पिठरपाकवादी का परिहार] यह ठीक नहीं, रुकावट (प्रतिबन्ध) न होने से—यह दोष हो सकता, यदि अवयवी तेज के प्रवेश को रोकता, किन्तु वह रोकता नहीं; अतः बिना रुकावट के तेज (अवयवी में) प्रविष्ट हो जाता है।

नानेनैवोक्तोत्तरत्वात्—"सर्वावस्थोपलब्धेः" इसी से उत्तर दिया जा चुका है । टीका में इसका जो उत्तर दिया गया है, वह स्पष्ट नहीं हो सका (द्र० टी० ५०६) ।

आमध्यात्—यह पीलुपाकवादी वैशेषिक की शङ्का है । इसका समाधान है, 'नाप्रतिबन्धात्' । आगे के प्रश्नोत्तर वैशेषिक तथा नैयायिक के बीच हैं ।

---

१. विनाशः, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

'न प्रतिबध्नाति, इति न हेतुरस्ति' इति ? न नास्ति, परिस्रवादिमतो घटस्योपलब्धेः—यस्मात् परिस्रवादिमतो घटस्य द्रवत्वप्रतिबन्धो न दृष्टः, अप्रतिबन्धेन द्रवत्वं परिस्रुतिं करोति, तच्च प्रत्यक्षत उपलभ्यते । यदि चायमवयवानुप्रवेशो द्रव्यस्य विनाशकः स्यात्, न परिस्रवादिमान् घट उपलभ्येत । परिस्रवमाणत्वाद् भाजनगतानामपामवस्थानं न स्यात्[1]। विनाशे च कार्यद्रव्याणां व्यवहिताव्यवहितयोस्तुल्यकालोपलब्धि[2] प्रसङ्गः—यदि चानुप्रविश्य द्रव्यं द्रव्यान्तरं व्यतिभिनत्ति तेन चाक्षुषस्य रश्मेरनुप्रवेशात स्फटिकादि विनष्टम्' इति व्यवहिते चाव्यवहिते च तुल्योपलब्धिः प्राप्नोति । तस्माच्छालिबीजमदृष्टान्तः ।

(शङ्का) नहीं रोकता, यह हेतु नहीं है । (समाधान) नहीं है, ऐसा नहीं, चू जाने वाले आदि घट की उपलब्धि होने से—क्योंकि चू जाना आदि से युक्त घट का द्रवत्व (बहना) का प्रतिबन्ध नहीं देखा गया, बिना प्रतिबन्ध के द्रव्वत्व चू जाता है (चू जाने को करता है) और वह प्रत्यक्ष से दिखलाई देता है । और यदि यह अययवों का अनुप्रवेश द्रव्य का विनाशक होता तो (क) चू जाने वाला घट न उपलब्ध होता । (ख) किञ्च, चू जाने के कारण पात्र (घट आदि) में स्थित जल की स्थिति न होती । (ग) कार्य द्रव्यों का नाश हो जाने पर व्यवहित तथा अव्यवहित की समान काल में उपलब्धि होने लगेगी—यदि अनुप्रवेश करके एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भेद कर देता है तब चक्षु की किरण के अनुप्रवेश से स्फटिक आदि नष्ट हो जायेंगी अतः व्यवहित तथा अव्यवहित की समान काल में उपलब्धि प्राप्त होती है । इसलिये शालिबीज दृष्टान्त नहीं ।

यदि चायमवयवानुप्रवेशो द्रव्यस्य विनाशकः स्यात्—वैशेषिक के मत में किसी के अवयवों का अनुप्रवेश होने से द्रव्य का नाश हो जाता है । न्याय के मत में ऐसा नहीं होता । इस मत के समर्थन में आगे युक्तियाँ दी गई है । यदि पात्र का नाश हो जाये तो जल ही न ठहरे । वस्तुतः पात्र के सान्तर (सच्छिद्र) होने से उतना ही जल निकलता है जिससे बाहर शीतलता प्रतीत होती है ।

तस्माच्छालि०—यह पीलुपाकवाद के निराकरण का उपसंहार किया गया है । इसलिये 'शालिबीज' दृष्टान्त नहीं है । सभी अवस्थाओं में बीज के अवयव उपलब्ध होते हैं । शालिबीज से शालि उत्पन्न होती है उसके परमाणु की अवस्था में पहुँचने से नहीं ।

---

१. अवस्थानमेव न स्यात्, पा० । २. तुल्योपलब्धिः, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

यस्य च पूर्वस्कन्धनिरोधसमकालानि स्कन्धान्तराणि प्रादुर्भवन्ति तस्य तेषां स्कन्धान्तराणां न कर्मनिमित्तः सर्गः प्राप्नोति। अकर्मनिमित्तेन सत्त्वसर्गेण शुभाशुभप्राप्त्यर्था क्रिया न प्राप्नोति। सुखी स्यामिति तत्क्रियेति चेत्—अथ मन्यसे 'स्वयं कर्माणि करोति कथमहं सुखी स्यां दुःखी न स्यामिति ? तन्न, अननुभूतत्वात्—येन सुखमनुभूतं सुखसाधनसम्बन्धानुस्मृतिश्च यस्य, स तत्साधनमुपादत्ते; यस्य पुनः प्रतिक्षणं प्रध्वंसिनः संस्कारास्तस्य सुखसाधनसम्बन्धानुस्मृतेरभावात् 'सुखी स्यामिति क्रियानुपपत्तिः; मोक्षार्थश्च[1] प्रयासो नोपपद्यते[2] अयत्नसिद्धत्वात्—जातमात्र एवायं मुच्यत इति मुक्त्यर्थं ब्रह्मचर्यवासो व्यर्थः परिपृच्छा च न प्राप्नोति, तथागतेन भिक्षवः परिपृच्छ्यन्ते कच्चिद्यूयं मया विनीता इति ? ते चाहुर्विनीताः स्म इति।

और जिसके मत में पूर्व स्कन्धों के विनाश के समय ही अन्य स्कन्ध प्रादुर्भूत हो जाते हैं उसके मत में उन अन्य स्कन्धों की कर्म के निमित्त से सृष्टि नहीं होती। कर्म के निमित्त से न होने वाली प्राणियों की सृष्टि के द्वारा शुभ तथा अशुभ को प्राप्त करने के लिये क्रिया नहीं होगी। (शङ्का) यदि मैं सुखी हो जाऊँ इसलिये उसकी क्रिया होती है—यदि मानते हो (प्राणी) स्वयं ही कर्म करता है कि मैं सुखी हो जाऊँ दुःखी न होऊँ इसलिये ? [समाधान] वह ठीक नहीं, अनुभूत न होने से—जिसने सुख का अनुभव किया है और जिसे सुख के साधनों की अनुस्मृति है वह उस (सुख) के साधनों को लेता है। किन्तु जिसके मत में संस्कार (कार्य) प्रतिक्षण नष्ट हो जाते हैं उसके मत में सुख के साधनों के सम्बन्ध की अनुस्मृति नहीं होती अतः सुखी होऊँ (इस भाव से) क्रिया नहीं बनती तथा मोक्ष के लिये प्रयास नहीं बनता, क्योंकि (उसके मत में) मोक्ष बिना यत्न के ही सिद्ध (प्राप्त) है—उत्पन्न होते ही यह (प्राणी) मुक्त हो जाता है; अतः मुक्ति के लिये ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है एवं परिपृच्छा प्राप्त नहीं होती है। बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं से परिपृच्छा की जाती है "भिक्षुओं संभवतः मैंने तुम्हें दीक्षित कर दिया है ?" और वे कहते हैं "दीक्षित कर दिया है"। इति।

यस्य च—यहाँ से बौद्ध के मत का निराकरण किया गया है।

सुखी स्यामिति—बौद्ध का अभिप्राय यह है, यद्यपि स्कन्ध (विज्ञानादि) प्रतिक्षण नष्ट होते तथा उत्पन्न होते हैं तथापि अनादि अविद्या की वासना से युक्त यह अहं भावना वाला सत्त्व 'सुखी होऊँ दुःखी नहीं' इस तृष्णा से प्रवृत्त होता है (टी० ५०७)।

तन्न, अननुभूतत्वात्—क्षणिक विज्ञानों में प्रतिसन्धान नहीं होता, वे तो किसी सुख दुःख का अनुभव ही नहीं करते।

१- मुक्त्यर्थश्च, पा०। २- नोपयुज्यते, पा०।

न्यायवार्तिकम्

अतीतानागतवर्तमानानां चानुपकार्यत्वात्—ये तावदनागताः संस्कार्यास्ते तावदसत्त्वान्नोपक्रियन्ते[1], येऽप्यतीतास्तेऽप्येवं, ये तु वर्त्तमानास्तेषु संस्काराधानमशक्यं वर्तमानलक्षणस्यानुपकार्यत्वात्—न हि तस्यावस्थानकालोऽस्ति यस्मिन्नुपक्रिया स्यात्। संस्कार्यसंस्कारकयोः सहोत्पादाद् युक्तमिवमिति चेत् ? न, संस्कार्यसंस्कारयोः सहोत्पादे[2] नियमानुपपत्तिरिति—इदं संस्कारकमिदं संस्कार्यमिति नियमो नोपपद्यते। अथ संस्कारकमपेक्षमाणं संस्कार्यं विलक्षणकार्यं करोति, विलक्षणकार्योत्पादश्च संस्कार इत्युच्यते ? न, संस्कार्यानभिधानात्—इदं संस्कारकमिदं संस्कार्यमित्येतत् कथम्; न हि यो यस्य विशेषं नाधत्ते, स तत्संस्कारकः, तत्संस्कार्यमिति च शक्यं व्यपवेष्टुम्। अथाप्युपदेशेन संस्काराणामनागतानामनुत्पत्तिः क्रियते ? न, अनागतानामनुत्पत्तेः सत्त्वात्—याऽसावनागतानामनुत्पत्तिः संस्काराणां नासौ कदाचिन्नास्तीति किं तस्याः क्रियते। तस्मान्मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवास इत्यनुपपन्नम्। तदेवमनभ्युपगतार्थान्तरात्मनो दोष इति। ३।१।४॥

और अतीत, अनागत तथा वर्तमान के (स्कन्धों का) उपकार नहीं किया जा सकता—जो अनागत संस्कार्य हैं वे तो न होने से उपकृत नहीं किये जाते, जो भी अतीत हैं वे भी इसीप्रकार हैं, किन्तु जो वर्तमान हैं उनमें संस्कार का आधार नहीं किया जा सकता; क्योंकि (आप का) वर्तमान का लक्षण उपकार के योग्य नहीं—वस्तुतः उसकी स्थिति का समय नहीं है जिसमें उपकार हो सके। (शङ्का) यदि संस्कार के योग्य एवं संस्कार करने वाले (संस्कारक) के साथ उत्पन्न होने से यह युक्त है ? [समाधान] यह (भी) ठीक नहीं, संस्कार के योग्य और संस्कारक के साथ उत्पन्न होने में नियम नहीं बनता—यह संस्कारक है यह संस्कार्य (संस्कार के योग्य) है, यह नियम नहीं बनता। (शङ्का) यदि संस्कारक की अपेक्षा करता हुआ संस्कार्य विलक्षण कार्य करता है, विलक्षणकार्य की उत्पत्ति ही संस्कार कहलाता है ? (समाधान) यह भी नहीं, संस्कार्य का कथन न करने से—यह संस्कारक है, यह संस्कार्य है, यह कैसे ? वस्तुतः जो जिसमें विशेषता उत्पन्न नहीं करता वह उसका संस्कारक है तथा वह (दूसरा) संस्कार्य है, यह नहीं कहा जा सकता। (शङ्का) यदि उपदेश से अनागत संस्कारों की अनुत्पत्ति की जाती है ? (समाधान) नहीं, अनागतों (संस्कारों) की अनुत्पत्ति सिद्ध होने से—जो यह अनागत संस्कारों की अनुत्पत्ति है, वह कभी नहीं है, ऐसा नहीं, फिर उसका क्या किया जाता है। इसलिये मुक्ति के लिये ब्रह्मचर्यवास होता है, यह नहीं बनता। तब इस प्रकार आत्मा को अन्य पदार्थ न मानने वाले के मत में दोष हैं। ३।१।४॥

अनागतानामनुत्पत्तेः सत्त्वात्—बौद्धों का अभिप्राय है 'ब्रह्मचर्यादिपरिपाकसहित ज्ञानक्षण से अन्य असमर्थ ज्ञानक्षण उत्पन्न होता है वह असमर्थ क्षण अन्य क्षण को उत्पन्न नहीं करता तथा स्वतः ही नष्ट हो जाता है। वार्तिककार कहते हैं कि अनुत्पत्ति तो स्वतः सिद्ध है।

---

१. ये व्यतीताः, पा०। २. सहोत्पादात्, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तदभावः सात्कमप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ।३।१।५।।

यस्यापि नित्येनात्मना सात्मकं शरीरं दह्यते तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दग्धुः । कस्मात् ? नित्यत्वादात्मनः—न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति । अथ हिंस्यते ? नित्यत्वमस्य न भवति । सेयमेकस्मिन् पक्षे हिंसा निष्फलाऽन्यस्मिंस्त्वनुपपन्नेति । ३।१।५।।

न्यायवार्त्तिकम्

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् । यस्यात्मा नित्यः, तस्यापि हिंसा-फले न प्राप्नुतः—हिंसा तावन्न प्राप्नोति नित्यत्वात्, फलमपि नात्मनो युक्तम् अनुपकार्यत्वात् । अस्य चार्थस्य ज्ञापिकां कारिकामुदाहरन्ति,

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोर्भयम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ।।

तदेवमेकस्मिन् मते हिंसा निष्फला, अपरस्मिंस्तु पक्षेऽनुपपन्ना निष्फला चेति ।

उस (पातक) का अभाव होता है आत्मसहित (शरीर) के दाह करने पर भी (आत्मा) के नित्य होने से । ३।१।५।।

जिसके मत में नित्य आत्मा के द्वारा सात्मक शरीर का दाह होता है उसके (मत में) भी दाह करने वाले को शरीर के दाह में पाप न होगा । क्यों ? आत्मा के नित्य होने से—कोई कभी नित्य की हिंसा नहीं कर सकता । यदि हिंसा की जाती है तो इस (आत्मा) की नित्यता नहीं होती । वह यह एक पक्ष में हिंसा फलरहित है, दूसरे पक्ष में हिंसा बनती (ही) नहीं । ३।१।५।।

'तदभावः सात्मकदाहेऽपि तन्नित्त्वत्वात्' (यह सूत्र है) । जिसके मत में आत्मा नित्य है उसके मत में हिंसा तथा उसका फल नहीं प्राप्त होते—हिंसा तो प्राप्त नहीं होती आत्मा के नित्य होने से, फल भी आत्मा को (मिलना) उचित नहीं, क्योंकि (वह आत्मा) उपकार के योग्य नहीं । और इस अर्थ को सूचित करने वाली कारिका को प्रस्तुत करते हैं ।

वर्षा और धूप से आकाश का क्या ? उनका फल तो चर्म पर होता है ।
यदि वह चर्म के तुल्य है तो अनित्य है यदि आकाशतुल्य है तो फल न होगा ।।

तब इस प्रकार एक मत में हिंसा व्यर्थ होती है, दूसरे पक्ष में तो बनती (ही) नहीं और निष्फल (भी) होती है ।

दाहः=प्रदाहः—म० म० गङ्गानाथझा के अनुसार यह शब्द नाश के लिये है, दाहशब्देन नाशमुपलक्षयति (पृ०१६० टि० ५) ।

तदभावः—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है । इसमें दिखलाया गया है कि हिंसा तथा उसका फल आत्मा की नित्यता में नहीं बनते, जैसा कि वार्तिककार ने भी कहा है 'तदेवमेकस्मिन् मते······चेति (ऊपर) ।

वर्षातपाभ्याम्—इस कारिका का प्रसङ्ग ज्ञात नहीं हो सका, यदि दिङ्नाग की है तो कहाँ से ली गई है ?

न्यायवार्त्तिकम्

इयं च हिंसा सांख्यपक्षे सम्भवति बुद्धेः परिणामित्वात्, 'कार्यकारणभावः परिणामित्वादुच्छिद्यते, स एव च तत्फलानि भुङ्क्ते, तत्फलस्य तत्र व्यक्तेः? न, पूर्वावस्थाऽपरित्यागात्—'यथैवात्मा पूर्वावस्थां न जहाति' इति तत्र फलं नेष्यते तथा बुद्धिरपि पूर्वावस्थां न जहाति नित्यत्वाद् इति। अथ मन्यसे पूर्वावस्थां जहाति' इति। नित्यत्वं विरुद्ध्यते—पूर्वावस्थापरित्यागेन बुद्धिनित्यत्वं विरुद्ध्यते। अथाप्यवस्था भिद्यत इति मन्यसे? तथाप्यनिवृत्तो व्याघातः, अवस्थातोऽवस्थावतोऽनन्यत्वात्'—न ह्यवस्थातोऽवस्थावानन्य इति, अवस्थाभेदेऽवस्थावान् भिद्यत इति। य एव बौद्धस्य प्रतिक्षणं ध्वंसिषु संस्कारेषु दोषः स एव प्रतिक्षणपरिणामिष्वपि' इति।

(शङ्का) और यह हिंसा सांख्य के मत में हो सकती है, बुद्धि के परिणामी होने से। परिणामी होने से कार्यकारणभाव नष्ट हो जाता है और वह (आत्मा या पुरुष) उसके फलों को भोगता है क्योंकि उस (सुख-दुःख) के फल वहाँ (पुरुष में) व्यक्त होते हैं। [समाधान] नहीं, पूर्वावस्था का त्याग न करने से-जिस प्रकार आत्मा पूर्व अवस्था को नहीं छोड़ता, अतः उस (आत्मा) में फल होना इष्ट नहीं, उसी प्रकार बुद्धि भी पूर्व अवस्था को नहीं छोड़ती क्योंकि वह नित्य है। यदि मानते हो कि पूर्व अवस्था को (बुद्धि) छोड़ देती है तो नित्यता का विरोध होता है—पूर्व अवस्था का त्याग करने से बुद्धि की नित्यता का विरोध होता है। (शङ्का) यदि यह मानते हो कि अवस्था का भेद हो जाता है (बुद्धि का नहीं)। [समाधान] तो भी विरोध की निवृत्ति नहीं होती; अवस्थाओं से अवस्था वाले के भिन्न न होने से—वस्तुतः अवस्था से अवस्था वाला भिन्न नहीं, अतः अवस्था का भेद होने पर अवस्था वाले में भेद हो जाता है। जो ही बौद्ध के मत में प्रतिक्षण नष्ट होने वाले संस्कारों में दोष है, वही प्रतिक्षण परिणत होने वालों में भी (सांख्य के मत में दोष है)।

सांख्यपक्षे—यहाँ सांख्यमत दिखलाया गया है। कारण में विद्यमान (सत्) कार्य की कारणों से अभिव्यक्ति होती है, असत् की उत्पत्ति नहीं।

न पूर्वावस्थापरित्यागात्—यहाँ सांख्यमत का निराकरण किया गया है। सांख्यमत में बुद्धि भी नित्य है, वह पूर्वावस्था को नहीं छोड़ती, यदि छोड़ती है तो उसकी नित्यता नहीं रहती। तीनों प्रकार का धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम नित्य धर्मी से भिन्न नहीं, अतः परिणाम की अनित्यता धर्मी की नित्यता के विरुद्ध है (टी० ५०७)।

य एव बौद्धस्य—जो बौद्धमत में दोष है, वही सांख्यमत में भी, यहाँ प्रतिक्षण परिणाम माना जाता है (टी० ५०७-५०८)।

---

१. कार्यकारणसंभावः, पा०। २. अभेदात्, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

ऋजुवक्रतावदिति चेत्—अथ मन्यसे ऋजुवक्रतादिभेदे यथाङ्गुलिद्रव्यं न भिद्यते, न चाङ्गुलितोऽन्ये ते, तथावस्थाभेदे बुद्धेरभेद इति ? न, अन्यत्वात्—अन्ये ऋजुवक्रते। युक्तं च यदन्यभेदे अन्याभेद[1] इति ? न पुनरवस्थाभ्योऽवस्थावतोऽन्यत्वम्, तस्मादसमो दृष्टान्तः। किं पुनर्वक्रत्वम् ऋजुत्व वा ? गुणः—आकुञ्चनजं वक्रत्वं प्रसारणजम् ऋजुत्वम्। गुणाश्च गुणिनोऽर्थान्तरमिति प्रतिपादितमेतत्।

बुद्धेरप्येवमिति चेत्—अथ मन्यसे बुद्धेरपि ये ते अवस्थे भिद्येते, तयोर्भेदे बुद्धिर्न भिद्यते' इति ? (अन्यावस्थातो बुद्धिः ?) तन्न, सिद्धान्तविरोधात्—न भवतां पक्षे धर्मधर्मिणोर्भेद इति। भेदं चाभ्युपगच्छता सिद्धान्तस्त्यक्तो भवति। तस्माद् यथा आत्मनित्यत्वे सुखदुःखानुपभोगो दोष इति न तत्र सुखदुःखे कल्प्येते' इति तथा बुद्धिनित्यत्वात्, बुद्धावपि न कल्पनीये,[2] समानं नित्यत्वमिति।

(शङ्का) यदि सरलता और वक्रता के समान (यह) है—यदि मानते हो सरलता तथा वक्रता में जैसे अंगुलि द्रव्य का भेद नहीं होता और वे (सीधापन और टेढ़ापन) अंगुलि से भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार अवस्था का भेद होने पर बुद्धि का भेद नहीं होता। [समाधान] नहीं, अन्य होने से—सरलता और वक्रता (अंगुलि से) भिन्न होते हैं और यह उचित है कि अन्य का भेद होने पर, दूसरे का भेद नहीं होता। किन्तु अवस्थाओं से अवस्था वाला अन्य नहीं है, अतः दृष्टान्त असमान है। (प्रश्न) किन्तु वक्रता अथवा सरलता क्या हैं ? (उत्तर) ये गुण है, सिकुड़ने से वक्रता उत्पन्न होती है और फैलाने से सरलता। गुण गुणी से भिन्न होते हैं, यह बतलाया जा चुका है।

(शङ्का) यदि बुद्धि का भी इसी प्रकार है—यदि मानते हो कि बुद्धि की भी उन अवस्थाओं का भेद है, उन (दो) अवस्थाओं का भेद होने पर बुद्धि का भेद नहीं होता, (बुद्धि अवस्था से भिन्न है) ? [समाधान] वह (ठीक) नहीं, सिद्धान्त का विरोध होने से—आप (सांख्य) के मत में धर्म तथा धर्मी का भेद नहीं है, भेद मानने से सिद्धान्त का त्याग होता है। इसलिये जिस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर सुख-दुःख का उपभोग न होना दोष है, वहाँ (आत्मा में) सुख तथा दुःख नहीं बनते इसी प्रकार बुद्धि के नित्य होने से बुद्धि में भी उनकी कल्पना नहीं होगी, दोनों की नित्यता समान (ही) है।

किं पुनर्वक्रत्वम् ऋजुत्वं वा—यहाँ ऋजुता और वक्रता जो गुण हैं उनका स्वरूप दिखलाया गया है।
बुद्धेरप्येवमिति चेत्—बुद्धि की भी अवस्थाओं का भेद है, बुद्धि का नहीं, यह सांख्य का मन्तव्य है।

---

१. भेदेनान्याभेद, पा०। २. कल्प्येते,-पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ आत्मनो नित्यस्य पुण्यपापाभ्यां किं क्रियते? सुखदुःखे। ताभ्यां किं क्रियते? प्रत्ययः[1]। ये सुखदुःखे आत्मनि[2] तद्विषयः प्रत्यय आत्मनि भवत्येतावत् क्रियते। स च प्रत्ययो भोगः। यत् पुनरेतद् वर्षातपाभ्यां किं व्योम्न इति? यदेव चर्मणो वर्षातपाभ्यां क्रियते तद्व्योम्नः। अथ चर्मणः किम् [सम्बन्धः]—यथा चर्म वर्षातपाभ्यां सम्बद्ध्यते तथा व्योमापि। वर्षातपसम्बन्धाच्चर्मवद् अनित्यं व्योमेति चेत्—अथ मन्यसे यथा चर्म वर्षातपाभ्यां सम्बन्धाद् विक्रियते, तथा व्योम वर्षातपसम्बन्धाद् विकरिष्यते[3] इति चेत्? न, अनेकान्तात्—वर्षातपसम्बन्धी परमाणुश्च च नित्य इत्यनेकान्त इति। चर्मणश्चानित्यत्वं किं वर्षातपसम्बन्धादथ कारणविभागादथाश्रयविनाशाद् इति। वयं तु ब्रूमः कारणवतः तद्विभागाद् युक्तो—

(प्रश्न) तब नित्य आत्मा का पुण्य तथा पाप से क्या किया जाता है? (उत्तर) सुख तथा दुःख किये जाते हैं। (प्रश्न) उन (सुख-दुःख) से क्या किया जाता है? (उत्तर) उन (सुख तथा दुःख) से अनुभव (प्रत्यय) किया जाता है—जो सुख-दुःख आत्मा में होते हैं उनके विषय में प्रतीति आत्मा में होती है, इतना किया जाता है। और वह प्रतीति ही भोग है। किन्तु (जो बौद्धों ने कहा है) वर्षा तथा धूप से आकाश का क्या किया जाता है। जो ही चर्म का वर्षा तथा धूप से किया जाता है वही आकाश का। (प्रश्न) तब चर्म का (वर्षा तथा धूप से) क्या किया जाता है? (उत्तर) सम्बन्ध—जिस प्रकार चर्म वर्षा तथा धूप से सम्बद्ध होता है उसी प्रकार आकाश भी। (शङ्का) वर्षा तथा धूप के सम्बन्ध से आकाश (भी) चर्म के समान अनित्य हो जायेगा—यदि मानते हो जैसे वर्षा और धूप से सम्बन्ध रखने के कारण चर्म विकृत हो जाता है उसी प्रकार आकाश वर्षा तथा धूप के सम्बन्ध से विकृत हो जायेगा? [समाधान] नहीं, (क) सव्यभिचार होने से—वर्षा तथा धूप से सम्बन्ध रखने वाला परमाणु है किन्तु नित्य है, अतः यह (कथन) सव्यभिचार है। (ख) और चर्म की अनित्यता क्या वर्षा तथा धूप के सम्बन्ध के कारण होती है अथवा कारणों के विभाग से या आश्रय के नाश से? हम तो कहते हैं कारण वाले का—

सुखदुःखे—यह नैयायिक का कथन है, नैयायिक आह (टी० ५०८)। नित्य आत्मा से भिन्न जो पाप-पुण्य हैं उनके द्वारा आत्मा के धर्म सुख तथा दुःख उत्पन्न होते हैं।

न, अनेकान्तात्—वर्षा और आतप के सम्बन्ध से विकार उत्पन्न होता है, यह तो सव्यभिचार है, परमाणु का वर्षा तथा आतप से सम्बन्ध होता है किन्तु वह नित्य है।

चर्मणश्चानित्यत्वम्—बौद्धसिद्धान्त में परमाणु नित्य नहीं, अतः 'चर्मणश्चानित्यत्वम्' यह कहा गया है (टी० ५०८)।

---

१. सुखदुःखे पुण्यपापाभ्यामात्मनो नित्यस्य क्रियते, अथाभ्यां सुखदुःखाभ्यां नित्यस्यात्मनः किं क्रियते? प्रत्ययः, पा०।

२. आत्मनः, पा०। ३. वर्षातपाभ्यां विकरिष्यते, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

विनाशः[1], न पुनराकाशस्य कारणमस्तीत्युभयाभाव इति, तद्वतां चावस्थानान्न सम्बन्धो नाशहेतुः। यदि चायं सम्बन्धो नाशहेतुरभविष्यत् न तद्वतामवस्थानमभविष्यत्। अवतिष्ठन्ते तु भावाः यावन्न विनाशकारणसन्निपात इति।

अथ मन्यसे वर्षातपाभ्यां चर्मणः संकोचविकाशौ भवतो न त्वाकाशस्येति ? तन्न, विकल्पानुपपत्तेः—संकोचविकाशौ चर्मण इति कोऽर्थः ? किं तावदल्पत्वमहत्त्वे, उत संयोगविभागाविति। तन्न तावत् संकोचविकाशावल्पत्वमहत्त्वे यावद्द्रव्यभावित्वात् परिमाणस्य—यावदद्रव्यं हि परिमाणं तद्द्रव्ये सति न निवर्तत्ते' इति। अथ चर्मणः संकोचविकाशौ संयोगविभादिति तदपि न युक्तमेकत्वात्—न ह्येकस्य संयोगविभागौ संभवत इति।

उस (कारण के) विभाग से नाश होता है। किन्तु आकाश का कारण नहीं है, अतः दोनों (सम्बन्ध तथा विनाश) का अभाव है। (वर्षा तथा धूप से) सम्वन्ध वालों के स्थिर होने से सम्वन्ध नाश का हेतु नहीं—यदि (वर्षा तथा धूप से) सम्वन्ध नाश का हेतु होता तो सम्बन्ध वालों (परमाणु आदि) का अवस्थान (ठहरना, स्थिरता) न होता। किन्तु पदार्थ स्थित रहते हैं जब तक (उनके) विनाश के कारण का आगमन (सन्निपात) नहीं होता।

(शङ्का) यदि मानते हो कि वर्षा और धूप से चर्म का संकोच (सिकुड़ना) और विकास (फैलना) होता है किन्तु आकाश का नहीं ? [समाधान] वह (ठीक) नहीं, विकल्प न बनने से—चर्म के संकोच और विकास का क्या अर्थ है ? (क) क्या अल्पत्व, महत्त्व अथवा (ख) संयोग, विभाग। (क) अल्पता तथा महत्ता तो संकोच विकास है नहीं परिमाण के यावद् द्रव्यभावी (द्रव्य के रहने तक) रहने से—परिमाण तो यावद् द्रव्यभावी होता है, उस द्रव्य के रहते वह निवृत्त नहीं होता। (ख) यदि चर्म के संकोच-विकास उसके संयोग-विभाग हैं वह भी युक्त नहीं (चर्म के) एक होने से—एक के संयोग विभाग संभव नहीं हैं।

उभयाभावः—वर्षा तथा आतप से सम्बन्ध जो विकृति का कारण है तथा विनाश का अभाव है।

तद्वतां चावस्थानात्—तद्वतामुपलादीनामवस्थानात् टी० ५०८ में यह पाठ है। यदि विनाश का ज्ञान न हो तो विनाश में कोई प्रमाण नहीं। उपलादि में अवयवविभाग तथा विनाश से पूर्व विनाश का अनुभव नहीं होता।

यावद् द्रव्यभावित्वात्—यह प्रथम विकल्प मानने में दोष दिखलाया गया है।

एकत्वात्—यह द्वितीय विकल्प मानने में दोष दिखलाया गया है। एक में संयोग-विभाग नहीं होते।

---

1. तद्विभागात् तद्विनाशाद युक्तो विनाशः, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

कथं तर्हीदमुच्यते 'चर्मणः संकोचश्चर्मणो विकाश इति ? चर्मकारणानाम-विनश्यत् कार्याणामवयवानामातपसम्बन्धात् परस्परेण याः प्राप्तयः आरब्धकार्याणां द्रव्यान्तरानारम्भिकास्ता इतरेतरोपश्लेषेणावयवेषु वर्त्तमानास्तदेकार्थसमवायिनि चर्मण्युपचर्यन्ते। तदपेक्षं चेदमुच्यते 'चर्मणः संकोचो' न पुनश्चर्म संकुचति' इति। एतेन तदवयवानामेवोदकसम्बन्धापेक्षणामविनश्यत्ककार्याणां परस्परतो विभागो विकाश इति।

विक्रियायां च दृष्टान्ताभावात्—तदेव च वस्त्वविनश्यद् विक्रियामापद्यते' इति न दृष्टान्तोऽस्ति। विक्रिया तु पदार्थान्तरोत्पादः, यथा पूर्वरूपादिनिवृत्तौ रूपान्तरोत्पादे विकृतो घट इति। यद्येवंभूतो विकार आत्मन्यपि चकास्ति तत्रापि सुखनिवृत्तौ दुःखप्रादुर्भाव इति, सुखप्रत्ययनिवृत्तौ दुःखप्रत्यय इति। तस्मान्नित्यस्यात्मनः सुखदुःखोपभोग इति सिद्धम् ॥ ३।१।५ ॥

(प्रश्न) तब यह कैसे कहा जाता है 'चर्म का संकोच होता है चर्म का विकास होता है ?' (उत्तर) चर्म के कारणों अर्थात् अवयवों के धूप के सम्बन्ध से जो आपस में संयोग (प्राप्तयः) हैं जिन्होंने चर्म रूप कार्य का आरम्भ किया है किन्तु अन्य द्रव्य का नहीं वे (संयोग) परस्पर मिले हुए हैं तथा अवयवों में विद्यमान हैं, अतः (अवयवों) के एकार्थसमवायी चर्म में उपचार से कह दिये जाते हैं। उसी की अपेक्षा से यह उपचार किया जाता है 'चर्म का संकोच है'। वस्तुतः चर्म संकुचित नहीं होता। इस (कथन) से जल के सम्बन्ध की अपेक्षा करने वाले उन अवयवों का ही जिनका कार्य नाशावस्था में नहीं होता परस्पर विभाग ही विकास है।

विकार में दृष्टान्त न होने से भी—वही वस्तु नष्ट न होती हुई विकार को प्राप्त होती है, इसमें दृष्टान्त नहीं है। वस्तुतः (तु) विकार तो अन्य पदार्थ का उत्पन्न होना है, जैसे पूर्व रूप आदि की निवृत्ति होने पर अन्य रूप की उत्पत्ति हो जाने पर 'घट विकृत हो गया' (यह कह दिया जाता है)। यदि इस प्रकार का विकार आत्मा में भी भासित होता है, वहाँ भी सुख की निवृत्ति होने पर दुःख का प्रादुर्भाव तथा सुख की प्रतीति निवृत्त होने पर दुःख की प्रतीति होती है, अतः नित्य आत्मा के सुख-दुःख का उपभोग होता है, यह सिद्ध हो गया ॥ ३।१।५ ॥

कथं तर्हीदमुच्यते ?—चर्म के संकोच विकास क्यों कहे जाते हैं ?

चर्मकारणानाम्......उपचर्यन्ते—चर्म के कारणों अर्थात् अवयवों का जिनका कार्य विनाशावस्था में नहीं है, किन्तु जिन्होंने कार्य आरम्भ कर दिया है, अन्य कार्य आरम्भ नहीं किया है, धूप के सम्बन्ध से जो परस्पर संयोग होता है वह संयोग अवयवों में विद्यमान होता हुआ एकार्थसमवायी चर्म में उपचार से कह दिया जाता है।

आरब्धकार्याणां द्रव्यारम्भिकाः—यहाँ अवयवी के आरम्भक संयोग से भेद दिखलाया गया है।

विक्रियायां च दृष्टान्ताभावात्—धर्मी के स्वरूप का नाश न होते हुए उसमें विकार हो जाता है इसमें दृष्टान्त नहीं।

आत्मन्यपि—विकार बाह्येन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य ही नहीं होते अपितु धर्मी में अन्य धर्म की उत्पत्ति ही विकार है जो आत्मा में भी है, वहाँ सुख के स्थान में दुःख उत्पन्न हो जाता है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ३।१।६ ॥

न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा, अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा, वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमापणलक्षणो वा वधो हिंसेति। कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनम्। तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम्। कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा, न नित्यस्यात्मनः।

न्यायवार्त्तिकम्

नित्यत्वादात्मनो हिंसादोषोऽपरिहार्यः ? न, अन्यथा तदुपपत्तेः—आत्मनित्यत्वेप्यन्यथा हिंसा भवति। अस्यार्थस्य ज्ञापनाय 'न कार्याश्रयकर्तृवधात्' इति सूत्रम्। न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसेति, अपि तु अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य यच्छरीरं यानि च सुखसंवित्तिसाधनानि[1] इन्द्रियाण्यसाधरणानि तेषां पीडा वैकल्यं वा प्रमापणं वा हिंसेति।

(आक्षेप) ठीक नहीं (क) कार्य के आश्रय (शरीर) तथा कर्ता (इन्द्रियों) का वध होने से। (ख) देहेन्द्रियबुद्धिसंघात (कार्याश्रय) वही कर्ता, के वध से॥ ३।१।६ ॥

हम यह नहीं कहते कि नित्य प्राणी का वध हिंसा है, अपितु (यह कहते हैं) विनष्ट न होने वाले प्राणी के कार्याश्रय अर्थात् शरीर का तथा अपने विषयों की उपलब्धि करने वाली (कर्ता) इन्द्रियों का उपघात अर्थात् पीड़ा जिसका स्वरूप (लक्षण) है विकलता या सन्तति का नाश या हिंसन (प्रमापण) अथवा वध वही हिंसा है। कार्य का अभिप्राय है सुख-दुःख का अनुभव। उसका आयतन (स्थान) अर्थात् अधिष्ठान या आश्रय शरीर है। कार्याश्रय अर्थात् शरीर का तथा अपने विषयों की उपलब्धि की कर्ता जो इन्द्रियां हैं उनका वध हिंसा है, नित्य आत्मा का नहीं।

आत्मा के नित्य होने से हिंसा का दोष दूर नहीं किया जा सकता ? नहीं, उस (हिंसा) के अन्य प्रकार से बन जाने से—आत्मा के नित्य होने पर (भी) अन्य प्रकार से हिंसा होती है. इस अर्थ को सूचित करने के लिये 'न कार्याश्रयकर्तृवधात्' यह सूत्र है। हम यह नहीं कहते कि नित्य प्राणी का वध हिंसा है अपितु (यह भाव है) विनष्ट न होने वाले प्राणी का जो शरीर है और जो सुख (दुःख) संवेदन करने के साधन असाधारण इन्द्रियां हैं उनकी पीडा=विकलता या प्रमापण हिंसा है।

न कार्याश्रयकर्तृवधात्—इस सूत्र की भाष्यकार ने दो प्रकार से व्याख्या की है।

वैकल्यं वा प्रमापणं वा—जिस प्रकार शरीर को नष्ट करता हुआ हिंसा करता है उसी प्रकार चक्षु आदि को फोड़ता हुआ भी (टी० ५०९)।

अनुच्छित्तिधर्मकस्य—नाश न होना (अनुच्छित्ति) है धर्म जिसका ऐसे का, नित्य का।

सुखसंवित्ति—न्या०-वै० मत में सुख-दुःख का संवेदन आत्मा को होता है, उसके साधन इन्द्रियां तथा मन हैं।

---

१. सुखदुःखसाधनानि, पा०।

तत्र यदुक्तं 'तदभावः सात्मकदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' इत्येतदयुक्तम्। यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्चेति दोषः। एतावच्चैतत् स्यात् सत्त्वोच्छेदो वा हिंसा, अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयकर्तृवधो वा, न कल्पान्तरमस्ति, सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः। तत्र किमन्यत्? शेषं यथाभूतमिति।

न्यायवार्त्तिकम्

कुत एतत् प्रतिपत्तव्यम्? हिंसायाः फलोपभोगस्य चोभयपक्षसम्प्रतिपन्नत्वात्—हिंसाफलोपभोगश्चोभयपक्षसम्प्रतिपन्नः, सेयं हिंसा एकस्मिन् पक्षे सम्भवति। यस्य तावत् प्रतिक्षणध्वंसिनः संस्कारास्तस्य किं हिंस्यते, निर्हेतुकत्वाद्विनाशस्य कस्य व्यापारोऽस्ति। अथ विलक्षणोत्पत्तिनिमित्तत्वेन व्यवतिष्ठमानः परो हिनस्तीत्युच्यते? ननूपचारो भवति, न भवतः प्रधानमस्ति, येन शरीरोत्पादक उपचर्यते। न, समानत्वात्—भवतामपि पक्षे न प्रधानं हिंस्यते' इति? सत्यम्, ममापि कार्याश्रयकर्तृवधो हिंसेति तुल्यम्। अयं तु विशेषो यत् एकस्मिन् पक्षे य एवायमात्मा शरीरादिसाधनः कर्म करोति, स एव तत्फलमुपभुङ्क्ते' इति अकृताभ्यागमदोषो नास्ति। भवतामकृताभ्यागमः कृतप्रणाशश्चेति।[1] परिशेषाद् आत्मनित्यत्वे हिंसेति व्यवस्थितम्।

उसमें जो कहा है 'तदभावः सात्मकदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' (अर्थात् हिंसा का अभाव होगा सात्मक शरीर का दाह करने पर भी उस (आत्मा) के (नित्य होने से), यह युक्त नहीं। जिसके मत में प्राणी का विनाश हिंसा है उसके मत में किये का नाश बिना किये की प्राप्ति (कृतहानाकृताभ्यागम) यह दोष है। इतना ही हो सकता है कि प्राणी का नाश हिंसा है अथवा विनाश के धर्म से रहित प्राणी के कार्याश्रय (शरीर) तथा कर्त्ता (अपने विषयों को उपलब्ध करने वाली इन्द्रियों) का वध हिंसा है अन्य विकल्प है नहीं। किन्तु (च) प्राणी के विनाश का प्रतिषेध कर दिया गया है। तब अन्य क्या होगा, जो शेष है वास्तविक (यथाभूतम्) है।

(प्रश्न) यह कैसे जाना जा सकेगा? (उत्तर) हिंसा का फलोपभोग दोनों (बौद्ध तथा नैयायिक) पक्षों को अभिमत होने से—हिंसा के फल का उपभोग दोनों पक्षों को अभिमत है। (किन्तु) वह यह हिंसा एक पक्ष में संभव है। जिसके मत में प्रतिक्षण नष्ट होने वाले संस्कार (कार्य) हैं उसके मत में किसकी हिंसा होती है। विनाश जो निर्हेतुक (विना हेतु) होता है वह किसका व्यापार (कार्य) है? (शङ्का) यदि विलक्षण उत्पत्ति का निश्चय करने वाला दूसरा (परः) हिंसा करता है, यह कहा जाता है? [समाधान] इस प्रकार उपचार होता है, आपके मत में प्रधान (मुख्य प्रयोग) नहीं है जिससे शरीरोत्पादक में यह उपचार हो जाये। (शङ्का) नहीं, समान होने से—आपके पक्ष में भी हिंसा की जाती है, यह मुख्य नहीं। [समाधान] ठीक है, मेरे यहाँ भी कार्याश्रयकर्तृवध हिंसा है, यह तो तुल्य है किन्तु यह तो भेद है कि एक पक्ष में जो यह आत्मा है जिसके शरीर आदि साधन हैं, वह कर्म करता है और वही उसका फल भोगता है, अतः बिना किये की प्राप्ति का दोष नहीं। आपके मत में बिना किये की प्राप्ति तथा किये का नाश होता है। परिशेष होने से आत्मा के नित्य होने पर (ही) हिंसा होती है, यह निश्चित है।

कुत एतत्—बौद्ध का अभिप्राय है कि यदि स्वरूप से हिंसा हो सकती है तो भाक्ती मानना ठीक नहीं।

हिंसाफलोपभोग०—हिंसा का फल होता है, यह दोनों मानते हैं। सभी भावों को स्वतः नाशवान् मानने वाले बौद्ध के मत में भी शरीर की हिंसा भाक्ती है, अतः जिस मत में कृतनाश एवं अकृताभ्यागम नहीं वह मत स्वीकार्य है।

---

1. कृतहानं चेति, पा०।

न्यायभाष्यम्

अथवा कार्याश्रयकर्तृ वधादिति, कार्याश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसंघातः, नित्यस्यात्मनः तत्र सुखदुःखसंवेदनं तस्याधिष्ठानमाश्रयः तदायतनं तद्भवति, न ततोऽन्यदिति, स एव कर्त्ता, तन्निमित्ता हि सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिः, न तमन्तरेणेति। तस्य वध उपघातः पीडा प्रमापणं वा हिंसा, न नित्यत्वेनात्मोच्छेदः। तत्र यदुक्तं 'तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' एतन्नेति ॥ ३।१।६ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

तत्र कार्याश्रयशब्देन शरीरमुच्यते तन्निमित्तत्वादुपभोगस्येति, कर्तृणीन्द्रियाणि तत्साधनत्वात्।

अथवा समानाधिकरणसमासाच्छरीरमेव कार्याश्रयकर्तृशब्दाभ्यामुच्यते' इति, कर्त्ता भोक्ता चात्मा। किं पुनरिदं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा किमिति ? ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायः कर्तृत्वम्, सुखदुःखसंवित्समवायो भोक्तृत्वम्। एतत्तु न शरीरे, निमित्तत्वात् कर्तृ शरीरमुच्यते ॥ ३।१।६ ॥

अथवा 'कार्याश्रयकर्तृवधात्' इसका अभिप्राय है; कार्याश्रय अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन (बुद्धि) का समुदाय, नित्य आत्मा का वहाँ सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसका अधिष्ठान आश्रय, उसका आयतन वह होता है, उससे भिन्न नहीं, वह ही कर्ता है, वस्तुतः उसके निमित्त से ही सुख-दुःख के अनुभव की उत्पत्ति होती है, उसके बिना नहीं। उसका वध नाश या पीडा ही प्रमापण या हिंसा है, नित्य होने से आत्मा का नाश नहीं होता। उस विषय में जो कहा गया है 'तदभावः सात्मकदाहेऽपि' तन्नित्यत्वाद् यहठीक नहीं ।। ३।१।६ ।।

वहाँ 'कार्याश्रय' शब्द से शरीर कहा जाता है, क्योंकि आत्मा का उपभोग उसके निमित्त से होता है, कर्ता इन्द्रियाँ कही जाती हैं; क्योंकि वे (उपभोग) के साधन हैं।

अथवा कर्मधारय (समानाधिकरण) समास होने से शरीर ही कार्याश्रय तथा कर्तृ शब्दों से (कार्याश्रयश्च कर्ता च) कहा जाता है, इस प्रकार कर्ता तथा भोक्ता आत्मा ही है। (प्रश्न) यह कर्तृत्व क्या है ? अथवा यह भोक्तृत्व क्या है ? (उत्तर) ज्ञान, कर्म करने की इच्छा (चिकीर्षा) तथा प्रयत्न तीनों का एक में होना (समवायः) कर्तृत्व है, सुख-दुःख के संवेदन का समवाय भोक्तृत्व है। यद्यपि यह शरीर में नहीं है, तथापि शरीर के निमित्त होने से शरीर को कर्ता कहा जाता है ।। ३।१।६ ।।

समानाधिकरणसमासात्—तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः, कर्मधारयसमास से।

कर्तृत्वम्—उपाय तथा उनसे कार्य करने के ढंग को जानने वाला (तद्व्यापाराणाम्), कार्य करने की इच्छा वाला भी नहीं कार्य करता यदि उपायों से कार्य करना नहीं जानता। इसी प्रकार न चाहता हुआ, न प्रयत्न करता हुआ कार्य को नहीं करता। अतः ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न तीनों मिलकर कर्तृत्व होता है। टी० ५०९।

भोक्तृत्वम्—सुख-दुःख अनुभव करना भोक्तृत्व है। सुख-दुःख भोगने वाला ही भोक्ता कहलाता है। यहाँ 'स्वसुखदुःख' ऐसा समझना चाहिये। (टी० ५०९)।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

३. [चक्षुद्वैतपरीक्षा]

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा,

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ३।१।७ ॥

पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्, 'तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थः' इति। सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिजानाद्, 'यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामि' इति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिज्ञानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानम्। तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः ॥ ३।१।७ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा। 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्।' सव्येन चक्षुषा दृष्टमितरेण प्रत्यभिज्ञानातीति सूत्रम्। तच्च प्रतिसन्धानं प्रत्यभिज्ञानम्, स्मृतिपूर्वकत्वात् प्रत्यभिज्ञानस्य, प्रतिसन्धानाच्चैककर्तृत्वं प्रत्ययानां सिध्यति' इति।

---

३. [चक्षु की एकता की परीक्षा]

इसलिये भी देहादि से भिन्न आत्मा है।

बायें (सव्य) नेत्र से देखे गये की दूसरे से प्रत्यभिज्ञान होने के कारण ॥ ३।१।७ ॥

पूर्व और पर विज्ञानों का एक विषय में प्रतिसन्धान ही प्रत्यभिज्ञान है, (जो इस रूप में होता है) उसी को इस समय देखता हूँ जिसे (मैंने) जाना था वही यह पदार्थ है। बायें नेत्र से देखे गये का दूसरे (दायें) नेत्र से प्रत्यभिज्ञान (पहचान) होने से—'जिसे (मैंने) देखा था उसी को अब देखता हूँ'। इन्द्रिय की चेतनता होने पर तो यह प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता। किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान होता है, अतः इन्द्रिय से भिन्न चेतन (आत्मा) है ॥ ३।१।७ ॥

इसलिये भी देहादि से भिन्न आत्मा है, 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' बायें नेत्र से देखे गये का दूसरे (दायें) से प्रत्यभिज्ञान करता है, यह सूत्र है। और वह प्रत्यभिज्ञान प्रतिसन्धान ही है, प्रत्यभिज्ञान स्मृतिपूर्वक होता है। प्रतिसन्धान होने से सिद्ध होता है कि ज्ञानों का कर्ता एक है।

चक्षुद्वैतपरीक्षा—किन्ही विद्वानों के अनुसार आत्मा की शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्नता ही २६वें सूत्र तक सिद्ध की गई है। यह प्रासङ्गिक प्रकरण है। न्यायसूचीनिबन्ध तथा तात्पर्यटीका में यह पृथक् प्रकरण प्रतीत होता है जो वार्त्तिककार को इष्ट नहीं है। इनके अनुसार पूर्वप्रकरण से ही यह सिद्ध है।

इस प्रकरण में भी भाष्यकार तथा वार्त्तिककार का मतभेद है। भाष्यमत में चक्षुरिन्द्रिय का द्वैत है तो वार्त्तिकमत में एकत्व ही सिद्धान्त है (द्र० म० म० गङ्गानाथ झा टिप्पणी)। चक्षु का द्वैत मानने वाले भाष्यकार के मत में यह सूत्र सिद्धान्ती का है, वार्त्तिकमत में तो यह सूत्र निराकरण के लिये है।

इतश्च—यह देहादि से भिन्न आत्मा की सत्ता में अन्य हेतु दिया गया है।

प्रत्यभिज्ञानम्—यहाँ भाष्य तथा वार्त्तिक में प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप दिखलाया गया है। भाष्यकार दिखलाते है कि मानस अनुव्यवसाय ही प्रत्यभिज्ञान है।

न्यायवार्त्तिकम्

सिद्धत्वादनारम्भ इति—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादित्येतस्मिन् प्रकरणे सिद्ध आत्मव्यतिरेकः, सिद्धत्वादनारभ्यं प्रकरणम्' इति ? इन्द्रियव्यतिरेकज्ञापनार्थमित्येके—एके इदं प्रकरणमिन्द्रियव्यतिरेकज्ञापनार्थं वर्णयन्ति । तन्न, तत एव सिद्धेः—पूर्वप्रकरणेनैव इन्द्रियशरीरव्यतिरेकः सिद्ध इति । समुच्चयार्थमित्यपरे—अपरे तु समुच्चयार्थं सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानादिति हेतुं ब्रुवते । युक्तोऽन्यः समुच्चयः, अयं तु न युक्तो विरोधात्—सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानादिति ब्रुवाणो युक्तिं बाधते । का पुनरियं युक्तिबाधा ? अनेकत्वादिन्द्रियस्य युगपदधिष्ठानासम्भवः—अणु मनोऽनेकं चक्षुः, न चाणोर्मनसो युगपदनेकेन चक्षुषा सम्बन्धः सम्भवति ।

सिद्ध होने से (प्रकरण का) आरम्भ न करना चाहिये—दर्शन स्पर्शन से एक पदार्थ का ग्रहण होने के कारण आत्मा (इन्द्रियों से) भिन्न है। इस प्रकरण में आत्मा की भिन्नता सिद्ध है, सिद्ध होने के कारण प्रकरण का आरम्भ न करना चाहिये। (इस पर एक मत) कुछ (एके) कहते हैं कि यह इन्द्रियों की भिन्नता सूचित करने के लिये है—कुछ कहते हैं (वर्णयन्ति) कि यह प्रकरण इन्द्रियों की भिन्नता सूचित करने के लिये है। [सिद्धान्ती] वह (ठीक) नहीं, उस (प्रकरण) से ही सिद्ध हो जाने के कारण—पूर्व प्रकरण से ही इन्द्रियों तथा शरीर से (आत्मा का) भेद सिद्ध है। (अपरमत) दूसरे (कहते हैं) कि यह समुच्चय के लिये है—दूसरे तो कहते हैं कि 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्'—बायें नेत्र से देखे गये का दूसरे (दायें) से प्रत्यभिज्ञान होने के कारण' इस हेतु को समुच्चय के लिये कहते हैं। (सिद्धान्ती) अन्य समुच्चय ठीक है, यह तो ठीक नहीं विरोध होने के कारण—बायें से देखे गये का दूसरे से प्रत्यभिज्ञान होने के कारण, यह कहने वाला युक्ति का बाध करता है। (प्रश्न) यह युक्ति की बाधा क्या है ? (उत्तर) (क) इन्द्रियों के अनेक होने से एक साथ अधिष्ठान (अधिष्ठान करना, साथ रहना) संभव नहीं—मन अणु है, नेत्र अनेक हैं किन्तु अणु मन का अनेक नेत्रों से (एक साथ) सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सिद्धत्वादनारम्भः—शङ्का की गई है कि दर्शन तथा स्पर्शन से एक पदार्थ का ग्रहण होने के कारण इन्द्रियों का भेद सिद्ध ही है, अतः इस प्रकरण का आरम्भ न करना चाहिये। इसके कई समाधान वार्त्तिक में किये गये हैं। तात्पर्यटीका में यह सब ११वें सूत्र के अन्त में है। यह निश्चित करना कठिन है कि किसका क्या मत है।

का पुनरियं युक्तिबाधा—युक्ति का बाध आगे दिखलाया जा रहा है।

अनेकत्वाद्—यह प्रथम युक्तिबाधा है। अनेत्र \नेकहैं किन्तु मन अणु है, वह अणु मन एक साथ अनेक नेत्रों से सम्बन्ध नहीं रख सकता। इसके आगे अन्य युक्तिबाधा दिखलाई गई हैं।

न्यायवार्त्तिकम्

अथासम्बद्धमपि द्वितीयं चक्षुरर्थानालोचयति ? एवं च सति द्वितीयचक्षुर्वदितरचक्षुरपि मनसाऽनधिष्ठितमेव प्रवर्त्तिष्यत इति व्यर्थं मनः प्राप्तम्। अनधिष्ठितं च प्रवर्तमानमिन्द्रियं करणत्वं बाधते—न च करणमनधिष्ठितं प्रवर्त्तमानं दृष्टमिति। समग्रासमग्रयोश्च तुल्योपलब्धिप्रसङ्गः—न ह्यनधिष्ठितमिन्द्रियं प्रवर्तते' इत्यणुत्वान्मनसा नित्यमेकमेव सम्बद्ध्यत इति, विकलाविकलयोस्तुल्योपलब्धिः प्राप्नोति। प्रकरणविरोधश्च—इन्द्रियपञ्चकत्वादितीन्द्रियपञ्चत्वप्रतिपादकं प्रकरणं विरुद्ध्यते' इति।

(शङ्का) यदि सम्बद्ध न होकर भी दूसरा नेत्र पदार्थों को देख लेता है ? [समाधान] ऐसा होने पर दूसरे नेत्र के समान अन्य नेत्र भी मन से अधिष्ठित न हुआ ही (अपने कार्य में) प्रवृत्त होगा, अतः (ख) मन व्यर्थ हो जाता है। (ग) (मन से) अधिष्ठित न होकर प्रवृत्त होती हुई इन्द्रिय के करण होने में बाधा पड़ती है—करण को अनधिष्ठित प्रवृत्त होता नहीं देखा गया। (घ) समग्र तथा असमग्र की समान रूप से प्राप्ति होने लगेगी—वस्तुतः अधिष्ठित हुए विना इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं होती तथा मन के अणु होने के कारण सदा एक इन्द्रिय ही (मन से) सम्बद्ध होती है। विकल (असमग्र) तथा अविकल (समग्र) की समान रूप से उपलब्धि प्राप्त होती है (?) (ङ) प्रकरण का विरोध भी होता है—इन्द्रियों के पाँच होने से, यह इन्द्रियों की पाँच संख्या का प्रतिपादक प्रकरण भी विरुद्ध होता है।

अथासम्बद्धमपि—मन से सम्बद्ध न होकर भी दूसरा नेत्र पदार्थ को देख लेता है (आलोचयति=आलोचन या निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कर लेता है)।

व्यर्थं मनः प्राप्तम्—यदि नेत्र आदि इन्द्रिय मन के अधिष्ठान के बिना ही अपना कार्य कर सकती है तो मन का व्यर्थ होना प्राप्त होता है।

करणत्वं बाधते—जो करण (साधन) होता है, वह किसी से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है जैसे परशु।

समग्रासमग्रयोश्च तुल्योपलब्धिप्रसङ्गः—इसकी ही व्याख्या है, विकलाविकलयोः तुल्योपलब्धिः प्राप्नोति। भाव यह है कि तब एक आँख वाले को तथा दोनों आँख वाले को समान चाक्षुष ज्ञान हुआ करेगा किन्तु होता नहीं।

प्रकरणविरोधश्च—इसी प्रकरण में इन्द्रियों की संख्या पाँच कही गई है, उसका विरोध होता है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ३।१।८ ॥

एकमिदं चक्षुर्मध्ये नासास्थिव्यवहितम्, तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतो मध्यव्यवहितस्य दीर्घस्येव ॥ ३।१।८ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

यदि तर्ह्येकमिन्द्रियं द्वित्वोपलब्धिः कथम् ? द्वित्वोपलब्धिप्रतिपादनार्थं 'नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानाद्' इति सूत्रम्। एकमिन्द्रियं द्रव्यं द्व्यधिष्ठानमभिन्नम्। कोऽधिष्ठानार्थः ? तैजसस्य चक्षुषः पार्थिवेन कृष्णसारेण उपकारविकारभेदानुविधानम्—यस्मात् कृष्णसार उपक्रियमाण उपक्रियते, विक्रियमाणे विक्रियते, तिष्ठति पश्यतीति, तस्मादस्य कृष्णसारमधिष्ठानमुच्यते। एतच्च व्याख्यातं शरीरसूत्रे। तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतः, यथा दीर्घस्य द्रव्यस्य मध्ये व्यवहितस्यान्तावुपलभ्यमानौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयत इति ॥ ३।१।८ ॥

नहीं, नासिका की हड्डी से व्यवधान होने पर (एक में) दो होने की भ्रान्ति होने से ॥ ३।१।८ ॥

यह एक नेत्र है जो बीच में नाक की हड्डी से व्यवहित है, उसके अन्त (छोर) गृहीत होते हैं जो दो होने की भ्रान्ति का हेतु होते हैं जिस प्रकार मध्य में व्यवहित बड़े (दीर्घद्रव्य) का होता है ॥ ३।१।८ ॥

यदि (चक्षुः) इन्द्रिय एक है तो दो होने का (द्वित्व का) ज्ञान कैसे होता है ? द्वित्व का ज्ञान बतलाने के लिये 'नैकस्मिन् नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्' यह सूत्र है। इन्द्रियद्रव्य एक है, अभिन्न है, इसके दो अधिष्ठान (स्थान) हैं। (प्रश्न) अधिष्ठान का क्या अभिप्राय है ? (उत्तर) तैजस चक्षु का पार्थिव कृष्णसार (काला तारा) से उपकार, विकार तथा भेद का अनुसरण करना—क्योंकि काले तारे का उपकार किया जाने पर (चक्षु) का उपकार किया जाता है और विकृत किये जाने पर विकृत होता है, उसके (ठीक) रहने पर देखता है; इसलिये कृष्णसार (काला तारा) इस (नेत्र) का अधिष्ठान कहलाता है। और यह शरीरविषयक सूत्र में व्याख्या की जा चुकी है। उसका अन्त (छोर) गृहीत होता है जो द्वित्व की भ्रान्ति का निमित्त होता है जिस प्रकार बड़े द्रव्य के जो मध्य में व्यवहित होता है उसके अन्त (छोर) उपलब्ध होते हुए द्वित्व की भ्रान्ति के निमित्त होते हैं ॥ ३।१।८ ॥

नैकस्मिन्—यह आक्षेपसूत्र है। अभिप्राय यह है कि चक्षु एक ही है नासिका की अस्थि से व्यवधान होने के कारण दो दिखाई देते हैं।

कोऽधिष्ठानार्थः—इस प्रश्न से अधिष्ठान का अभिप्राय पूछा गया है।

अधिष्ठानम्—कृष्णसार (काला तारा) ही चक्षु का अधिष्ठान है, जो पार्थिव है। चक्षु तो तैजस है किन्तु काले तारे के उपकार से वह उपकृत होता है उसके विकार से विकृत हो जाता है। इस प्रकार काला तारा ही चक्षु का अधिष्ठान है।

न्यायसूत्रं भाष्यम् च

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् । ३।१।९॥

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहण-लिङ्गम् । तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः । ३।१।९॥

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः । ३।१।१०॥

'एकविनाशे द्वितीयाविनाशाद्' इत्यहेतुः । कस्मात् ? वृक्षस्य हि कासुचिच्छाखासु छिन्नासूपलभ्यते एव वृक्षः । ३।१।१०॥

न्यायवार्त्तिकम्

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान् नैकत्वम् । एकस्मिन् विनष्टे उद्धृते वा द्वितीयमवतिष्ठते, विषयग्रहणे लिङ्गम् । नान्यथा तदुपपत्तेः—'द्वितीयमवतिष्ठते' इति नैतत् कस्यचित् प्रत्यक्षम्, प्रत्ययमात्रं तु विनष्टेऽप्येकस्मिन् अधिष्ठाने यदवतिष्ठते तेन भवति । न चाधिष्ठानमिन्द्रियम्, अपि तु यत्तदनुविधायि तदनुविधत्ते' इति[1], यथा बहुवातायनस्य वेश्मन एकपिधानाद् इतरेण[2] ग्रहणम्' इति । ३।१।९॥

अपरे तु 'अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः' इति परिहारं[3] वर्णयन्ति । ३।१।१०॥

एक का विनाश होने पर दूसरे का विनाश न होने से एक नहीं । ३।१।९।

एक नेत्र के मारे जाने पर अथवा निकाल देने पर दूसरा रहता है जो चाक्षुष विषय के ग्रहण से जाना जाता है । इसलिये एक (नेत्र) का (नाक की हड्डी से) व्यवधान नहीं बनता । ३।१।९॥

अवयव का नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से यह हेतु नहीं । ३।१।१०॥

एक के विनाश से दूसरे का विनाश न होने पर यह हेतु ठीक नहीं । क्यों ? वस्तुतः वृक्ष की कुछ शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष उपलब्ध होता ही है । ३।१।१०।

'एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम्' (यह सूत्र है) । एक के नष्ट हो जाने पर या निकल जाने पर दूसरा (नेत्र) रहता है जिसमें विषय का ग्रहण बोधक (लिङ्ग) है । नहीं, अन्य प्रकार से उसके बन जाने से—दूसरा (नेत्र) शेष रहता है, यह किसी का प्रत्यक्ष नहीं; प्रतीतिमात्र तो एक स्थान (अधिष्ठान) के नष्ट हो जाने पर भी जो शेष रहता है उससे हो जाती है । किन्तु अधिष्ठान (ही) इन्द्रिय नहीं, अपि तु जो उसका अनुसरण करने वाला है, वह अनुसरण करता है, जिसप्रकार बहुत सी खिड़की वाले (बहुवातायनस्य) घर की एक (खिड़की) बन्द हो जाने से दूसरी से ग्रहण हो जाता है । ३।१।९॥

दूसरे (?) तो यह परिहार कहते हैं कि अवयव का नाश हो जाने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से यह हेतु नहीं । ३।१।१०॥

उद्धृते वा—उखाड़ने पर, उखड़ जाने पर, निकल जाने पर ।

विषयग्रहणलिङ्गम्—वार्तिक में विषयग्रहणे लिङ्गम्, यह पाठ है । भाष्य के अनुसार 'विषयग्रहणं लिङ्गं यस्य' (बहुव्रीहि) यह विग्रह होगा । वार्तिक के पाठ में म० म० गङ्गानाथझा ने यह अर्थ किया है 'तदर्थस्तु द्वितीयमेव चक्षुः विषयग्रहणे लिङ्गं (करणं) भवति । उद्योतसहितन्यायसूत्रभाष्ये' पृ० १६४ टि० २ ।

अन्यथा तदुपपत्तेः—अधिष्ठान के नष्ट होने पर प्रतीति बन सकती है । इसकी आगे व्याख्या की गई है ।

---

१. तदेकमनुविधत्ते इति, पा० । २. पिधानमपरेण, पा० । ३. परिहारान्तरं, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

दृष्टान्तविरोधाद् अप्रतिषेधः ।३।२।११॥

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते नित्यत्वप्रसङ्गात् । बहुष्वयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः । येषां कारणान्य-विभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते ।

न्यायवार्त्तिकम्

तस्योत्तरम्, दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेध इति सूत्रम् । अस्यार्थः, न कारणद्रव्य-विनाशे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते । यदि नावतिष्ठते कथं कारणद्रव्यविनाशे कार्यम् उपलभ्यते इति ? क एवम् आह 'उपलभ्यते' इति, अपि तु बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तद्विनष्टम्, यस्य न विभक्तानि[1] तद् उपलभ्यते' इति ।

दृष्टान्त का विरोध होने के कारण (यह) प्रतिषेध (ठीक) नहीं। ३।१।११॥

कारण द्रव्य (अवयवों) का विभाग हो जाने पर कार्यद्रव्य नहीं शेष रहता वह नित्य होने लगेगा। बहुत से अवयवी होने पर जिसके कारण विभक्त हो जाते हैं, वह नष्ट हो जाता है, जिनके कारण (अवयव) अविभक्त रहते हैं, वे शेष रहते हैं।

इसका उत्तर है 'दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः' यह सूत्र । इसका अभिप्राय है कारणद्रव्य का विनाश हो जाने पर कार्यद्रव्य शेष नहीं रहता । (प्रश्न) यदि नहीं शेष रहता तो कारणद्रव्य का नाश हो जाने पर कार्य क्यों उपलब्ध होता है ? (उत्तर) कौन यह कहता कि (कारणद्रव्य का नाश हो जाने पर कार्य) उपलब्ध होता है, अपि तु बहुत से अवयवी होने पर जिसके कारण विभक्त हो जाते हैं वह नष्ट हो जाता है, जिसके (कारण) विभक्त नहीं होते वह उपलब्ध होता है।

दृष्टान्तविरोधात्—यह सिद्धान्त सूत्र है। इसमें अवयवनाशे इत्यादि का उत्तर दिया गया है। दोनों नेत्रों को एक अवयवी नहीं माना जाता, अतः दृष्टान्त का विरोध है। 'तस्योत्तरम्' यह वार्त्तिक में भी कहा गया है। सूत्र के कई अर्थ हैं जो भाष्यकार ने दिखलाये है। यह प्रथम अर्थ है।

कारणानि—अवयवः। अवयवी अवयवों से बना होता है। अतः अवयवी के कारण हैं अवयव। ये अवयवी बहुत से हैं जिसके अवयव पृथक्-पृथक् हो जाते हैं वह अवयवी नष्ट हो जाता है।

विभक्तानि—(अवयव) पृथक्-पृथक् हो (गये) जाते हैं।

अवतिष्ठन्ते—शेष रहते हैं, बचते हैं।

---

१. न विनष्टानि, पा०।

न्यायभाष्यम्

अथवा दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः। मृतस्य हि शिरः कपाले द्वावटौ नासास्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्येते। न चैतद् एकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते सम्भवति।

अथ वा एकविनाशस्याऽनियमाद् द्वाविमावर्थों, तौ च पृथगावरणोपघातौ, अनुमीयेते विभिन्नाविति।

अवपीडनात् चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्निकर्षस्य भेदाद् दृश्यभेद इव गृह्यते, तच्चैकत्वे विरुद्ध्यते। अवपीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानमिति। तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः। ३।१।११॥

न्यायवार्त्तिकम्

शेषं भाष्ये। ३।१।११॥

अथवा दिखाई देने वाले पदार्थ का विरोध (ही) दृष्टान्तविरोध है। वस्तुतः मृतक के सिर के कपाल में दो गड्ढे (अवटौ) नाक की हड्डी से व्यवहित नेत्र के स्थान में भेद से गृहीत होते हैं। यह नाक की हड्डी से व्यवहित एक में नहीं हो सकता।

अथवा एक के नष्ट होने पर दूसरे के नष्ट होने का नियम न होने के कारण ये दो अर्थ (द्रव्य) हैं। और वे पृकक्-पृथक् आवरण तथा उपघात वाले भिन्न-भिन्न हैं, यह अनुमान किया जाता है।

और एक नेत्र के बन्द करने से (अवपीडनात्), किरणों के विषय के सन्निकर्ष का भेद होने के कारण दृश्य का भेद सा गृहीत होता है और वह एक होने के विरुद्ध है। बन्द करना समाप्त होने पर अभिन्नता का भान होता है। इसलिये एक (नेत्र) का नाक की हड्डी से व्यवधान नहीं बनता। ३।१।११॥

शेष भाष्य में (कहा गया) है। ३।१।११॥

अथवा दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः—यह द्वितीय व्याख्या है। दृष्टान्त विरोध का अभिप्राय है दृश्यमान अर्थ का विरोध जो आगे दिखलाया जा रहा है।

अथवा एकविनाशस्याऽनियमाद्—यह तृतीय व्याख्या है, तृतीय व्याख्यानमाह टी० ५१०। चक्षु के एक होने पर विनाश का नियम न होगा कि बायें नेत्र का ही नाश हुआ दाहिने का नहीं। एक होने पर बायें का नाश होने पर दाहिने का भी नाश हुआ करे। किन्तु यह नियम देखा जाता हैं, अतः ये दो ही नेत्र हैं जिनके पृथक्-पृथक् आवरण हैं और पृथक्-पृथक् ही उपघात होता है।

अवपीडनात्—एक नेत्र को अंगुलि से दबा लेने से (अवपीडनात्) नेत्र की किरणों का भेद होने के कारण विषय के सन्निकर्ष का भेद हो जाता है। यदि नेत्र एक होता तो भेद न हुआ करे। जब अवपीडन की निवृत्ति हो जाती है तब वैसा ही दिखलाई देता है जैसा पहले दिखलाई देता था (टी० ५१०) अतः एक नेत्र में नासिका की अस्थि से व्यवधान नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न नेत्र हैं।

टीका में सिद्धत्वाद् आदि ग्रन्थ कहा है। टीकाकार कहते है, 'तदेतत् प्रकरणं वार्त्तिककारो दूषयति टी० ५१०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अनुमीयते चायं देहादिसंघातव्यतिरिक्तश्चेतन इति,

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ ३।१।१२॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्तितोदन्तोदकसंप्लवो गृह्यते । तस्येन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरति । ३।१।१२॥

न्यायवार्त्तिकम्

अनुमीयते चायं देहादिव्यतिरिक्तश्चेतन आत्मा, 'इन्द्रियान्तरविकारात्' । कस्यचिदम्लस्य फलस्य दृष्टसाहचर्ये[1] रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनेन्द्रियविकारः । कः पुनर्विकारः ? रसानुस्मृतौ रसगर्द्धिप्रर्वात्तत (गर्द्धिः=तृष्णा) रसतृष्णाप्रवर्त्तितो दन्तान्तरपरिस्रुताभिरद्भी रसनेन्द्रियस्य संप्लवः सम्बन्धो विकारः इत्युच्यते । सा चेयं स्मृतिरिन्द्रियचैतन्ये न प्राप्नोति, न च प्रतिक्षणध्वंसिषु[2] संस्कारेष्वन्यानुभूतस्यान्येनास्मरणाद्[3] इति ।

और देहादि के संघात से भिन्न चेतन (आत्मा) है, यह अनुमान भी किया जाता है,

(एक इन्द्रिय से जानने पर) दूसरी इन्द्रिय में विकार होने से । ३।१।१२॥

किसी खट्टे फल की (पहले) जिसके रस से (रूप या गन्ध की) व्याप्ति (साहचर्य) गृहीत हो गई है, किसी इन्द्रिय से (उसका) रूप या गन्ध गृहीत होने पर जिह्वा (रसनेन्द्रिय) जो अन्य इन्द्रिय है उसका विकार=रस की स्मृति होने पर रस के लोभ से प्रवर्तित हुआ दन्तोदक का इकट्ठा होना (संप्लवः) गृहीत होता है। इन्द्रियों की चेतनता होने पर वह नहीं बनता, अन्य के देखे गये को दूसरा स्मरण नहीं करता । ३।१।१२॥

अन्य इन्द्रिय के विकार से भी यह अनुमान किया जाता है कि देहादि से भिन्न चेतन आत्मा है (इसलिये सूत्र है) इन्द्रियान्तरविकारात् । किसी खट्टे फल की (रस के साथ रूप या गन्ध की) व्याप्ति देखने पर किसी इन्द्रिय से रूप या गन्ध का ग्रहण होने पर जिह्वा में विकार होता है। (प्रश्न) किन्तु विकार क्या है ? (उत्तर) रस की स्मृति होने पर रस की इच्छा से प्रवृत्त हुआ (गर्द्धिः=तृष्णा) रस की तृष्णा से प्रवृत्त हुआ, दाँतों के मध्य बहते हुए जल से (अद्भिः) जिह्वा का सम्बन्ध हो जाता है वह विकार कहा जाता है । वह यह स्मृति इन्द्रियों के चेतन होने पर नहीं प्राप्त होती । और न ही प्रत्येक क्षण नष्ट होने वाले संस्कारों में, क्योंकि अन्य के द्वारा अनुभूत का दूसरे को स्मरण नहीं होता ।

अनुमीयते च—विप्रतिपन्न के प्रति अनुमान दिया जाता है । वस्तुतः अनुभव से ही यह (आत्मा) जान लिया जाता है (द्र० टी० ५११) ।

इन्द्रियान्तरविकारात्—यह सिद्धान्त सूत्र है, अन्य इन्द्रिय में विकार होने से ।

रसगर्धि०—रस की इच्छा से प्रवृत हुआ, यह दन्तोदकसंप्लवः का विशेषण है ।

अन्यानुभूतस्यान्येनास्मरणात्—अन्य के द्वारा अनुभूत (अनुभव किये गये) का अन्य को स्मरण नहीं होता । यह हेतु इन्द्रियचैतन्य तथा प्रतिक्षणध्वंसि संस्कार दोनों के लिये है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् । ३।१।१३।।

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्ताद् उत्पद्यते, तस्याः स्मर्त्तव्यो विषयः, तत्कृत इन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृत इति । ३।१।१३।।

न्यायवार्त्तिकम्

इन्द्रियान्तरविकार इन्द्रियान्तरधर्मः, स कथं व्यधिकरणत्वाद् आत्मव्यतिरेकं प्रतिपादयति ? न, इन्द्रियान्तरविकार आत्मव्यतिरेकप्रतिपत्तिकारणम्, अपि तु स्मृतिः —न ह्येकमनुभवितारमन्तरेण स्मृतिः प्राप्नोति, स्मृतिश्च भावत्वाद्भवितृपेक्षा उत्पत्तिवदितिन्यायः । न च स्मृतिमन्तरेणेन्द्रियविकारः सम्भवति इति प्रत्यक्ष इन्द्रियान्तरविकार उपादीयते, अननुभूतरसस्येन्द्रियविकाराभावाद्' इति व्यतिरेकहेतुः । ३।१।१२।।

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् । स्मृतिर्नाम धर्मस्तस्याः स्मर्त्तव्योऽर्थो विषयः सेयं स्मर्तव्यार्थसन्निधानाद् उपजायमानाऽपरिदृष्ट सामर्थ्यं न स्मर्तारं प्रतिपादयिष्यति ।[1] न हि स्वकारणसन्निधानादुपपन्नोऽङ्कुरोऽपरिदृष्टसामर्थ्यं कुम्भादिकमर्थं प्रतिपादयति ३।१।१३।।

(आक्षेप सूत्र)

नहीं, स्मृति के स्मर्तव्यविषयक होने से । ३।१।१३।।

स्मृति (एक) धर्म है जो निमित्त से उत्पन्न होता है । उसका विषय स्मरण-योग्य (पदार्थ) है । उसका किया हुआ अन्य इन्द्रिय का विकार है आत्मा का किया हुआ नहीं । ३।१।१३।।

(प्रश्न) अन्य इन्द्रिय का विकार तो अन्य इन्द्रिय का धर्म है, भिन्न आधार में होने से वह आत्मा की भिन्नता कैसे सिद्ध करता है ? (उत्तर) नहीं (वस्तुतः) अन्य इन्द्रिय (रसना) का विकार आत्मा की भिन्नता के ज्ञान का हेतु नहीं अपि तु स्मृति है । एक अनुभव करने वाले के बिना स्मृति नहीं प्राप्त होती, और स्मृति क्रिया है जो स्मर्ता की अपेक्षा रखती है जैसे उत्पत्ति (उत्पत्ता) की यह न्याय है । स्मृति के बिना तो अन्य इन्द्रिय में विकार सम्भव नहीं, अतः प्रत्यक्ष होने वाले अन्य इन्द्रिय के विकार को हेतु रूप में दिया गया है । जिसने रस का अनुभव नहीं किया उसकी अन्य इन्द्रिय में विकार नहीं होता, यह व्यतिरेकी हेतु है । ३।१।१२।।

'न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' (यह सूत्र है) । स्मृति नाम का धर्म है उसका विषय स्मरण करने योग्य पदार्थ है । वह यह स्मरण करने योग्य पदार्थ की उपस्थिति से होती हुई, जिसमें इसका सामर्थ्य नहीं देखा गया उस स्मर्ता (आत्मा) को सिद्ध नहीं करेगी । वस्तुतः अपने कारणों की उपस्थिति से उत्पन्न हुआ अङ्कुर जिसमें उसका सामर्थ्य नहीं देखा गया ऐसे घटादि पदार्थ को सिद्ध नहीं करता । ३।१।१३।।

न, स्मृतेः—यह आक्षेपसूत्र है । इसमें कहा गया है कि इन्द्रियान्तर विकार से आत्मा की सिद्धि होती है, यह ठीक नहीं, स्मृति तो स्मर्तव्य विषय से होती है ।

व्यधिकरणत्वात् —वार्त्तिकार सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि इन्द्रियान्तर विकार तो अन्य इन्द्रिय का धर्म है, आत्मा का नहीं फिर यह आत्मा की सिद्धि कैसे कर सकता है ।

न इन्द्रियान्तरविकारः—यह ऊपर के आक्षेप का परिहार है । वस्तुतः स्मृति से आत्मा की सिद्धि होती है ।

---

1. उपजायमानो, पा० ।

तदात्मगुणत्वसद्भावादप्रतिषेधः । ३।१।१४।।

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः । यदि स्मृतिरात्मगुणः एवं सति स्मृतिरुपपद्यते, नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति' इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानामप्रतिसन्धानम्, प्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थानुपपत्तिः । एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति, एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् । स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः, विपर्यये चानुपपत्तिः । स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहाराः । आत्मलिङ्गमुदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति ।

न्यायवार्तिकम्

तदात्मगुणसद्भावाद् अप्रतिषेधः । न स्मर्तव्यमात्रात् स्मृतिरुत्पद्यते, यदायमतीतमर्थं स्मरति तदा स्मृतिरनाधारा प्राप्नोति । न चेयमनाधारा युक्ता

उस (स्मृति) के आत्मा का गुण होने से प्रतिषेध (ठीक) नहीं ।
३।१।१४।।

उस (स्मृति) के आत्मा का गुण होने पर आत्मा की सत्ता होने से प्रतिषेध (ठीक) नहीं । यदि स्मृति आत्मा का गुण है, ऐसा होने पर ही स्मृति बन सकती है, अन्य के देखे हुए को दूसरा स्मरण नहीं करता किन्तु इन्द्रियों की चेतनता मानने पर तो अनेक कर्ताओं के विषयग्रहणों का प्रतिसन्धान न होगा, अथवा यदि प्रतिसन्धान माना जाये तो विषयों की व्यवस्था (कि यह नेत्र का विषय है, यह श्रोत्र का विषय है) न बनेगी । किन्तु चेतन (आत्मा) एक है जो भिन्न-भिन्न साधनों से अनेक पदार्थों को देखता है, तथा पहले देखे हुए पदार्थ का स्मरण करता है, क्योंकि अनेक पदार्थों के देखने वाले एक के देखे गये का प्रतिसन्धान होता है । स्मृति की आत्मा का गुण होने पर ही सत्ता (सिद्ध) होती है, ऐसा न होने पर (विपर्यये) स्मृति नहीं बनती । स्मृति के आधार पर (ही) प्राणधारियों के सब व्यवहार होते हैं । अन्य इन्द्रिय का विकार उदाहरणमात्र है जो आत्मा का बोधक (लिङ्ग) है ।

'तदात्मगुणसद्भावाद् अप्रतिषेधः' (यह सूत्र है) । केवल स्मरणयोग्य विषय से (ही) स्मृति नहीं उत्पन्न होती है, जब यह (व्यक्ति) भूतकाल के अर्थ का स्मरण करता है तब स्मृति बिना आधार के प्राप्त होती है, और यह बिना आधार के होनी युक्त नहीं,

---

तद् अप्रतिषेधः—सूत्र में पूर्वपक्ष का परिहार किया गया है । इसका अभिप्राय है कि स्मृति की सत्ता आत्मा का गुण होने से ही सिद्ध होती है । आत्मा के न होने पर स्मृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः स्मृति स्मर्तव्य विषयक है, यह कथन उचित नहीं ।

विषयव्यवस्थानुपपत्तिः—नेत्र रूप को देखते हैं, श्रोत्र शब्द को सुनते है, इस प्रकार की विषयव्यवस्था नहीं बनती ।

विपर्यये चानुपपत्तिः—यदि स्मृति को आत्मा का गुण न माना जाये तो स्मृति नहीं बनती ।

न्यायवार्त्तिकम्

गुणत्वात् । न हि कश्चिद् गुणोऽनाधारो दृष्ट इति[1] । न चेयमिन्द्रिये सम्भवत्यननुभूतत्वात् । न विषये, तस्यासम्भवात् । न शरीरे शरीरगुणानां प्रत्यक्षाणां स्वात्मपरात्मप्रत्यक्षत्वात् । न चेयमनाधारा गुणत्वादित्युक्तम् । न चेयं नास्ति । न चात्मन्यसत्यस्याः सद्भावो युक्त इति । तेभ्योऽन्यस्य तदुत्पत्तौ सामर्थ्यमवगम्यते, कथम् ? इत्यनेनैव प्रत्युक्तम् । अस्त्यात्मनः सामर्थ्यं स्मृतेराधारभावः । न चेयमनाधारा कार्यत्वात्—सर्वं कार्यमाधारवत् क्षीरादि दृष्टमिति । एतेन,

न तच्चक्षुषि नो रूपे नान्तराले तयोः स्थितम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति यत्र तन्निष्ठितं भवेत् ॥ इति प्रत्युक्तम् ।

क्योंकि (स्मृति) गुण है, कोई गुण बिना आधार के नहीं देखा गया । यह (स्मृति) इन्द्रिय में (भी) नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा कोई अनुभव नहीं किया जाता । विषय में (भी स्मृति) नहीं, उस (विषय) के स्मृति के समय न होने से । शरीर में (भी) नहीं, प्रत्यक्ष होने वाले शरीर के गुणों का अपनी आत्मा तथा दूसरे की आत्मा के प्रत्यक्ष होने से । यह (स्मृति) बिना आधार के (भी) नहीं, गुण होने से, यह कहा जा चुका है । यह (स्मृति) नहीं है, ऐसा भी नहीं । आत्मा के न होने पर इसका होना युक्त नहीं उन (इन्द्रिय आदि) से अन्य की उस (स्मृति) की उत्पति में सामर्थ्य जानी जाती है, कैसे ? यह इस (कथन) से ही निराकृत हो गया । आत्मा की सामर्थ्य है स्मृति का आधार होने की । यह (स्मृति) बिना आधार के नही, कार्य होने से—सभी कार्य क्षीर आदि आधार वाला देखा गया है । इस (युक्ति) से,

'वह (ज्ञान) चक्षु में नहीं, रूप में नहीं, उन दोनों के मध्य में भी स्थित नहीं । वह नहीं है, ऐसा भी नहीं कि वह नहीं है । जहाँ वह (ज्ञान) स्थित हो सके । (बौद्ध के इस कथन) का (भी) निराकरण हो गया ।

गुणत्वात्—गुण गुणी में ही रहता है, इन्द्रियान्तरविकार स्मृति से होता है, वह स्मृति आत्मा का गुण है जो आत्मा के बिना नहीं रह सकता ।

न चेयम्—स्मृति किसी इन्द्रिय, विषय या शरीर का गुण नहीं और गुण होने से बिना आधार के भी स्मृति नहीं रह सकती ।

कार्यात्—जो कार्य होता है वह किसी आधार पर रहता है जैसे क्षीर (दूध) ।

एतेन—स्मृति के आधार रूप में आत्मा की सिद्धि करने से (टी० ५१३) ।

न तच्चक्षुषि—यह बौद्धों की कारिका है, परेषां कारिका दूषयति वार्तिककारः (टी० ४१३) । किस आचार्य की यह है, यह विदित नहीं हो सका है ।

---

1. युक्त इति, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

न तदस्ति न तन्नास्तीति व्याहतम् । न चानया कारिकया विज्ञानस्याश्रयिभावः प्रतिषेद्धुं शक्यते । किं कारणम् ? विशेषप्रतिषेधात्—'न तच्चक्षुषि नो रूपे' इत्यादि विशेषप्रतिषेधः । अथानाश्रितमेव विज्ञानम् ? व्यर्थं वाक्यं 'न तच्चक्षुषि नो रूपे' इति । कस्य वा चक्षुषि रूपे वा विज्ञानं वर्त्तते यं प्रति प्रतिषेधः । अयं च विज्ञानस्याश्रयप्रतिषेधो[1] विचार्यमाण आत्मसत्त्वं प्रतिपादयति । न हि विज्ञानस्यात्मसत्त्वमन्तरेण वाक्यमेतदर्थवत्तायां व्यवतिष्ठते । अथवा एकस्यानेकविषयोपलब्धिप्रतिसन्धानमनेन सूत्रेणोपदर्श्यत इत्युक्तन्यायम् । शेषं भाष्ये इति । ३।१।१४॥

वह नहीं है, न नहीं है, यह परस्पर-विरुद्ध है। इस कारिका के द्वारा विज्ञान के आश्रित होने का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। क्या कारण है ? विशेष का प्रतिषेध करने से—'न तच्चक्षुषि नो रूपे' इत्यादि विशेष का प्रतिषेध है। यदि विज्ञान अनाश्रित ही है तो वह चक्षु में नहीं, रूप में नहीं, यह वाक्य व्यर्थ है। अथवा किसके मत में विज्ञान चक्षु में है या रूप में है, जिसके प्रति प्रतिषेध किया जा रहा है। और यह विज्ञान के आश्रय का प्रतिषेध विचारा जाता हुआ आत्मा की सत्ता को सिद्ध करता है। आत्मा की सत्ता के बिना यह विज्ञान का वाक्य सार्थक नहीं होता। अथवा एक को अनेक ज्ञानों का प्रतिसन्धान होता है, यह इस सूत्र से दिखलाया जाता है, यह न्याय कहा जा चुका है (टी० ५१२)। शेष भाष्य में है। ३।१।१४॥

न तदस्ति न तन्नास्तीति—एक ही वस्तु के बारे में वह नहीं है, वह नहीं है ऐसा भी नहीं, यह विरुद्ध कथन है।

न चानया कारिकया—विज्ञान गुण है, अतः किसी में आश्रित है, गुण बिना गुणी के नहीं रह सकता।

विशेषप्रतिषेधात्—विज्ञान चक्षु आदि में नहीं, यह विशेष का प्रतिषेध है। सामान्यतः विज्ञान् के आश्रय का प्रतिषेध नहीं कर सकता।

अथानाश्रितमेव—पूर्वपक्ष की ओर से शङ्का की गई है कि क्या विज्ञान बिना किसी आश्रय के ही है तब तो 'वह चक्षु में नहीं' इत्यादि कथन असंगत है।

कस्य वा—किसके मत में चक्षु या रूप में विज्ञान आश्रित है, जिसका बौद्ध ने निराकरण किया है।

विज्ञानस्याश्रयप्रतिषेधः—यह कारिका आत्मा का अभाव सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुई है, किन्तु आत्मा की सत्ता को सिद्ध कर देती है अतः विवक्षित के विरुद्ध है।

अथवा एकस्य—भाष्यमत से सूत्र का अर्थ दिखलाकर वार्त्तिककार अपने मत से सूत्र की व्याख्या करते हैं, यहाँ पूर्वोक्त प्रतिसन्धान को ही इन्द्रियान्तरविकार द्वारा दिखलाया गया है (टी० ५१३)।

---

१. अत्राय निषेधो, पा०।

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य—अपरिसंख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यते 'न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वाद्' इति। सेयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थेऽज्ञासिषमहममुमर्थमिति' एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयो नार्थमात्रम्, 'ज्ञातवानहममुमर्थम्' 'असावर्थो मया ज्ञातः' 'अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूद्' इति। चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषयज्ञापकं समानार्थम्। सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते।

अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिस्तया त्रीणि ज्ञानानि एकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि। किं तर्हि? एककर्तृकाणि 'अद्राक्षममुमर्थं यमेवैतर्हि पश्यामि,' अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च, न खल्वसंविदिते स्वे दर्शने स्यादेतत् अद्राक्षमिति। ते खल्वेते द्वे ज्ञाने। 'यमेवैतर्हि पश्यामिति' तृतीयं ज्ञानम्। एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृको न नानाकर्तृकः। किं तर्हि? एककर्तृक इति।

स्मृति के विषय की गणना (परिसंख्यान) न किया जाने से भी—स्मृति के विषय की गणना न करके यह कहा गया है कि स्मृति के स्मर्तव्यविषयक होने से। वह यह स्मृति पदार्थ के न गृहीत होने पर होती है कि मैंने यह पदार्थ जाना था। इसका ज्ञाता तथा ज्ञान से विशिष्ट पहले जाना गया पदार्थ विषय होता है केवल पदार्थ नहीं। 'इस पदार्थ को मैंने जाना है, यह पदार्थ मेरे द्वारा जाना गया है, इस पदार्थ में मुझे ज्ञान हुआ था।' यह चार प्रकार का वाक्य है जो स्मृति के विषय का सूचक है समान अर्थ वाला है। वस्तुतः सभी में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का ग्रहण होता है।

पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर जो स्मृति होती है उससे तीन ज्ञानों का एक पदार्थ में प्रतिसन्धान होता है, जिनका कर्ता समान है, भिन्न-भिन्न कर्ता नहीं, न ही कर्ता कोई नहीं। तब क्या? ये सभी ज्ञान एक कर्ता द्वारा किये जाते हैं 'इस पदार्थ को मैंने देखा था जिसे अब देख रहा हूँ। (यहाँ) मैंने देखा था' इससे दर्शन और दर्शन का मानस प्रत्यक्ष (संवित्) (कहा जाता है)। वस्तुतः अने दशन का मानस प्रत्यक्ष न होने पर 'अद्राक्षम्' (मैंने देखा था) यह नहीं हो सकता। वे ये दो ज्ञान है। 'जिसको इस समय देख रहा हूँ' यह तृतीय ज्ञान है। इस प्रकार एक पदार्थ तीन ज्ञानों से युक्त है, ऐसा नहीं (उसका) कर्ता नहीं अथवा भिन्न-भिन्न कर्ता हैं। तब क्या है? एक कर्ता द्वारा होने वाले हैं।

अपरिसंख्यानाच्च—किन्हीं स्थलों पर इसे सूत्र माना गया है। न्यायवार्तिक बनारस संस्करण में भी इसे सूत्र रूप में दिया गया है किन्तु न्यायसूची निबन्ध में यह सूत्र नहीं है। अतः इसे भाष्य का वाक्य ही माना गया है।

ज्ञातृज्ञानविशिष्टः—ज्ञाता तथा ज्ञान से युक्त पहले देखा गया अर्थ विषय होता है।

चतुर्विधम्—चार प्रकार का यह वाक्य होता है जो स्मृति के विषय को सूचित करता है।

त्रीणि ज्ञानानि—अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर जो स्मृति होती है उसमें तीन ज्ञानों का प्रतिसन्धान होता है।

न्यायभाष्यम्

सोऽयं स्मृतिविषयोऽपरिसंख्यायमानो विद्यमानः प्रज्ञातोऽर्थः प्रतिषिध्यते 'नास्त्यात्मा स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वाद्' इति । न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्त्तव्यमात्रविषयं वा । इदं खलु ज्ञानप्रतिसन्धानवत् स्मृतिप्रतिसन्धानमेकस्य सर्वविषयत्वात्—एकोऽयं ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते 'अमुमर्थं ज्ञास्यामि' अमुमर्थं विजानामि' अमुमर्थमज्ञासिषम्' अमुमर्थं जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽव्यवस्यत्यज्ञासिषम्' इति । एवं स्मृतिमपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षाविशिष्टां च प्रतिसन्धत्ते ।

संस्कारसन्ततिमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति । स नास्त्येकोऽपि संस्कारो यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिं चानुभवेत् । न चानुभवमन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति चोत्पद्यते, देहान्तरवत् । अतोऽनुमीयते, अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते' इति, यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवति' इति । ३।१।१४॥

वह यह स्मृति का विषय असंख्य है, सबके द्वारा जाने हुए अर्थ का प्रतिषेध किया जाता है । आत्मा नहीं है, स्मृति के स्मर्तव्य विषयक होने से इत्यादि । अथवा प्रत्येक स्मृति स्मरणयोग्य (स्मर्तव्य) विषय में नहीं होती । वस्तुतः एक के सब विषयों का ज्ञाता होने के कारण ज्ञान के प्रतिसन्धान के समान स्मृति का प्रतिसन्धान करता है—यह एक ज्ञाता, जिसके सब विषय हैं, अपने ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है—इस पदार्थ को जानूंगा, इस पदार्थ को जान लिया, इस पदार्थ को जानने की इच्छा करता हुआ बहुत समय तक न जानकर निश्चय करता है कि मैंने जाना था । इसी प्रकार तीनों कालों से विशिष्ट स्मरण करने की इच्छा से युक्त स्मृति का भी प्रतिसन्धान करता है ।

यदि सत्व (आत्मा या प्राणी) संस्कारों की सन्ततिमात्र होता (जैसा बौद्ध मानता है) तो उत्पन्न होकर संस्कार तिरोहित हो जाते हैं । कोई भी ऐसा नहीं है जो तीनों कालों से विशिष्ट ज्ञान या स्मृति का अनुभव कर सके और अनुभव के बिना ज्ञान या स्मृति का प्रतिसन्धान 'मैं या मेरा' इस रूप में उत्पन्न नहीं होता, जैसे अन्य शरीर में (नहीं होता) । इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि एक (चेतन) है, जिसके सभी विषय हैं जो प्रत्येक शरीर में अपने ज्ञान के प्रवाह का अथवा स्मृति के प्रवाह (प्रबन्धम्) का प्रतिसन्धान करता है जिसकी अन्य शरीरों में वृत्ति न होने के कारण प्रतिसन्धान नहीं होता । ३/१/१४॥

प्रज्ञातोऽर्थः—सबके द्वारा जाना गया अर्थ (पदार्थ) स्मृति का विषय असंख्य है, यह सभी जानते हैं ।

स्मृतिप्रतिसन्धानम्—जिस प्रकार ज्ञान का प्रतिसन्धान होता है उसी प्रकार स्मृति का भी प्रतिसन्धान होता है ।

संस्कारसन्ततिमात्रे—बौद्धों के अनुसार संस्कारों की सन्ततिमात्र सत्त्व है किन्तु संस्कार तो उत्पन्न होकर तिरोहित हो जाते हैं, कोई एक संस्कार स्मृति का प्रतिसन्धान नहीं कर सकता, अतः आत्मा एक है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

४. (आत्मनो मनोव्यतिरेकत्वपरीक्षा)

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् । ३।१।१५।।

न देहादि संघातव्यतिरिक्त आत्मा । कस्मात् ? आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इत्येवमादीनामात्म-प्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवो यतः, मनो हि सर्वविषयम्' इति । तस्मान्न शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातव्यतिरिक्त आत्मेति । ३।१।१५।।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् । ३।१।१६।।

न्यायवार्त्तिकम्

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् । य एते भवना आत्मप्रतिपादका हेतव उपदिष्टाः सर्वं एते मनसि सम्भवन्ति । एवं च न मनोव्यतिरिक्त आत्मा सिद्ध्यति । ३।१।१५।।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् । यथा ज्ञातारमभ्युपगच्छता

[४. आत्मा की मन से भिन्नता]

नहीं, आत्मा के साधक हेतुओं के मन में सम्भव होने से ।३/१/१५।।

शरीरादि के संघात से भिन्न आत्मा नहीं । क्यों ? आत्मा के साधक हेतुओं के मन में सम्भव हो सकने से—दर्शन स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) से एक पदार्थ का ग्रहण होने के कारण इत्यादि हेतुओं का जो आत्मा के साधक हैं मन में होना सम्भव है क्योंकि मन सर्वविषयक (सब विषयों का ग्राहक) है । इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन तथा ज्ञान के संघात से भिन्न आत्मा नहीं है । ३/१/१५।।

ज्ञाता के ज्ञान के साधन होने से संज्ञा का भेदमात्र है । ३/१/१६।।

'नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्' (यह सूत्र है) । जो ये आपने आत्मा के साधक हेतु बतलाये हैं, ये सब मन में हो सकते हैं । इस प्रकार मन से भिन्न आत्मा नही है, यह सिद्ध होना है । ३/१/१५।।

'ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्' (यह सूत्र है) । जैसे ज्ञाता (आत्मा)

आत्मनो०—इस प्रकरण में आत्मा की मन से भिन्नता दिखलाई जा रही है ।

सर्वविषयम्—सर्वे विषयाः यस्य (बहु०) यह मन का विशेषण है, सभी इन्द्रियों के विषय होने वाले मन के विषय है ।

भवता—आपने, नैयायिक ने, जो आत्मा के साधक हेतु दिये है वे मन में हैं ।

संज्ञाभेदमात्रम्—नाम मात्र का भेद है । आत्मा को रूप आदि के ज्ञान के लिये चक्षु आदि साधना (करण) अपेक्षित हैं, इसी प्रकार मति (विचार) के लिये एक साधन चाहिये, जिसे मन कहा जाता है । यदि आप (बौद्ध) ज्ञाता में आत्मसंज्ञा नहीं मानते, उसे मन कहते है तो मति के साधन का कुछ और नाम रखना होगा, अतः नाम का भेद है वस्तु का नहीं ।

न्यायभाष्यम्

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते— चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति। एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनमन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते, येनायं मन्यते' इति। एवं सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न मृष्यते, मनः संज्ञाभ्यनुज्ञायते, मनसि च मनः संज्ञा न मृष्यते मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते। तदिदं संज्ञाभेदमात्रं नार्थे विवाद इति।

प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः—अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं प्रत्याख्यायते 'नास्तीति एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि न सन्ति' इति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यत इति। ३।१।१६॥

न्यायवार्त्तिकम्

ज्ञानसाधनानि चक्षुरादीनि प्रतिपद्यन्ते तथा मन्तारं प्रतिपद्यमानेन मतिसाधनमभ्युपेयम। यच्च तन्मतिसाधनं तन्मनः' इति संज्ञा भेदमात्रम्। अथ मन्ता निःसाधनो मतिं करोति ? एवमयं ज्ञाता निःसाधनो ज्ञानं करिष्यतीति सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः।

३/१/१६॥

वस्तुतः ज्ञाता के ज्ञान के साधन होना युक्तियुक्त है—वह चक्षु से देखता है, नासिका से सूंघता है, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श करता है। इसी प्रकार विचार करने वाले जिसके सभी विषय हैं उसका विचार का साधन अन्तःकरण होने वाला सब विषयों का ग्रहण करने वाला होता है, जिससे यह विचार करता है। ऐसा होने पर यदि ज्ञाता में 'आत्मा' नाम नहीं सहन किया जाता, मन नाम माना जाता है और मन में मन नाम नहीं सहन किया जाता किन्तु विचार का साधन तो माना जाता है। वह यह संज्ञा का भेदमात्र है वस्तु भे विवाद नहीं।

(अन्तःकरण का) निराकरण करने पर सभी इन्द्रियों का अभाव होने लगेगा— यदि विचार करने वाले सब विषयों का ज्ञान करने वाले का विचार का साधन सर्वविषयक है, इसका निराकरण किया जाता है कि वह नहीं है, इस प्रकार रूपादि के ग्रहण के साधन (चक्षुरादि) भी नहीं हैं, अतः सब इन्द्रियों का अभाव होने लगेगा। ३/१/१६॥

ज्ञान के साधन चक्षुरादि स्वीकारे जाते हैं उसी प्रकार मन्ता (आत्मा) को स्वीकारने वाले को मति (विचार) का साधन मानना होगा और जो वह विचार का साधन है वह मन है, इस प्रकार संज्ञा (नाम) का भेदमात्र है। यदि मन्त (आत्मा) बिना साधन के (ही) विचार कर लेता है, इस प्रकार यह ज्ञाता बिना साधन के (चाक्षुषादि ज्ञान) कर लेगा, अतः सब इन्द्रियों का अभाव होगा।३/१/१६।

मतिः—स्मृति अनुमान आदि ज्ञान मति कहलाता है, मतिः स्मृत्यनुमानादि ज्ञानम्, ता० टी० ५१४। यद्यपि स्मृति आदि अपने-अपने संस्कार आदि कारणों से होते हैं, तथापि इनका साधन (करण) अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ये ज्ञान हैं, रूपादि ज्ञान के समान।

प्रत्याख्याने वा—यदि कोई मति का साधन नहीं मानता तो उसे रूपादि के ग्रहण के लिये भी साधन न मानने होंगे। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ न मानी जा सकेंगी, तब तो इस ज्ञाता को बिना किसी साधन (करण) के ही ज्ञान हो जायेगा।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नियमश्च निरनुमानः। ३।१।१७॥

(क) योऽयं नियम इष्यते, रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति मति-साधनं सर्वविषयं (ख) नास्तीति, अयं नियमो निरनुमानः—नात्रानुमान-मस्ति येन नियमं प्रतिपद्यामह इति। रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयस्त-दुपलब्धौ करणान्तरसद्भावः—यथा चक्षुषा गन्धो न गृह्यते' इति करणा-न्तरं घ्राणम्, एवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यते' इति करणान्तरं रसनम् एवं शेषेष्वपि। तथा चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्ते' इति करणान्तरेण भवितव्यम्।

न्यायवार्तिकम्

(क) नियमश्च निरनुमानः। योऽयं नियम आश्रीयते 'मतिरसाधना न पुन-र्ज्ञप्तिरिति नियमो निरनुमानः। ज्ञप्तिवत् (१) मतेः ससाधनत्वेऽनुमानमस्ति। (ख) सुखादयश्च रूपादिभ्यो विषयान्तरमिति, तद्विषयत्वाद् उपलब्धेः साधनेन भवितव्यम् —न हि किञ्चित् सविषयं ज्ञानमसाधनं दृष्टं रूपादिज्ञानवद् इति। नियमश्च निर-नुमानः—सुखादिज्ञानानि निःसाधनानि भवन्तु मा भूवन्। (२) रूपादिविषयाणि इति।

(ज्ञान के अन्य साधन हैं मति का साधन नहीं) इस नियम में अनु-मान नहीं।३।१।१७॥

जो यह नियम माना जाता है 'इस (आत्मा) के रूपादि ग्रहण के साधन हैं, मति का साधन जो सर्वविषयक है वह नहीं है, (क) इस नियम में अनुमान नहीं— इसमें अनुमान नहीं है जिससे नियम को मान लें (ख) सुख आदि रूप आदि से अन्य विषय हैं, उनकी उपलब्धि में अन्य साधन की सत्ता होनी चाहिये—जैसे चक्षु से गन्ध का ग्रहण नहीं होता अतः घ्राण अन्य करण (साधन) है; इसीप्रकार चक्षु तथा घ्राण (नासिका) से रस का ग्रहण नहीं होता अतः रसना भिन्न करण है, इसीप्रकार शेष (इन्द्रियों) में भी। उसीप्रकार चक्षु आदि से सुख आदि का ग्रहण नहीं होता अतः अन्य करण (साधन) होना चाहिये।

'नियमश्च निरनुमानः' (यह सूत्र है) (क) जो यह नियम माना जाता है मति (विचार) बिना साधन के होती है किन्तु अन्य ज्ञान (ज्ञप्ति, चक्षुरादि का ज्ञान) नहीं, इस नियम में अनुमान नहीं। किन्तु रूप आदि के (ज्ञान) के समान मति (विचार) के साधन वाला होने में अनुमान है। (ख) सुख आदि रूप आदि से भिन्न निषय हैं, तद्विषयक उपलब्धि का साधन होना चाहिये—वस्तुतः कोई विषय सहित ज्ञान बिना साधन के नहीं देखा गया, रूप आदि ज्ञान के समान होंगे, रूपादि के ज्ञान करण रहित न भी हों।

नियमश्च—यह सिद्धान्ती का सूत्र है, रूपादिग्रहण के साधन (करण) हैं, मति का साधन नहीं, ऐसा नियम। इसमें कोई अनुमान नहीं जिससे इसे स्वीकारा जा सके।

रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयः— यह मन की भिन्नता में दूसरा हेतु है। सुख आदि रूपादि से भिन्न विषय हैं, इनके ग्रहण के लिये कोई साधन अवश्य होना चाहिए।

असाधनम्—कोई ज्ञान जिसका विषय होता है, उसका साधन भी होता है।

---

१. ज्ञप्तिवच्च, पा०। २. मा भवन्तु, पा०।

न्यायभाष्यम्

तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम् यच्च सुखाद्युपलब्धौ करणं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्' तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति सन्निधेरसन्निधेश्च न युगपज्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते' इति । तत्र यदुक्तं 'नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवाद्' इति तदयुक्तम् । ३।१।१७।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि सर्वं विज्ञानं ससाधनमुच्यते (१) मनस्यपि करणान्तरं प्राप्नोति विषयत्वात् ? ओम् इत्युच्यते, अस्ति मनसि करणम् । किं पुनस्तत् ? येन मनो अधिगम्यते, केन मनोऽधिगम्यते ? अयुगपज्ज्ञानोत्पत्त्या । यस्य तु मनः प्रत्यक्षं भवति, तस्य योगजधर्मानुगृहीत आत्ममनःसंयोगः करणं योगिधर्मणां चाचिन्त्यविषयत्वात् कथं ते मनो गृह्णन्तीत्यविचारणीयमेतत् । एतेनात्मज्ञानं (२) प्रत्युक्तम् आत्ममनःसंयोगस्य कारणभावाद्' इति ।

एवं तावद् आत्मनोऽस्तित्वव्यतिरेकौ सिद्धौ, बहुत्वं चात एव दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् । नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति शरीरदाहे पातकाभावाद् इति । सेयं सर्वा व्यवस्था शरीरभेदे सति सम्भवतीति । ३।१।१७ ।।

(ग) और उस (मन) में ज्ञान का एक साथ न होना बोधक (लिङ्ग) है—जो सुख आदि की उपलब्धि में करण (साधन) है उसमें ज्ञानों का एक साथ न होना बोधक (लिङ्ग) है उसके प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति सान्निध्य (समीपता) से और असान्निध्य से एक साथ ज्ञान उत्पन्न नहीं होते (जिस इन्द्रिय से मन की सन्निधि होती है उससे ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य से नहीं) । उस विषय में जो यह कहा गया है 'नहीं, आत्मा के साधन हेतुओं का मन में सम्भव होने से, यह अयुक्त है ।३।१ १७।।

(आक्षेप) यदि सभी विज्ञान साधन से होता है तो मन भी विषय है, इसका भी कोई अन्य करण प्राप्त होता है । [परिहार] हां (ओम्) यह कहा जाता है तो मन में भी करण (साधन) है । (प्रश्न) वह क्या है ? (उत्तर) जिससे मन जाना जाता है । (प्रश्न) मन को किससे जाना जाता है ? (उत्तर) एक साथ (अनेक) ज्ञानों के उत्पन्न न होने से (अनुमान द्वारा) । जिसके मन में मन का प्रत्यक्ष होता है उसके मन में योगज धर्म के सहयोग से मन तथा आत्मा के संयोग ही इसका साधन (करण) होगा किन्तु योगियों के धर्म के विषय चिन्तनीय नहीं है अतः वे (योगी) किसप्रकार मन का ग्रहण करते हैं, यह विचार का विषय नहीं । इससे आत्मा के ज्ञान (प्रत्यक्ष) का निराकरण हो गया; क्योंकि (उसमें भी) आत्मा तथा मन का संयोग कारण है ।

इसप्रकार प्रथमतः आत्मा की सत्ता और देहादि से भिन्नता (व्यतिरेक) सिद्ध होते हैं, इसी से (आत्मा की) अनेकता (सिद्ध) हो जाती है, दर्शन और स्पर्शन से एक पदार्थ (अर्थ) का ग्रहण होने के कारण, अन्य के देखे गये का दूसरा तो स्मरण करना नहीं तथा शरीर के जलाने में पातक नहीं होता । वह यह सभी व्यवस्था (आत्मा के) शरीर से भेद होने पर ही सम्भव है । ३।१।१७।।

ओमिति—यह परिहार है, यहाँ कर्म तथा करण एक में नहीं होते, मन के ज्ञान में लिङ्गज्ञानसहित मन करण है । केवल मन कर्म है (ब्र० टी० ५१४)
अविचारणीयमेतत्—योगी कैसे मन का प्रत्यक्ष करते हैं, यह तो विचारणीय नहीं है ।

१. ससाधनं मन्यते, पा० । २. विज्ञानं, पा० ।

न्यायभाष्यम्

५. [आत्मनित्यतापरीक्षा]

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः । ३।१।१८।।

किं पुनरयं देहादिसंघातादन्यो नित्य उतानित्य इति ? कुतः संशयः ? उभयथा दृष्टत्वात् संशयः—विद्यमानमुभयथा भवति नित्यमनित्यं च । प्रतिपादिते चात्मसद्भावे संशयानिवृत्तेरिति । आत्मसद्भावहेतुभिरेवास्य प्राग्देहभेदादवस्थानं सिद्धमूर्ध्वमपि देहभेदाद् अवतिष्ठते । कुतः ?

न्यायवार्त्तिकम्

किं पुनरयं देहादिसंघाताद् अन्यो नित्योऽथानित्य इति ? एतस्मिन्नर्थे उभयथा दृष्टत्वाद् इति संशयमुत्पादयति । अनुपपन्नरूपश्चायं[1] संशयः—आत्मास्तित्वव्यतिरेकहेतुभिः शरीरभेदेऽप्यभेद आत्मनि सिद्धः, सिद्धत्वात् प्रकरणमनारभ्यम्' इति ? नानारभ्यम् । कथम् ? जन्मप्रभृति यावत् प्रायणमेतस्मादेकः सिध्यति, न पुनः देहविनाशाद् ऊर्ध्वं भवति, इत्येतत् सिध्यति, एतस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं 'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः' इति सूत्रम् ।

---

५. आत्मा की नित्यता—

पूर्व जन्म में किये गये (अभ्यस्त कर्मों की) स्मृति के निमित्त से नवजात को हर्ष, भय, शोक का ज्ञान होने से ।।३।१।१८।।

किन्तु यह देहादि संघात से भिन्न (आत्मा) नित्य है अथवा अनित्य ? ऐसा सन्देह क्यों होता है ? दोनों प्रकार का देखा जाने से संशय होता है—विद्यमान वस्तु दोनों प्रकार की होती है नित्य तथा अनित्य । आत्मा की सत्ता बतला देने पर यह संशय निवृत्त नहीं होता । आत्मा की सत्ता बतलाने वाले हेतुओं से ही इस (आत्मा) की शरीर से पृथक् होने से पूर्व स्थिति सिद्ध होती है । शरीर से पृथक् होने के पश्चात् भी (यह) रहता है । कैसे ?

किन्तु यह देहादि के संघात से भिन्न (आत्मा) नित्य है या अनित्य ? इस विषय में दोनों प्रकार से देखे जाने के कारण संशय को युक्तिपूर्वक दिखलाते हैं । (शङ्का) किन्तु (च) यह संशय युक्त नहीं, आत्मा की सत्ता तथा भिन्नता के हेतुओं से शरीर से भेद होने पर भी अभेद आत्मा में सिद्ध होता है, सिद्ध होने के कारण प्रकरण का आरम्भ न करना चाहिए । (समाधान) नहीं, आरम्भ न करना चाहिए, ऐसा नहीं । क्यों ? इससे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त एक होता है, यह सिद्ध हो जाता है किन्तु शरीर के नाश के पश्चात् (आत्मा) रहता है, यह नहीं सिद्ध होता । इस विषय (अर्थ) को सूचित करने के लिये 'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः' यह सूत्र है ।

किं पुनरयं देहादिसंघाताद्—निःश्रेयस के उपयोगी परलोक की परीक्षा करने के लिये दिखलाते हैं, टी० ५१४ ।

देहभेदात्—यहाँ ल्यब्लोपे पञ्चमी है । बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य में देहादि से भिन्न आत्मा का प्रतिसन्धान करके देहादि से भिन्न आत्मा सिद्ध होती है (टी० ५१५) ।

नानारभ्यम्—यहाँ शङ्का है कि देहादिसंघात से भिन्न आत्मा है, यह प्रतिपादित कर देने पर भी इस प्रकरण का क्या प्रयोजन है । समाधान है कि देहादिसन्तान के समाप्त हो जाने पर भी क्या यह आत्मा स्थित रहती है, यह प्रतिपादित करने के लिये प्रकरण है (टी० ५१५) ।

---

१. अनुपपन्नोऽयं, पा० ।

न्यायभाष्यम्

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान् । ते च स्मृत्यनुबन्धाद् उत्पद्यन्ते नान्यथा । स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति । पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथेति, सिध्यत्येतदवतिष्ठतेऽयमूर्ध्वं शरीरभेदाद् इति ॥३।१।१८॥

न्यायवार्त्तिकम्

अस्यार्थः, जातः खल्वयं कुमारको विषयाधिगमासमर्थेषु इन्द्रियेषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यमानो दृष्टः स्मितकम्परुदितानुमेयान्, ते च स्मृत्यनुबन्धाद् उत्पद्यन्ते । स्मृत्यनुबन्धश्च नान्तरेण पूर्वशरीरमिति । तत्र जन्म निकायविशिष्टाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बन्धः । अभिप्रेतविषयप्रार्थनाप्राप्तौ सुखानुभवो हर्षः । अनिष्टविषयसाधनोपनिपाते तज्जिहासोर्हानाशक्यता भयम् । इष्टविषयवियोगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना शोकः । तदनुभवः सम्प्रतिपत्तिः ।

वस्तुतः उत्पन्न होने वाला बालक हर्ष, भय, शोक के कारणों के इस जन्म में गृहीत न किये गये होने पर लिङ्ग (हँसने तथा रोने) से अनुमेय हर्ष, भय, शोक को प्राप्त होता है । और वे स्मृति के निमित्त से होते हैं उसके बिना नहीं । स्मृति का सम्बन्ध (निमित्त) पहले किये गये कर्मों के विना (पूर्वाभ्यासमन्तरेण) नहीं होता और पूर्वाभ्यास पूर्व जन्म के होने पर (ही) होना है उसके बिना नहीं, अतः यह सिद्ध होता है कि यह (आत्मा) शरीर से पृथक् होने के पश्चात् भी स्थित रहता है ॥३।१।१८॥

इसका अर्थ है, उत्पन्न होते ही यह बालक इन्द्रियों के विषयों (रूपादि) के ज्ञान में असमर्थ होने पर मुस्कराहट, कम्पन तथा रुदन से अनुमेय हर्ष, भय, शोक को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, वे स्मृति के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और स्मृति का सम्बन्ध पूर्व शरीर के विना नहीं होता । यहाँ जन्म है विशेष समुदाय से युक्त शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदना (सुख-दुःख का अनुभव) से सम्बन्ध । चाहे हुए विषय की इच्छा के प्राप्त होने पर जो सुख का अनुभव होता है वह हर्ष है । न चाहे हुए विषय का साधन प्राप्त होने पर उसे छोड़ने की इच्छा वाले के द्वारा छोड़ न सकना भय है । अभीष्ट विषय का वियोग होने पर उसके प्राप्त होने की इच्छा जो पूरी नहीं होती (अशक्य) वह शोक है । उन (सब) का अनुभव सम्प्रतिपत्ति है ।

लिङ्गानुमेयान्—क्रम से स्मित, कम्प, रुदित आदि से अनुमान किये जाने वाले ।

अभिप्रेतविषयप्रार्थनाप्राप्तौ—यहाँ यदि अभिप्रेतविषयप्राप्तौ इतना ही कहते तो इष्यमाणतम की प्राप्ति सूचित न होती । प्रार्थना शब्द के ग्रहण से 'इष्टतम विषय की इच्छा होने पर उसके प्राप्त होने से हर्ष होता है, यह अर्थ निकलता है, (द्र० टी० ५१५) ।

अनिष्टविषय०—यह भय का अर्थ है, अनिष्ट विषय है मरना आदि, उसके साधन हैं सर्प, व्याघ्र आदि उनके उपस्थित होने पर व्याघ्रादि को छोड़ने के इच्छुक का उन्हें न छोड़ सकना, टी० ५१५ ।

इष्टविषयवियोगे सति—यह शोक का अर्थ है । अनर्हणेनेति यावत्, टी० ५१५ । अभिप्राय यह है कि इष्ट विषय का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति न हो सकने का ज्ञान शोक है टी० ५१५, ५१६ ।

न्यायवार्त्तिकम्

एकविषयानेकविज्ञानोत्पादोऽभ्यासः, एकाकारविषयो वा; यथा शालयोऽनेनाभ्यस्ता इति। प्रत्यक्षबुद्धिविरोधे[1] तदनुसन्धानविषयः प्रत्ययः स्मृतिः। तदनुगृहीतस्तदनुसन्धानविषयः प्रत्ययस्तद्भावविषयः प्रत्यभिज्ञानम्। अनुबन्धो भावनाख्यः स्मृतिहेतुः संस्कारः। इष्टविषयानुस्मरणान्नयनादिप्रसादः स्मितम्। अनिष्टविषयानुस्मरणात् तत्साधनजिहासानुष्ठानलक्षणो हस्तादिविक्षेपवतोऽश्रुविमोचनसहितः शब्दविशेषो रुदितम्।

स्मितरुदिते व्यधिकरणत्वाद् असाधनम्—अथ मन्यसे स्मितरुदिते बाल्यावस्थायां भवतो न च बाल्यावस्था आत्मनः, तस्माद् व्यधिकरणत्वाद् असाधनम्, इति? न, शोकादिमदात्मवतीति साध्यत्वात्—शोकादिमदात्मवती बाल्यावस्थेति साध्यं स्मितरुदितादिमत्वादिति। बाल्यावस्था वयोधर्मो यौवनावस्थावत्।

एक विषय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होना अभ्यास है, अथवा एक आकार के विषय में (अनेक ज्ञान) जैसे इसने शालि (धान्यविशेष) का अभ्यास किया है। प्रत्यक्ष (आदि) ज्ञान का निरोध हो जाने पर उसके अनुसन्धान (ध्यान) विषयक प्रतीति ही स्मृति है। उस (स्मृति) के योग से उसके अनुसन्धान विषयक प्रतीति उस (वस्तु) के होने के विषय वाला प्रत्यभिज्ञान है। इसका अनुबन्ध (निमित्त) है स्मृति का हेतु भावना नामक संस्कार। अभीष्ट विषय का स्मरण करने से नेत्र आदि का विकास ही स्मित है। अनिष्ट विषय का स्मरण करने से उसके साधन को छोड़ने की इच्छा करते हुए हाथ आदि फेंकने वाले का आँसू गिराने के साथ विशेष प्रकार का शब्द करना रुदन है।

(आक्षेप) स्मित और रुदित तो (आत्मा से) भिन्न आधार में होने से (व्यधिकरणत्वाद्) (आत्मा की नित्यता के) साधन नहीं—यदि मानते हो स्मित और रुदित बाल्यावस्था में होते हैं और आत्मा की बाल्यावस्था नहीं होती, अतः (स्मित तथा रुदित) भिन्न आधार में होने के कारण (आत्मा की नित्यता में) साधन नहीं। [परिहार] नहीं, शोक आदि आत्मा से युक्त (बाल्यावस्था) के साध्य होने से—शोकादि से युक्त आत्मा वाली बाल्यावस्था है, यह साध्य है, स्मित तथा रुदित वाली होने से (यह हेतु है)। बाल्यावस्था आयु का धर्म है युवावस्था के समान।

अभ्यासः—इसकी वार्त्तिककार ने दो प्रकार से व्याख्या की है, एकविषयानेकविज्ञानोत्पादः और एकाकारविषयो वा (द्र० मूल तथा अनुवाद)।

प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे—यहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहणमात्र का उपलक्षण है तदनुगृहीतः=स्मृत्यनुगृहीतः टी० ५१६।

तदनुसन्धानविषयः—स्मृति का जो अनुसन्धेय है तद्विषयक, अनुसन्धीयत इत्यनुसन्धानं, स्मृतेर्यदनुसन्धेयं तद्विषय इत्यर्थः, टी० ५१६। इसके आगे टीका में 'तथापि स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोरविशेषः, इत्यत आह, वर्तमानविषयस्य दृश्यस्य तद्भावविषय' इति। संभवतः वार्त्तिक में 'वर्तमानस्य विषयस्य' यह छूट गया है, इसका अर्थ टीका में किया गया है, 'दृश्यस्य'।

---

१. प्रत्यक्षविरोधे, पा०।

एतेन स्मृतिसंस्कारानुभवपूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवत्वं व्याख्यातम्। कथमिति ? यथा स्मितरुदितवत्त्वेन शोकादिमदात्मवती बाल्यावस्था साध्यते एवं शोकादिमदात्मवत्त्वेन स्मृतिमदात्मवती बाल्यावस्था साध्या तथा स्मृतिमदात्मवत्त्वेन संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या, संस्कारवदात्मवत्त्वेन पूर्वानुभववदात्मवती, पूर्वानुभववदात्मवत्त्वेन पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती साध्या। सर्वत्र यौवनावस्था दृष्टान्तः[1]। सा हि स्मितरुदितवती भवतीति, शोकादिमद् आत्मवती चेति सर्वत्र वक्तव्यम् ॥३।१।१८॥

इस कथन) से स्मृति के संस्कार, अनुभव तथा पूर्व शरीर के सम्बन्ध से युक्त आत्मा (बाल्यावस्था में होती है), इसकी व्याख्या कर दी गई। कैसे ? जैसे हँसना, रोना आदि से युक्त होने से शोकादि वाली आत्मा की बाल्यावस्था सिद्ध की जा सकती है, संस्कार से युक्त आत्मा वाली होने से पूर्वानुभव से युक्त आत्मा वाली तथा पूर्वानुभव से युक्त आत्मा वाली होने से पूर्वशरीर के सम्बन्ध से युक्त आत्मा वाली (बाल्यावस्था) सिद्ध की जा सकती है। सभी जगह यौवनावस्था दृष्टान्त है; क्योंकि वह स्मित तथा रुदन से युक्त होती है और शोकादि से युक्त आत्मा वाली भी, यह सर्वत्र कहना चाहिए ॥३।१।१८॥

एतेन···व्याख्यातम्—इससे आत्मा में स्मृति, संस्कार, अनुभव तथा पूर्वशरीर के सम्बन्ध की व्याख्या हो गई। कैसे ?

शोकादिमदात्मवत्त्वेन स्मृतिवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या—अनुमान का प्रयोग होगा, स्मृतिवदात्मवती बाल्यावस्था शोकादिमदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (शेष द्र० अनुवाद)।

स्मृतिवदात्मवत्त्वेन संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या—अनुमान का प्रयोग है, संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था स्मृतिवदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (द्र० अनुवाद)।

संस्कारवदात्मवत्त्वेन पूर्वानुभववदात्मवती—अनुमान का प्रयोग है, पूर्वानुभववदात्मवती बाल्यावस्था संस्कारवदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (द्र० अनुवाद)।

पूर्वानुभववदात्मवत्त्वेन पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती साध्या—अनुमान का प्रयोग है, पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती बाल्यावस्था पूर्वानुभववदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत्, (द्र० अनुवाद)।

यौवनावस्था दृष्टान्तः—यौवनावस्था में जो स्मित, रुदित देखे जाते हैं वे हर्ष, शोक आदि से युक्त आत्मा के होने से होते हैं, अतः यौवनावस्था के दृष्टान्त से सभी की सिद्धि हो जाती है।

---

१. यौवनादिदृष्टान्तः, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥३।१।१९॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधः सम्मीलनं विकारो भवति। एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिविकारः स्यात्। हेत्वभावादयुक्तम्। अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति। नात्रोदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुर्न वैधर्म्यादस्ति। हेत्वभावाद् असम्बद्धार्थकमपार्थकमुच्यत इति।

न्यायवार्त्तिकम्

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः। अनित्येऽपि विकारदर्शनादनैकान्त इति सूत्रार्थः। कः पुनरयं प्रबोधः, किं च सम्मीलनमिति ? पद्मपत्त्रावयवविभागोऽविनश्यत्कार्यः प्रबोधः, पद्मपत्त्रावयवानामारब्धकार्याणां याः पुनः[1] परस्परेण प्राप्तयः तत्सम्मीलनम्' इति।

कमल आदि में खिलने और बन्द होने के समान उसके विकार है ॥३।१।१९॥

(शङ्का) जिसप्रकार अनित्य कमल आदि में खिलना तथा बन्द होना, यह विकार होता है, इसीप्रकार अनित्य आत्मा में (भी) हर्ष, भय, शोक के अनुभव रूप विकार होंगे। (समाधान) हेतु के अभाव से यह युक्त नहीं—इस हेतु से कमल आदि में खिलने तथा बन्द होने के विकार के समान अनित्य आत्मा के हर्षादि का अनुभव होगा, इस विषय में न तो उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु है, न वैधर्म्य से। हेतु के न होने से असम्बद्ध अर्थ वाला तथा अर्थरहित ही कहा जाता है।

'पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः' (यह सूत्र है)। सूत्र का प्रयोजन है, यह दिखलाना कि अनित्य में भी विकार देखा जाता है, अतः यह (हेतु) अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है। (प्रश्न) यह खिलना क्या है और बन्द होना क्या है ? (उत्तर) कमल के पत्तों के अवयवों का विभाग जिससे कार्य (कमलपुष्प) का विनाश नहीं होता वह खिलना है किन्तु कमल के पत्तों के अवयवों का जिन्होंने कार्य (कमलपुष्प) का आरम्भ किया था जो फिर आपस में मिलना है वह बन्द होना है।

पद्मादिषु—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसमें शङ्का की गई है कि बालक के स्मित, रुदित आदि कमल के खिलने तथा बन्द होने आदि समान होते हैं। सूत्र का प्रयोजन है सिद्धान्ती के हेतु को सव्यभिचार दिखलाना। वार्त्तिककार ने 'अनित्येऽपि ··· सूत्रार्थः' में यह दिखलाया है।

हेत्वभावादयुक्तम्—यहाँ भाष्यकार ने 'पद्मादिषु' इस पूर्वपक्ष की समीक्षा की है। यहाँ हेतु नहीं है केवल दृष्टान्त तो पक्ष का साधक नहीं हो सकता।

किं पुनरयं प्रबोधः···तत्सम्मीलनम्—यहाँ कमल के खिलने तथा बन्द होने का स्वरूप दिखलाया गया है।

न्यायवार्त्तिकम्

एतेन स्मृतिसंस्कारानुभवपूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवत्वं व्याख्यातम्। कथमिति ? यथा स्मितरुदितवत्त्वेन शोकादिमदात्मवती बाल्यावस्था साध्यते एवं शोकादिमदात्मवत्त्वेन स्मृतिमदात्मवती बाल्यावस्था साध्या तथा स्मृतिमदात्मवत्त्वेन संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या, संस्कारवदात्मवत्त्वेन पूर्वानुभववदात्मवती, पूर्वानुभववदात्मवत्त्वेन पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती साध्या। सर्वत्र यौवनावस्था दृष्टान्तः[1]। सा हि स्मितरुदितवती भवतीति, शोकादिमद् आत्मवती चेति सर्वत्र वक्तव्यम् ॥३।१।१८॥

(इस कथन) से स्मृति के संस्कार, अनुभव तथा पूर्व शरीर के सम्बन्ध से युक्त आत्मा (बाल्यावस्था में होती है), इसकी व्याख्या कर दी गई। कैसे ? जैसे हँसना, रोना आदि से युक्त होने से शोकादि वाली आत्मा की बाल्यावस्था सिद्ध की जा सकती है, संस्कार से युक्त आत्मा वाली होने से पूर्वानुभव से युक्त आत्मा वाली तथा पूर्वानुभव से युक्त आत्मा वाली होने से पूर्वशरीर के सम्बन्ध से युक्त आत्मा वाली (बाल्यावस्था) सिद्ध की जा सकती है। सभी जगह यौवनावस्था दृष्टान्त है; क्योंकि वह स्मित तथा रुदन से युक्त होती है और शोकादि से युक्त आत्मा वाली भी, यह सर्वत्र कहना चाहिए ॥३।१।१८॥

एतेन···व्याख्यातम्—इससे आत्मा में स्मृति, संस्कार, अनुभव तथा पूर्वशरीर के सम्बन्ध की व्याख्या हो गई। कैसे ?

शोकादिमदात्मवत्त्वेन स्मृतिवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या—अनुमान का प्रयोग होगा, स्मृतिवदात्मवती बाल्यावस्था शोकादिमदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (शेष द्र० अनुवाद)।

स्मृतिवदात्मवत्त्वेन संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था साध्या—अनुमान का प्रयोग है, संस्कारवदात्मवती बाल्यावस्था स्मृतिवदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (द्र० अनुवाद)।

संस्कारवदात्मवत्त्वेन पूर्वानुभववदात्मवती—अनुमान का प्रयोग है, पूर्वानुभववदात्मवती बाल्यावस्था संस्कारवदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत् (द्र० अनुवाद)।

पूर्वानुभववदात्मवत्त्वेन पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती साध्या—अनुमान का प्रयोग है, पूर्वशरीरसम्बन्धवदात्मवती बाल्यावस्था पूर्वानुभववदात्मवत्त्वात्, यौवनावस्थावत्, (द्र० अनुवाद)।

यौवनावस्था दृष्टान्तः—यौवनावस्था में जो स्मित, रुदित देखे जाते हैं वे हर्ष, शोक आदि से युक्त आत्मा के होने से होते हैं, अतः यौवनावस्था के दृष्टान्त से सभी की सिद्धि हो जाती है।

---

१. यौवनादिदृष्टान्तः, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥३।१।१९॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधः सम्मीलनं विकारो भवति। एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिर्विकारः स्यात्। हेत्वभावादयुक्तम्। अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति। नात्रोदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुर्न वैधर्म्यादस्ति। हेत्वभावाद् असम्बद्धार्थकमपार्थकमुच्यत इति।

न्यायवार्त्तिकम्

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः। अनित्येऽपि विकारदर्शनादनैकान्त इति सूत्रार्थः। कः पुनरयं प्रबोधः, किं च सम्मीलनमिति ? पद्मपत्रावयवविभागोऽविनश्यत्कार्यः प्रबोधः, पद्मपत्रावयवानामारब्धकार्याणां याः पुनः[1] परस्परेण प्राप्तयः तत्सम्मीलनम्[2] इति।

कमल आदि में खिलने और बन्द होने के समान उसके विकार है ॥३।१।१९॥

(शङ्का) जिसप्रकार अनित्य कमल आदि में खिलना तथा बन्द होना, यह विकार होता है, इसीप्रकार अनित्य आत्मा में (भी) हर्ष, भय, शोक के अनुभव रूप विकार होंगे। (समाधान) हेतु के अभाव से यह युक्त नहीं—इस हेतु से कमल आदि में खिलने तथा बन्द होने के विकार के समान अनित्य आत्मा के हर्षादि का अनुभव होगा, इस विषय में न तो उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु है, न वैधर्म्य से। हेतु के न होने से असम्बद्ध अर्थ वाला तथा अर्थरहित ही कहा जाता है।

'पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः' (यह सूत्र है)। सूत्र का प्रयोजन है, यह दिखलाना कि अनित्य में भी विकार देखा जाता है, अतः यह (हेतु) अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है। (प्रश्न) यह खिलना क्या है और बन्द होना क्या है ? (उत्तर) कमल के पत्तों के अवयवों का विभाग जिससे कार्य (कमलपुष्प) का विनाश नहीं होता वह खिलना है किन्तु कमल के पत्तों के अवयवों का जिन्होंने कार्य (कमलपुष्प) का आरम्भ किया था जो फिर आपस में मिलना है वह बन्द होना है।

पद्मादिषु—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसमें शङ्का की गई है कि बालक के स्मित, रुदित आदि कमल के खिलने तथा बन्द होने आदि समान होते हैं। सूत्र का प्रयोजन है सिद्धान्ती के हेतु को सव्यभिचार दिखलाना। वार्त्तिककार ने 'अनित्येऽपि ··· सूत्रार्थः' में यह दिखलाया है।

हेत्वभावादयुक्तम्—यहाँ भाष्यकार ने 'पद्मादिषु' इस पूर्वपक्ष की समीक्षा की है। यहाँ हेतु नहीं है केवल दृष्टान्त तो पक्ष का साधक नहीं हो सकता।

किं पुनरयं प्रबोधः···तत्सम्मीलनम्—यहाँ कमल के खिलने तथा बन्द होने का स्वरूप दिखलाया गया है।

न्यायभाष्यम्

दृष्टान्ताच्च हर्षादिनिमित्तस्यानिवृत्तिः--या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षादिसम्प्रतिपत्तिः स्मृत्यनुबन्धकृता प्रत्यात्मं गृह्यते, सेयं पद्मादिप्रबोधसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्त्तते। यथा चेयं न निवर्तते तथा जातस्यापि इति। क्रियाजाताश्च पर्णसंयोगविभागाः प्रबोधसम्मीलने। क्रियाहेतुश्च क्रियानुमेयः। एवं च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते ॥३।१।१९॥

न्यायवार्त्तिकम्

न, विकल्पानुपपत्तेः—'पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकार' इति किमयं दृष्टान्तः साधनपक्षे, उतानैकान्तिकपक्षे' इति? यदि साधनपक्षे? हेतुमन्तरेण दृष्टान्तमात्रं न साधनमित्यसाधनं दृष्टान्तः। अथ दूषणम् तत्किं दृष्टकारणप्रत्याख्यानम्, उत कारणान्तरोपपादनम्। अथात्मन उत्पत्तिनिरोधकारणानुमानम्, अथाकस्मिकत्वम्' इति?

और (केवल) दृष्टान्त से हर्षादि निमित्त की निवृत्ति न होगी—जो यह विषयों (रूप आदि) का आसेवन करने पर हर्षादि का अनुभव स्मृति के निमित्त से किया गया प्रत्येक आत्मा में गृहीत होता है, वह यह कमल आदि के खिलने तथा बन्द होने के दृष्टान्त से नहीं निवृत्त होता और जैसे यह निवृत्त नहीं होता वैसे ही बालक का भी। किञ्च, खिलने और बन्द होने में जो पत्तों (पंखड़ियों) के संयोग विभाग होते हैं वे क्रिया से उत्पन्न होते हैं। क्रिया के द्वारा क्रिया के हेतु का अनुमान किया जाता है। ऐसा होने पर दृष्टान्त से किसका प्रतिषेध किया जाता है ॥३।१।१९॥

यह ठीक नहीं, विकल्प न बनने से—'पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः' यह दृष्टान्त क्या साधन के पक्ष में दिया गया है अथवा व्यभिचार दिखलाने के पक्ष में (अनैकान्तिकपक्षे)। यदि साधनपक्ष में दिया गया है तो हेतु के विना केवल दृष्टान्त साधक नहीं होता, अतः दृष्टान्त साधक नहीं। यदि यह दोष (व्यभिचार) दिखलाया है तो (क) क्या देखे गये कारण का निराकरण है (ख) अथवा अन्य कारण बतलाया गया है (उपपादनम्) (ग) या आत्मा के उत्पत्ति तथा विनाश के कारण का अनुमान है (घ) अथवा (उसके हँसना, रोना आदि की) आकस्मिकता (कही गई है)।

दृष्टान्ताच्च—विषयों का ग्रहण करके हर्षादि होते हैं केवल दृष्टान्त से उनकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

क्रियाजाताश्च—क्रिया से कमल की पंखड़ियों के संयोग तथा विभाग होते हैं, उस क्रिया के द्वारा ही क्रिया के हेतु का अनुमान किया जाता है।

न विकल्पानुपपत्तेः—विकल्प न बन सकने से। वार्तिककार ने पूर्वपक्ष के दृष्टान्त में विकल्प किये हैं और दिखलाया है कि विकल्प नहीं बन सकते, इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं।

न्यायवार्त्तिकम्

तद् यदि तावद् दृष्टकारणप्रत्याख्यानम् ? तदयुक्तम्, दृष्टेन विशेषितत्वात्—यौवनाद्यवस्थासु स्मितरुदितवत्त्वं शोकादिमदात्मवत्त्वं च दृष्टमिति। दृष्टेन स्मितरुदितवत्त्वेन शोकादिमदात्मवत्त्वं बाल्यावस्थायां गम्यते' इति न दोषः। अथ कारणान्तरोपपादनम् ? तदपि न युक्तम्, अतएव दृष्टेन विशेषितत्वाद' इति। अथात्मन उत्पत्तिनिरोधकारणानुमानम् ? तन्न युक्तम्, द्रव्यस्य सतः सर्वदा अमूर्तत्वाद् अकारण आत्मा आकाशदिवद्' इति। आत्मानं च कृतकं प्रतिपद्यमानेन कारणमस्य वाच्यम्। कुतः ? कार्यस्य कारणवत्त्वात् 'सर्वं कार्यं कारणवद् दृष्टम् इति ॥३।१।१९॥

(क) तब यदि तो देखे गये कारण का निराकरण है ? वह ठीक नहीं, दृष्ट (देखे गये) से (कारण को) विशेषित करने के कारण—यौवनादि अवस्था में स्मित, रुदित युक्त होना तथा शोकादियुक्त आत्मा वाला होना देखा गया है, अतः देखे गये स्मित, रुदित से शोकादियुक्त आत्मा वाला होने की अनुमिति को जाती है (गम्यते), अतः (कोई) दोष नहीं। (ख) यदि अन्य कारण बतलाया जा रहा है ? वह भी युक्त नहीं, इसलिये कि दृष्ट (देखे गये) से विशेषित किया गया है, इति। (ग) यदि आत्मा के उत्पत्ति तथा विनाश के कारण का अनुमान किया जाता है ? वह भी यक्त नहीं—द्रव्य होते हुए सर्वदा अमूर्त होने से आत्मा कारणरहित है, आकाश आदि के समान और आत्मा को कार्य (कृतक) मानने वाले को इसका कारण कहना होगा। क्यों ? कार्य का कारण वाला होने से—सभी कार्य कारण वाले होते देखे गये हैं ॥३।१।१९॥

दृष्टेन विशेषितत्वात्—दृष्ट शब्द से व्यवस्थापित (निश्चित) कार्यकारणभाव का निषेध नहीं किया जा सकता। यौवन आदि अवस्थाओं में स्मित, रुदित आदि हर्ष तथा शोक से उत्पन्न देखे गये हैं, वे बाल्यावस्था में भी वैसे ही हो सकते हैं।

अथात्मन उत्पत्तिनिरोधानुमानम्—जो विकारी (विकार वाला) है वह उत्पत्ति विनाश धर्म वाला है जैसे कमल, वैसा ही आत्मा है, अतः वह विकारी तथा अनित्य है।

तन्न युक्तम्—यह ऊपर के पूर्वपक्षी के कथन का उत्तर है। विकारी होने से आत्मा का अनित्यत्व नहीं सिद्ध किया जा सकता, आत्मा तो नित्य है।

सर्वदा अमूर्त्तत्वात्—यह आत्मा की नित्यता में हेतु दिया गया है। घटादि तो किसी क्षण में ही अमूर्त होते हैं किन्तु आत्मा सदा ही अमूर्त रहता है। मूर्ति का अभिप्राय है मध्यमपरिमाण, परिणामविशेषः मूर्तिः, टी० ५१६।

---

१. कारणवत्त्वनियमात्, पा०।

अथ निर्निमित्ताः पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति मतमेवमात्मनोऽपि हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति ? तच्च,

न, उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ।३।१।२०।

उष्णादिषु सत्सु भावादसत्स्वभावात् तन्निमित्ताः । पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पद्मादीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति, न निर्निमित्ताः । एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमित्ताद् भवितुमर्हन्ति न निमित्तमन्तरेण । न चान्यत्पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धनिमित्तमस्तीति । न चोत्पत्तिनिरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात् । न हर्षादीनां निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः । नोष्णादिवन्निमित्तान्तरोपादानं हर्षादीनाम् । तस्माद् अयुक्तमेतत् ।।३।१।२०।।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारोऽकस्माद् भवतीति ? तन्न, 'उष्णशीतवर्षाकाल[1] निमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्' । नायमाकस्मिकः पद्मादिप्रबोधसम्मीलनविकार इति । सूत्रार्थः । एवं च सति दृष्टान्तेन न किञ्चित् प्रतिषिध्यते । पञ्चात्मकविकाराणामिति—न पञ्चात्मककारणानि[2] पद्मानीति, अपि तु पञ्चानां भूतानामनुग्रहे सति भवन्तीति पञ्चात्मकानीत्युच्यन्ते । 'वस्तुतस्तु न पञ्चात्मकं किञ्चिद् अस्तीति' उपरिष्टाद्वक्ष्यामः ।।३।१।२०।।

(घ) यदि यह मत है कि बिना किसी निमित्त के (निर्निमित्ताः) कमलादि में खिलने तथा बन्द होने का विकार आता है, इसीप्रकार आत्मा में हर्षादि का अनुभव होता है,

नहीं, पञ्चभूतों के विकारों का उष्ण, शीत, वर्षाकाल के निमित्त से होने के कारण ।।३।१।२०।।

उष्णादि के होने पर होने से न होने पर न होने से उन (उष्णादि) के निमित्त से होने वाले हैं । पञ्चभूतों के सहकार से होने वाले हैं कमलादि के खिलना, बन्द होना (आदि) विकार, विना किसी निमित्त के नहीं । इसीप्रकार हर्षादि विकार भी (किसी) निमित्त से हो सकते हैं विना निमित्त के नहीं, और पूर्व अभ्यास किये गये की स्मृति सम्बन्ध से भिन्न अन्य निमित्त है नहीं । (इस) दृष्टान्त से आत्मा के उत्पत्ति तथा विनाश के कारण का भी अनुमान नहीं किया जा सकता । हर्षादि की निमित्त के विना उत्पत्ति नहीं होती, हर्षादि का उष्णादि के समान अन्य निमित्त नहीं बतलाया जा सकता । अतः यह (आक्षेप) अयुक्त है ।।३।१।२०।।

यदि कमलादि में खिलने तथा बन्द होने का विकार विना निमित्त (अकस्मात्) हो जाता है, वह भी नहीं,

'उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्', (यह सूत्र है), सूत्र का अर्थ है, यह कमलादि में खिलना तथा बन्द होना (आदि) विकार विना निमित्त के (आकस्मिकः) नहीं होता । ऐसा होने पर दृष्टान्त से कुछ प्रतिषेध नहीं किया जाता । पञ्चात्मकविकाराणामिति—कमलों के पञ्चभूत कारण नहीं हैं, अपितु पञ्चभूतों का सहकार होने पर (कमल) होते हैं, अतः पञ्चभूतात्मक कहे जाते हैं । वस्तुतः पञ्चभूतात्मक कुछ भी नहीं है, यह आगे कहेंगे ।।३।१।२०।।

न, उष्णशीत०—यह उत्तरसूत्र से इसमें पद्मादि के निर्निमित्त प्रबोध तथा सम्मीलन विकार का निराकरण किया गया है ।

पञ्चात्मकविकाराणाम्—पञ्चात्मकानां पद्मादीनां विकाराः पञ्चात्मकविकारा इति, टी० ५१६ । वस्तुतः वार्त्तिककार के मत में कुछ भी पञ्चभूतात्मक नहीं है ।

---

१. वर्षकाल, पा० । २. कारणानि, नास्ति ए० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इतश्च नित्य आत्मा,

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥३।१।२१॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेणाहाराभ्यासम। कया युक्त्या ? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधापीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात स्मरणानुबन्धाद आहाराभिलाषः। न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते। तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात्प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारानुस्मरन स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहभेदाद् आत्मा भिद्यते भवत्येवोर्द्ध्वं देहभेदादिति ॥३।१।२१॥

न्यायवार्तिकम्

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात स्तन्याभिलाषात्। जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्त्या स्तन्याभिलाषो गम्यते। तत्र प्रवृत्त्युन्नेयः[1] स्तन्याभिलाषस्तेन स्मृतिस्तया संस्कारस्तेनानुभवस्तेन पूर्वशरीरमिति पूर्ववत् प्रयोगः। किमर्थं पुनरिदं सूत्रमारभ्यते यदाऽयमर्थः पूर्वाभ्यस्तसूत्रेऽवगतः ? सामान्यतोऽधिगतस्य[2] विशेषज्ञापनार्थं सूत्रम्, इत्यदोषः ॥३।१।२१॥

इसलिये भी आत्मा नित्य है,

मरने के पश्चात् भोजन के अभ्यास से दूध की अभिलाषा होने से ॥३।१।२१॥

तत्काल उत्पन्न हुए बालक की प्रवृत्ति को देखकर, दूध की अभिलाषा (अनुमान से) जानी जाती है और वह (अभिलाषः) भोजन के अभ्यास के विना नहीं होती। किस युक्ति से ? वस्तुतः भूख से पीड़ित शरीरधारियों की भोजन के अभ्यास द्वारा किये गये स्मरण के निमित्त से भोजन की अभिलाषा देखी जाती है, और पूर्व शरीर के अभ्यास के विना यह तत्काल उत्पन्न में बन नहीं सकती। उससे पूर्वशरीर का अनुमान किया जाता है जहाँ इसने आहार का अभ्यास किया होगा। निश्चय ही वह यह आत्मा पूर्व शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को प्राप्त हुआ है और भूख से पीड़ित हुआ पूर्व अभ्यस्त आहार का स्मरण करता हुआ दूध की अभिलाषा करता है। अतः शरीर के भेद से आत्मा भिन्न नहीं होता अपितु शरीर से भिन्न होकर भी वह रहता है ॥३।१।२१॥

'प्रेत्याहाराभ्यासकृतान् स्तन्याभिलाषात्' (यह सूत्र है)। तत्काल उत्पन्न हुए बालक की प्रवृत्ति से दूध की इच्छा जानी जाती है। वहाँ प्रवृत्ति से दूध की इच्छा, उससे स्मृति, उससे संस्कार, उससे अनुभव, उस (अनुभव) से पूर्व शरीर का अनुमान किया जाता है (उन्नेयः), यह पूर्ववत् प्रयोग है। (प्रश्न) फिर यह सूत्र किसलिये किया जाता है, जब यह अर्थ पूर्वाभ्यस्तसूत्र में जान लिया गया है ? (उत्तर) सामान्य रूप से जाने गये का विशेष बोध कराने के लिये (यह) सूत्र है, अतः दोष नहीं ॥३।१।२१॥

प्रेत्याहार०—यह सूत्र आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिये है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है, विशेष ज्ञापन के लिये सूत्र है पूर्वाभ्यस्तसूत्र से सामान्यतः इच्छामात्र जानी गई थी उसमें विशेष दूध की इच्छा (स्तन्याभिलाष) तथा राग यहाँ कहा गया है, टी० ५१६।

---

१. प्रवृत्त्यनुमेयः, पा०। २. ज्ञातस्य, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥३।१।२२॥

यथा खल्वयोऽभ्यासमन्तरेणायस्कान्तमुपसर्पति, एवमाहाराभ्यासमन्तरेण बाल स्तन्यमभिलषति ॥३।१।२२॥

न्यायवार्त्तिकम्

प्रवृत्तिमात्रस्यानैकान्तिकत्वज्ञापनार्थम् 'अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम्' इति सूत्रम्। न, विकल्पानुपपत्तेः—किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिगमनं सनिमित्तमाहो निर्निमित्तमिति ? यदि सनिमित्तम्, तत्केन गम्यते ? नियमेन—अयांस्ययस्कान्तमेवोपसर्पन्ति न तु लोष्टादीन्, न च लोष्टादय उपसर्पन्ति, सोऽयं कार्यनियमात् कारणनियमो गम्यते। एतेनाकस्मिकत्वं प्रतिषिद्धम्। तदिदमयसामुपसर्पणं किं दृष्टकारणप्रत्याख्यानार्थमुपन्यस्तम्, अथवा कारणान्तरोपदर्शनार्थम्, अथात्मन्युत्पत्तिनिरोधानुमानमिति ? पूर्ववत्प्रसङ्गः ॥३।१।२२॥

(आक्षेप सूत्र)

लौहे के लौह-चुम्बक के समीप जाने के समान उसका समीपगमन होता है ॥३।१।२२॥

वस्तुतः जिसप्रकार लोहा अभ्यास के विना लौहचुम्बक के समीप जाता है उसीप्रकार अभ्यास के विना ही बालक दूध पीने की इच्छा करता है ॥३।१।२२॥

केवल (दुग्धपान में) प्रवृत्ति की सव्यभिचारिता को सूचित करने के लिये 'अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत् तदुपसर्पणम्' (यह) सूत्र है। (यह ठीक) नहीं, विकल्प न बन सकने से—यह लोहे का लोह-चुम्बक की ओर जाना किसी निमित्त से होता है अथवा विना किसी निमित्त के ? यदि किसी निमित्त से होता है, वह (निमित्त) किससे जाना जाता है ? नियम से—लौहे जो हैं वे लोह-चुम्बक की ओर जाते हैं मिट्टी के ढेले (लोष्ट) आदि की ओर नहीं और (लौह-चुम्बक की ओर) लोष्ट आदि भी नहीं जाते। वह यह कार्य के नियम से कारण का नियम जाना जाता है। इससे अकस्मात् होने का प्रतिषेध हो जाता है। वह यह लोहों का (लौह-चुम्बक की ओर) जाना क्या दृष्टकारण का निराकरण करने के लिये दिया गया है अथवा अन्य कारण दिखलाने के लिये या उत्पत्ति तथा विनाश का अनुमान है। ये (विकल्प) पहले के समान प्राप्त होते हैं ॥३।१।२२॥

अयसो···उपसर्पणम्—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है जो प्रवृत्तिमात्र का सव्यभिचार होना सूचित करता है (ऊपर वार्त्तिक)। लौहे के लोहकान्तमणि के समीप जाने में पूर्वाभ्यस्त स्मृति कारण नही होती। यदि बालकों को पूर्वाभ्यस्त स्मृति का सम्बन्ध माने तो कोई जन्मान्ध न हुआ करे।

न, विकल्पानुपपत्तेः—यहाँ विकल्प दिखलाकर पूर्वपक्ष का निराकरण किया गया है।

किमिदम्—ये विकल्प किये गये हैं। यौवनावस्था में चेतन की प्रवृत्ति पूर्वाभ्यस्त की स्मृति के हेतु से होती है। इससे बालक की प्रवृत्ति का अनुमान किया जाता है। यह नियम नहीं है कि जो एक का स्मरण करता है वह अन्य का भी स्मरण करे जिससे जन्मान्ध आदि न हुआ करे। आजकल भी कोई किसी का स्मरण करता है किसी का नहीं।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निर्निमित्तमथ निमित्तादिति ? निर्निमित्तं तावत्,

न, अन्यत्र प्रवृत्त्यभावात् । ३।१।२३।।

यदि निर्निमित्तम् ? लोष्टादयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुः । न जातु नियमे कारणमस्तीति । अथ निमित्तात् ? तत्केनोपलभ्यते' इति । क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः, क्रियानियमलिङ्गश्च क्रियाहेतुनियमः । तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः । बालस्यापि नियतमुपसर्पणक्रियोप लभ्यते । न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यद् आहाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धात्, निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते, न चासति निमित्ते कस्यचिदुत्पत्तिः । न च दृष्टान्तो दृष्टमभिलाषहेतुं बाधते । तस्माद् अयसोऽयस्कान्ताभिगमनमदृष्टान्तः' इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

आकस्मिकत्वप्रतिषेधार्थं च 'नान्यत्र प्रवृत्त्यभावाद्' इति सूत्रम् ३।१।२३।।

क्या यह लोहे का लोह-चुम्बक के समीप जाना विना निमित्त के होता है अथवा निमित्त से होता है ? प्रथमतः बिना निमित्त के,

नहीं, अन्य (पदार्थों) में प्रवृत्ति न होने के कारण ।३।१।२।।

यदि बिना निमित्त के है ? तो ढेला आदि भी लोह-चुम्बक के समीप आया करें। नियम में कोई कारण नहीं है । यदि निमित्त से तो वह किससे जाना जाता है ? क्रिया के हेतु की बोधक (लिङ्ग) क्रिया होती है और क्रिया के हेतु के नियम का बोधक क्रिया का नियम है (क्रियानियमलिङ्गः) । बालक की भी, नियम से दूध के समीप जाने की क्रिया उपलब्ध होती है और दूध (पीने) की इच्छा है लिङ्ग (बोधक) जिसका उसका आहार का अभ्यास किये गये स्मरण के सम्बन्ध से अन्य निमित्त दृष्टान्त के द्वारा नहीं बतलाया जाता (उपपाद्यते) । निमित्त न होने पर किसी की उत्पत्ति नहीं होती । किञ्च, यह दृष्टान्त देखे गये इच्छा के निमित्त का बाध नहीं करता । इसीलिये लोहे का लोह-चुम्बक की ओर जाना (ठीक) दृष्टान्त नहीं।

अकस्मात् (बिना किसी निमित्त के) होने का प्रतिषेध करने के लिये 'नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात्' यह सूत्र है ।

न, अन्यत्र—यह उत्तर देने वाला सूत्र है, यहाँ पूर्वपक्ष का उत्तर दिया गया है ।

निर्निमित्तम्—यहाँ भाष्य में विकल्प दिखलाये गये है कि लोह का लोहचुम्बक के समीप गमन किसी निमित से होता है अथवा विना किसी निमित्त ही ।

अन्यत्र—लोष्टादौ लोष्टादेरिति यावत्, षष्ठीसप्तम्योरभेदार्थत्वात् ।एतदुक्तं भवति, लोष्टादेरयस्कान्तप्रवृत्त्यभावात्, टी० ५१७। अन्य जो मिट्टी का ढेला आदि है उनकी अयस्कान्त के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती । यहाँ भाष्य का प्रथम अर्थ समाप्त होता है। दूसरा अर्थ आगे दिखलाया गया है ।

अयसः खल्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति, न जात्वयो लोष्टमुपसर्पति। किं कृतोऽस्य नियम इति ? यदि कारणनियमात् ? स च क्रियानियमलिङ्गः। एवं बालस्यापि नियतविषयोऽभिलाषः कारणनियमाद् भवितुमर्हति। तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणम् अन्यद् वेति दृष्टेन विशिष्यते। दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणाद् आहाराभिलाष इति।३।१।२३।।

इतश्च नित्य आत्मा। कस्मात् ?

वीतरागजन्मादर्शनात्। ३।१।२४।।

सरागो जायते' इत्यर्थाद् आपद्यते। अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते।

न्यायवार्त्तिकम्

नित्य आत्मा 'वीतरागजन्मादर्शनात्'। न हि कश्चिज्जातमात्रो वीतरागो जायते, वीतरागाणां जन्मादर्शनात् सरागो जायते' इति गम्यते। जन्म व्याख्यातम्।

वस्तुतः लोहे की भी अन्य (की ओर जाने) में प्रवृत्ति नहीं होती, कभी भी लोहा मिट्टी के ढेले (लोष्टम्) की ओर नहीं जाता। किसका किया हुआ इसका नियम है ? यदि कारण के नियम से यह है और उसका बोधक (लिङ्ग) है क्रिया का नियम। इसीप्रकार बालक की भी नियतविषयक इच्छा कारण के नियम से हो सकती है और वह कारण अभ्यास किये गये आहार का स्मरण है अथवा अन्य, यह दृष्ट (देखे गये) ये विशेषित होता है। वस्तुतः शरीरधारियों की अभ्यास किये गये का स्मरण करने से आहार की इच्छा देखी गई है। ३।१।२३।।

इसलिये भी आत्मा नित्य है। क्यों ?

रागरहित (वीतराग) का जन्म न देखने से।३।१।२४।।

अर्थतः यह प्राप्त होता है कि रागयुक्त उत्पन्न होता है। यह (व्यक्ति) उत्पन्न होता हुआ राग से युक्त (ही) होता है।

आत्मा नित्य है 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (यह सूत्र है)। (इसका अर्थ है) कोई तत्काल उत्पन्न हुआ रागरहित नहीं होता, राग रहितों का जन्म न देखने से रागयुक्त (ही) उत्पन्न) होता है, यह जाना जाता है। जन्म की व्याख्या की जा चुकी है।

अयसः खल्वपि—यह सूत्र की दूसरी व्याख्या है। इसके अनुसार लोह की भी कभी अन्य से प्रवृत्ति नहीं होती, वह कभी भी मिट्टी के ढेले के समीप नहीं जाता, सम्प्रति त्वन्यथा व्याचष्टे, (खल्वपि) निपातसमुदायः कल्पान्तरं द्योतयति, टी० ५१७।

सरागो जायते इत्यर्थादापद्यते—रागयुक्त उत्पन्न होता है, यह 'अर्थात' प्राप्त होता है। इस पर वृत्तिकार कहते हैं, पूर्वं स्तन्याभिलाष उक्तः, सम्प्रति तु पतगादीनां कणादिभक्षणाभिलाषसाधारणं रागमात्रमित्यपौनरुक्त्यम्, विश्वनाथवृत्ति।

वीतरागाणां जन्मादर्शनात्—रागशून्यों का जन्म नहीं देखा जाता।

जन्म व्याख्यातम्—जन्म की ऊपर व्याख्या कर दी गई। आत्मा का नवीन शरीर आदि धारण करना ही जन्म है।

न्यायभाष्यम्

रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः। पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते। सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु-तेषु रज्यते। तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः। एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण पूर्वतरशरीरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः। अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वम् इति।३।१।२४॥

न्यायवार्त्तिकम्

ततः किम् ? रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं[1] योनिः, न च विषयावगमासमर्थेषु इन्द्रियेषु रागः सम्भवति, न च स्मृतिमन्तरेण विषयानुचिन्तनं[2] युक्तम्। पूर्वानुभूतविषयप्रार्थना संकल्पः। अदृष्टाद् इति चेत्—अथ मन्यसे न पूर्वशरीरयोगो रागाद् गम्यते अपित्वदृष्टाद् राग इति। नाभिप्रायापरिज्ञानात्[3]

पूर्वानुभूत विषय का अनुचिन्तन करना राग का निमित्त (योनि) होता है और विषयों का पूर्वानुभव अन्य जन्म में शरीर के विना नहीं बनता। वह यह आत्मा पूर्वशरीर द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण करता हुआ उन-उन में रक्त हो जाता है। उसप्रकार यह दो जन्मों का सम्बन्ध है (प्रतिसन्धि)। इसीप्रकार पूर्व शरीर का उससे पूर्व (पूर्वतर) के साथ और पूर्वतर शरीर का पूर्वतम के साथ आदि प्रकार से चेतन का अनादि शरीर-सम्बन्ध होता है और अनादि ही राग का सम्बन्ध है अतः (आत्मा की) नित्यता सिद्ध होती है। ३।१।२४॥

उससे क्या होता है ? पूर्व अनुभूत विषय का अनुचिन्तन करना राग का कारण (योनिः) है और विषयों के ज्ञान में असमर्थ इन्द्रियों में राग होना संभव नहीं। स्मृति के बिना विषयों का अनुचिन्तन युक्त नहीं। पूर्वानुभूत विषय की प्रार्थना (इच्छा ही) संकल्प है। (शङ्का) यदि वह अदृष्ट से होता है—यदि मानते हो कि राग के होने से पूर्वशरीर से सम्बन्ध नहीं जाना जाता अपितु अदृष्ट से राग हो जाता है ? [समाधान] यह (ठीक) नहीं अभिप्राय न जानने से

पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः—एक विषय में जो स्मृति का प्रवाह होता है जिसके बीच में कोई विजातीय ज्ञान नहीं होता वह चिन्तन है वह अनुभव के पश्चात् होता है अतः अनुचिन्तन कहा गया है। राग उसीसे होता है अतः उसे राग की योनि (कारण) कहा जाता है।

पूर्वानुभवश्चान्यस्मिन् जन्मनि—यहं पूर्वानुभव अन्य जन्म में ही संभव है।

सिद्धं नित्यत्वम्—पूर्वानुभव से पूर्वशरीर सिद्ध होता है उस पूर्वशरीर से पूर्वतर तथा उससे पूर्वतम। इसप्रकार आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है।

न, विषयावगमासमर्थेषु—बालक की इन्द्रियाँ इस जन्म में विषय के ज्ञान में समर्थ नहीं होती। इससे 'अन्यस्मिन् जन्मनि' की व्याख्या की गई है (टी० ५१८)।

१. पूर्वानुभवविषयानुचिन्तनं, पा०। २. रागचिन्तनं, पा०।
३. नाभिप्रायाविज्ञानात्, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कथं पुनर्ज्ञायते पूर्वानुभवविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागो न पुनः,

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः । ३।१।२५।।

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणात् उत्पद्यन्ते तथोत्पत्तिधर्मकस्यात्मनो रागः कुतश्चिदुत्पद्यते । अत्रायमुदितानुवादो निदर्शनार्थः । ३।१।२५।।

न्यायवार्त्तिकम्

नैवमभिप्रायः कारणनियमेन रागोऽपितु पूर्वशरीरसम्बन्धप्रतिपादनं सूत्रार्थः । न चादृष्टाद् राग इति ब्रुवता तत्प्रतिषिध्यते' इति किञ्चिदुक्तम् । तन्मयत्वाद् राग इति—विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुस्तन्मयत्वम् उच्यते, जातिविशेषात् च रागविशेष इति । कर्म खल्विदं जातिविशेषस्य निर्वर्तकं तादर्थ्यात्ताच्छब्दं लभ्यते, वीरणादिवत् ।३।१।२४।।

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः । इत्यनैकान्तिकपक्षे सूत्रम् । नोक्तोत्तरत्वात् उक्तोत्तरमेतत् ।३।१।२५।।

किन्तु यह कैसे ज्ञात होता है कि तत्काल उत्पन्न हुए (बालक) का राग पूर्व अनुभूत विषय के अनुचिन्तन से उत्पन्न होता है न कि,

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान उसकी उत्पत्ति होती है । ३।१।२५।।

जिसप्रकार उत्पत्ति धर्म वाले द्रव्य के गुण कारण से उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार उत्पत्ति धर्म वाले आत्मा का राग किसी (कारण) से उत्पन्न हो जाता है । यहाँ यह कहे गये को फिर से कहा गया है (अनुवाद:) निदर्शन के लिये । ३।१।२५।

इसप्रकार अभिप्राय नहीं है कि कारण के नियम से राग होता है, अपितु पूर्व शरीर से सम्बन्ध बतलाना सूत्र का अभिप्राय है और अदृष्ट से राग होता है यह कहते हुए उसका प्रतिषेध नहीं किया जाता अतः जो कुछ (व्यर्थ ही) कहा गया है। राग तो तन्मय होने से होता है—वस्तुतः विषय का ऐसा अभ्यास जो भावना (संस्कार विशेष) का हेतु होता है, तन्मयत्व कहा जाता है, भिन्न-भिन्न जातियों से विशेष प्रकार का राग होता है । निश्चय ही यह कर्म जातिविशेष को उत्पन्न करता है । (यहाँ) उसके लिये होने के वह शब्द ((उसका प्रयोग) प्राप्त होता है जैसे (चटाई के लिये रक्खे गये) वीरण (घास विशेष) आदि में होता है । ३।१।२४।।

'सगुणोत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः' यह सूत्र (सिद्धान्ती के हेतु को) सव्यभिचार दिखलाने के पक्ष में है । यह (ठीक) नहीं उत्तर कह दिये जाने से—इसका उत्तर दिया जा चुका है । ३।१।२५।

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्—यह पूर्वपक्ष की शङ्का है । पूर्वानुभव से राग उत्पन्न होता है, इसे सव्यभिचार (अनैकान्तिक) दिखलाने के लिये यह सूत्र है (वार्त्तिक ऊपर) ।

अत्रायमुदितानुवादो निदर्शनार्थः— अभिप्राय यह है कि अयस्कान्त के दृष्टान्त से यह शङ्का की गई है, तथापि उसका अनुवाद (सार्थक पुनः कथन) उदाहरण (निदर्शन) के लिये किया गया है यहाँ घटादि का रूपादि निदर्शन दिखलाया गया है । जब शंङ्का में अनुवाद है तो समाधान में भी, टी० ५१८ ।

तन्मयत्वाद् रागः—रागादि अदृष्टकारण से उत्पन्न होते है यह स्वीकार करके उसका परिहार किया गया है । अब वास्तविक कारण का कथन किया गया है, तन्मयत्वाद् राग होता है । तन्मयत्व क्या है यह आगे बतलाया जा रहा है (टी० ५१८) । वार्त्तिककार ने भाष्यकार से पहिले ही 'तन्मयत्वा रागः' यह कह दिया है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न, संकल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम् । ३।१।२६।।

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवद् उत्पत्तिरात्मनो रागस्य च । कस्मात् ? संकल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम्—अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां संकल्पजनितो रागो गृह्यते । संकल्पश्च पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः; तेनानुमीयते 'जातस्यापि पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो रागः' इति । आत्मोपादानाधिकरणात्तु रागोत्पत्तिर्भवन्ती संकल्पाद् अन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या, कार्यद्रव्यगुणवत् । न चात्मोत्पादः सिद्धो नापि संकल्पाद् अन्यद् रागकारणमस्ति । तस्माद् अयुक्तं 'सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तयोरुत्पत्तिः' इति ।।

न्यायवार्त्तिकम्

न, संकल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम्, इति ।

नहीं, राग आदि के संकल्प के निमित्त से होने के कारण (३।१।२६।।

वस्तुतः सगुण (द्रव्य) की उत्पत्ति के समान आत्मा की तथा राग की भी उत्पत्ति नहीं होती । क्यों ? राग आदि के संकल्प के निमित्त से होने के कारण—निश्चय ही यह विषयों (रूपादि) में तत्पर रहने वाले प्राणियों का संकल्प से उत्पन्न राग देखा जाता है और संकल्प पूर्वानुभूत विषय के चिन्तन के कारण होता है । उससे अनुमान किया जाता है कि तत्काल उत्पन्न बालक का भी राग पूर्व अनुभूत विषय के अनुचिन्तन से होता है । यदि राग की उत्पत्ति आत्मा के उत्पन्न करने वाले कारणों से हुआ करे तो संकल्प से अन्य राग का कारण होने पर कहनी होगी, कार्यद्रव्य के गुणों के समान । किन्तु (च) आत्मा की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती और न ही संकल्प से अन्य उसके राग का कारण है । इसलिये सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान आत्मा तथा राग की (तयोः) उत्पत्ति हो जायेगी, यह अयुक्त ।

'न संकल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम्' (यह सिद्धान्तसूत्र है) । यहाँ भी

न संकल्पनिमित्तत्वाद्०—यह सिद्धान्त सूत्र है । यहाँ बतलाया गया है कि रागादि संकल्प के निमित्त से होते हैं । संकल्प का क्या अभिप्राय है ? यह आगे दिखलाया गया है ।

पूर्वानुभूतचिन्तनकृतो रागः—प्राणी में जो राग देखा जाता है वह पहले अनुभव के चिन्तन से होता है ।

तस्माद् अयुक्तम्— इसलिये सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान आत्मा तथा राग की उत्पत्ति हो जायेगी, यह मानना अयुक्त है ।

न संकल्पनिमित्तत्वाद् रागादीनाम्-वार्त्तिककार ने संकल्प का कारण स्मृति,- स्मृति का कारण संस्कार तथा संस्कार का कारण पूर्वानुभव और पूर्वानुभव का कारण पूर्वशरीर का आत्मा से सम्बन्ध दिखलाया है जो पूर्वाभ्यस्तसूत्र के समान ही है ।

न्यायभाष्यम्

अथापि संकल्पाद् अन्यद् रागकारणं धर्माधर्मलक्षणम् अदृष्टम् उपादीयते तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः। तत्र हि तस्य निर्वृत्तिः, नास्मिन् जन्मनि। तन्मयत्वाद् राग इति। 'विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वम् उच्यते इति। जातिविशेषाच्च रागविशेष इति। कर्म खल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकं तादात्म्यात्तच्छब्दं विज्ञायते। तस्माद् अनुपपन्नम् 'संकल्पाद् अन्यद् रागकारणम्' इति। २।१।२६॥

न्यायवार्त्तिकम्

अत्रापि पूर्ववत् संकल्पस्मृतिसंस्कारपूर्वानुभवपूर्वशरीरवदात्मवत्त्वानि योज्यानीति। एवं चानादिः संसारोऽपवर्गान्तः सिध्यतीति व्यवस्थितमेतदस्त्यात्मा व्यतिरिक्तो नित्यश्चेति।३।१।२६।।

यदि संकल्प से अन्य कारण धर्माधर्म रूप अदृष्ट लिया जाये तथापि पूर्वशरीर के सम्बन्ध का निराकरण न होगा। वस्तुतः पूर्व शरीर में (तत्र) उस (अदृष्ट) की उत्पत्ति होगी; इस जन्म में नहीं। राग तो तन्यय होने से होता है। निश्चय ही विषयों का अभ्यास यह जो भावना नामक (संस्कार का हेतु है वह तन्ययत्व कहलाता है। विशेष प्रकार का राग जातिविशेष से हो जाता हैं जाति-विशेष का उत्पादक कर्म है। यहाँ तादात्म्य से उस शब्द को जाना जाता है (कर्म के लिये राग शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुनः कर्म से जातिविशेष होती है और उससे राग होता है)। इसलिये संकल्प से भिन्न राग का कारण नहीं बनता। ३।१।२६।।

यहाँ भी पहिले के समान संकल्प स्मृति से होता है, स्मृति संस्कार से, संस्कार पूर्वानुभव से, पूर्वानुभव पूर्व शरीर में आत्मा को होता है, यह योजना कर लेनो चाहिये। इस प्रकार यह जन्म-मरण (संसार) अनादि है, इसका अन्त अपवर्ग हैं, यह सिद्ध होता है। अतः यह विश्चित हो गया कि (शरीरादिसे) भिन्न आत्मा है, वह नित्य है। ३।१।२६।।

धर्माधर्मलक्षणम् अदृष्टम्—अदृष्ट दो प्रकार का होता है धर्मरूप में तथा अधर्म रूप में। अदृष्ट राग का कारण मानें तथापि पूर्वशरीर का आत्मा से सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा; क्योंकि पूर्वशरीर में ही तो अदृष्ट की उत्पत्ति होगी।

जातिविशेषाच्च—यदि यह शङ्का हो कि जब पूर्वाभ्यस्त की स्मृति के सम्बन्ध से राग आदि की उत्पत्ति मानी जाती है तब मनुष्य-जन्म के पश्चात् करभ (उष्ट्र-शिशु) का जन्म होने पर मनुष्य की भावनाओं का उदय होगा, करभ की नहीं? इसके समाधान के लिये 'जातिविशेषात्' यह कहा गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार कर्म जन्म का निमित्त होता है इसी प्रकार वह संस्कार का उद्बोधका होता है, अतः सहस्रों जन्मों का व्यवधान होने पर भी करभ की भावना का उद्बोधन हो जाया करत है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

६. [शरीरपरीक्षा]

अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तम् स्वकृतकर्मनिमित्तं चास्य शरीरं सुखदुःखाधिष्ठानम्। तत्परीक्ष्यते, 'किं घ्राणादिवदेकप्रकृतिकम्, उत नानाप्रकृतिकम्' ? इति। कुतः संशयः ? विप्रतिपत्तेः संशयः। 'पृथिव्यादीनि भूतानि संख्याविकल्पेन शरीरप्रकृतिः' इति प्रतिजानते' इति। किं तत्र तत्त्वम् ?

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः। ३।१।२७॥

न्यायवार्त्तिकम्

आत्मानन्तरं शरीरमवसरप्राप्तं परीक्ष्यते। अथवा अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इति शरीरं परीक्ष्यते। तस्मिन् परीक्ष्यमाणे आत्माधिकारश्च[1] परिसमाप्तो भवति। किं पुनरस्य परीक्ष्यम् ? किं घ्राणादिवद् एकप्रकृति, अथ नानाप्रकृतीति ? विप्रतिपत्तेः संशयः। श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिः। तत्रेदं तत्त्वम् (पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः)।

---

६. (शरीर पार्थिव है अथवा पांच भौतिक)

चेतन (आत्मा) का शरीर से सम्बन्ध (योग) अनादि है, यह कहा जा चुका हैं और यह (भी) कि इस (आत्मा) के अपने किये गये कर्म से (शरीर) होता है, इस (आत्मा) के सुख दुःख का अधिष्ठान (स्थान) है। उस (शरीर) की परीक्षा की जाती है। क्या वह घ्राण आदि के समान एक-प्रकृतिक (एक पृथिवी आदि से बना हुआ) है अथवा नाना-प्रकृति (पृथ्वी आदि नाना भूतों से बना हुआ) है। यह संशय क्यों है ? नानामत (विप्रतिपत्तेः) होने से संशय है—पृथिवी आदि भूत संख्या के विकल्प से (एक, दो, तीन, चार या पांच) शरीर की प्रकृति ऐसी (भिन्न-भिन्न दार्शनिक) स्थापना करते हैं। उसमें वास्तविकता (तत्त्वम्) क्या है ?

(मनुष्य का शरीर) पार्थिव है, विशेष गुण (गुणान्तर) की उपलब्धि होने से। ३।१।२७॥

आत्मा के पश्चात् अवसरप्राप्त शरीर की परीक्षा की जाती है। अथवा चेतन (आत्मा) का शरीर से सम्बन्ध अनादि है, अतः (आत्मा के पश्चात्) शरीर की परीक्षा की जाती है। इसकी परीक्षा किये जाने पर आत्मा का अधिकार (प्रकरण) समाप्त हो जाता है। इस (शरीर) की क्या परीक्षा करनी है ? क्या शरीर घ्राण आदि के समान एक भूत से बना है या नानाभूतों से ? मत-भेद से संशय होता है—इस विषय में मत-भेद सुना जाता है। वहाँ यह वस्तुस्थिति (तत्व) है 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' (यह सूत्र है)।

एकप्रकृतिक—एका प्रकृतिर्यस्य, नानाप्रकृतिकम्—नाना प्रकृतिर्यस्य।

विप्रतिपत्तेः संशयः—दार्शनिकों का शरीर की प्रकृति के बारे में मतभेद है, अतः संशय है।

आत्मानन्तरम्—यह वार्तिककार ने शरीर-परीक्षा की संगति लगाई है। अथवा, यह भाष्य की संगति की व्याख्या है।

पार्थिवम्—मनुष्य-शरीर पार्थिव है अर्थात् इसका समवायी कारण पृथिवी है, इसमें हेतु है 'गुणान्तरोपलब्धेः'—पृथिवी के विशेषगुण (गन्ध) की उपलब्धि होने से। जल आदि का संयोग शरीर की उत्पत्ति में होती ही है।

---

१. आत्माधिकार एव, पा०।

न्यायभाष्यम्

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम् । कस्मात् ? गुणान्तरोपलब्धेः । गन्धवती पृथिवी, गन्धवच्च शरीरम । अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात् । 'न त्विदमबादिभिरसम्पृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते' इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति । भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति । आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति । स्थाल्यादि द्रव्यनिष्पत्तावपि निसंशयो नाबादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति । ३।१।२७॥

न्यायवार्तिकम्

मानुषं शरीरं पार्थिवमिति । मानुषमिति किमर्थं[1] विशिष्यते ? 'लोकान्तराणि शरीराणि न पार्थिवानि' इति युक्तं विशेषणम् । गन्धवत्त्वात् परमाणुवत्—गन्धवान् परमाणुरेकात्मको दृष्टः, गन्धवच्च शरीरम्, तस्मादेकात्मकम् 'एकस्वभावम् इति' । न त्विदमबादिभिरसंपृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते' इति भूत-संसर्गोऽप्रतिषिद्धः ।

उसमें मनुष्य का शरीर पार्थिव है । क्यों ? (पृथिवी के) गुणविशेष की उपलब्धि होने से—पृथिवी गन्धवाली है और शरीर (भी) गन्धवाला है । जल (अप्) आदि के गन्ध-रहित होने से (उनके) समवायी कारण होने पर (शरीर) गन्धरहित होता; किन्तु यह (शरीर) जल आदि के सम्पर्क से रहित पृथिवी से नहीं बना तब तो (यह) चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ (रूप आदि) का आश्रय नहीं हो सकता, इसलिये पाँचों भूतों का संयोग होने पर शरीर होना है । पाचों भूतों के परस्पर (मिथः) संयोग का निषेध नहीं किया गया । अन्य लोक में जलीय, तैजस तथा वायव्य शरीर हैं उनमें भी पुरुषार्थ (की सिद्धि) के लिये भूतों का संयोग होता है । निःसन्देह बटलोही (स्थाली) आदि द्रव्य की उत्पत्ति में भी जल आदि के संयोग के बिना उत्पत्ति नहीं होती । ३।१।२७॥

मनुष्य का शरीर पार्थिव है । (प्रश्न) मानुषम् (मनुष्य का) यह विशेषण किसलिये दिया गया है ? (उत्तर) अन्य लोकों के शरीर पार्थिव नहीं, इसलिये विशेषण (देना) युक्त है । (भाष्य में कहा गया है) गन्धवाला होने से परमाणु के समान—गन्ध वाला परमाणु एकात्मक (एक का बना हुआ) देखा गया है, शरीर भी गन्धवाला है अतः एकात्मक है, एकस्वभाववाला है । किन्तु यह (शरीर) जल आदि के सम्पर्क से रहित केवल पृथिवी से बना हुआ चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थों (रूपादि का) आश्रय नहीं हो सकता, इसलिये अन्य भूतों (जलादि) के संसर्ग का प्रतिषेध नहीं किया जाता ।

मानुषं शरीरं पार्थिवम्—मनुष्य का शरीर पार्थिव है, गन्धवत्त्वात् यह हेतु है परमाणुवत्, यह उदाहरण है । यहाँ 'मनुष्य का' का शरीर का विशेषण दिया गया है ।

न त्विदमबादिभिरसम्पृक्तया—यदि शरीर केवल पृथिवी से ही बना होता, जलादि का संयोग भी इसमें न होता तो यह चेष्टा आदि का आश्रय न होता । अतः जल आदि का संयोग इसकी उत्पत्ति में होता है केवल समवायी कारण पार्थिव परमाणु है ।

---

१. किमिति, पा० ।

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ।३।१।२८।।

निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ३।।१।२९।।

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशादानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ।३।१।३०।।

'ते' इमे सन्दिग्धा हेतवः' इत्युपेक्षितवान् सूत्रकारः । कथं सन्दिग्धाः ? सति च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिः, असति च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निहितानामिति । यथा स्थाल्यामुदकतेजोवाटवाकाशानामिति । तदिदमनेकभूत प्रकृति शरीरम् अगन्धम्, अरसम्, अरूपम्, अस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात् स्यात् । न त्विदमित्थम्भूतम् । तस्मात् पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ।३।२८, २९, ३१।।

न्यायवार्तिकम्

एवं तर्हि पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः, निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम्, गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकमिति[1] प्रत्युक्तम्[2] । तत्र सन्निहितानां तद्गुणोपलब्धेरिति ।

[पूर्वपक्ष के सूत्र]

(शरीर) पार्थिव, जल का बना तथा तैजस है, उनके गुणों की उपलब्धि होने से ।३।१।२८।।

निःश्वास, उच्छ्वास की उपलब्धि होने से यह (शरीर) चातुर्भौतिक है । ३।१।२९।।

गन्ध, क्लेद, पाक, व्यूह तथा अवकाशदान (छिद्र) के कारण यह पांच भौतिक है । ३।१।३०।।

वे ये हेतु सन्दिग्ध हैं अतः सूत्रकार ने इनकी उपेक्षा करदी है । (प्रश्न) सन्दिग्ध क्यों हैं । ? (उत्तर) जल आदि (भूतों के शरीर का) समवायिकरण होने पर (प्रकृतिभावे) उनके धर्म (क्लेद आदि) की उपलब्धि होगी और न होने पर सम्पर्क (संयोग) का प्रतिषेध न करने से समीप में उपस्थित होने से भी; जैसे बटलोही में जल, तेजस्, वायु तथा आकाश के (सम्पर्क का निषेध नहीं किया जाता) । यदि यह शरीर अनेक भूतों (पृथिवी आदि) से बना होता तो समवायी कारण का अनुसरण करने के कारण गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श से रहित होता; किन्तु यह (शरीर) इस प्रकार का नहीं है । इसलिये यह (शरीर) विशेष गुण (गन्ध) की उपलब्धि होने से पार्थिव है । ३।१।२८, २९, ३०।।

इस प्रकार तो यह (शरीर) पृथिवी, जल तथा तेजस् का बना होगा क्योंकि उनके गुण (इसमें) उपलब्ध होते हैं, (अथवा) निःश्वास तथा उच्छ्वास की उपलब्धि से यह चातुर्भौतिक (पृथिवी, जल, तेज तथा वायु से बना) होगा ? या गन्ध, क्लेद, पाक, व्यूह तथा अवकाशदान (की उपलब्धि) होने से यह पाञ्चभौतिक होगा ।, इस (कथन) का निराकरण हो गया, क्योंकि वहाँ (शरीर के समीप में) उपस्थित उन (भूतों) के गुणों की उपलब्धि होती है ।

पार्थिवाप्यतैजसम्—पृथिवी, जल, तेजस् तीनों से बना हुआ (त्रिप्रकृति) शरीर है । यह किन्हीं का मत है ।

निः श्वासोच्छ्वासो—पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु का बना शरीर है ।

गधक्लेद०—यहां उनका मत दिखलाया है जो शरीर को पञ्चभौतिक मानते हैं ।

तदिम्...प्रकृत्यनुविधानात् स्यात्—प्रकृतिका अनुसरण करके यह गधरहित आदि होगा ।

---

१. ३. १. २८-३० वार्तिके सूत्ररूपेण न सन्ति । २. प्रतिषिद्धम्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

'तदिदमनेकभूतप्रकृति शरीरम् अरसम्, अगन्धम्, अरूपम्, अस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात् स्याद्' इति भाष्यम्। तस्य व्याख्यानं पृथिव्युदकाभ्यामारभ्यमाणम् अगन्धं कारणगन्धस्यैकस्यानारम्भकत्वात्। पृथिव्यनलाभ्यामारभ्माणम् अगन्धम् अरसं च कारणगन्धरसयोः केवयोरनारम्भकत्वात्। पृथिव्यनिलाभ्याम् अगन्धम्, अरसम्, अरुपं च वायोरगन्धरसरूपत्वात्। पृथिव्याकाशाभ्याम् अगन्धम्, अरसम्, अरूपम् अस्पर्शं च, आकाशे गन्धाद्यभावात्। सर्वत्र समानो न्यायः, कारणगुणस्य केवलस्यानारभ्भकत्वात्।

जलानलाभ्याम् अगन्धं चारूपं च। जलवायुभ्याम् अगन्धं चारसं चारुपं च। जलाकाशाभ्याम् अगन्धम्, अरसम् अरूपम्, अस्पर्शं च। तेजोलिजाम्याम् अगन्धं चारसं चारूपं

यदि यह शरीर अनेक भूतों के समवायी कारण वाला (अनेकभूतप्रकृति) होता तो प्रकृति का अनुसरण करने के कारण रस-रहित, गन्ध-रहित, रूप-रहित तथा स्पर्श-रहित होता, यह भाष्य है। उसकी व्याख्या है, पृथिवी तथा जल से बना हुआ (यह शरीर) गन्धरहित होता, क्योंकि एक ही गन्ध इसका समवायी कारण (आरम्भक) नहीं। पृथिवी और तेजस् (अनल) से आरब्ध (यह शरीर) गन्ध-रहित तथा रसरहित होता; क्योंकि कारण रूप गन्ध और रस केवल इसके आरम्भक नहीं। पृथिवी और वायु से आरब्ध (यह शरीर) गन्धरहित, रसरहित तथा रूपरहित होता; क्योंकि वायु तो गन्धरहित, रसरहित तथा रूपरहित है। पृथिवी तथा आकाश से (आरब्ध यह शरीर) गन्धरहित, रसरहित, रूपरहित तथा स्पर्श रहित होता; क्योंकि आकाश में गन्धादि नहीं होते। सर्वत्र समान ही न्याय है क्योंकि केवल कारण गुण (गन्ध आदि) आरम्भक नहीं होते।

जल तथा तेजस् से (आरब्ध, यह शरीर) गन्धरहित और रसरहित होता। जल तथा वायु से गन्धरहित, रसरहित और रूपरहित। जल तथा आकाश से गन्धरहित, रसरहित और रूप रहित। —

तस्य व्याख्यानम्—भाष्य में जो कहा गया है कि 'यदि यह शरीर अनेक भूतों से बना होता तो रसरहित तथा गन्धरहित आदि होता' इसकी वार्तिककार ने आगे व्याख्या की है। अयममिसन्धि आदि से टीका में इसे स्पष्ट किया गया है, पृथिवी तथा जल के परमाणु से यदि द्वयणुक बनेगा तो वह गन्धरहित होगा। इसी प्रकार अन्य दो भूतों से उत्पन्न द्वयणुक भी, और शरीरोत्पत्ति का क्रम यही है कि दो परमाणुओं से द्वयणुक बनता है, तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु। तब शरीर की उत्पत्ति होती है। बहुत से पार्थिव परमाणुओं से शरीर बन नही सकता; क्योंकि परमाणु किसी के कारण नहीं होते।

सर्वत्र समानो न्यायः काणरगुणस्य केवलस्यानारम्भकत्वात्—जहां गन्धयुक्त तथा गन्धरहित परमाणु से द्वयणुक बनेगा वह अगन्ध ही होगा, क्योंकि कारणगुणपूर्वक ही कार्य का गुण होता है।

न्यायवार्त्तिकम्

च। अनलाकाशाभ्याम् अगन्धम्, अरसम् अरूपम् अस्पर्शं च। अनिलाकाशाभ्यामेवमेव। भूजलानलैरगन्धमेव। भूजलानिलैरेवमेव। भूजलाकाशैरेवमेव। पृथिव्यनिलानलैरगन्धम्, अरसं च। जलानिलानलैरगन्धम्, अरसं च। जलानलाकाशैरेवमेव। जलानिलाकाशैरगन्धं चारसं चारूपं च। अनलानिलाकाशैरेवमेव। पृथिव्युदकतेजोवायुभिरगन्धम्। पृथिव्युदकज्वलनाकाशैरेवमेव। अवनिजलाकाशैरेवमेव। पृथिव्यनि ज्वलनाकाशैरगन्धम् अरूपं च,[1] जलानिलानलाकाशैरेवमेव। पृथिव्युदकतेजोवाय्वाकाशैरगन्धं कारणगुणस्यैकस्यानारम्भकत्वाद् इति वाच्यम्[2]। एककारणकत्वे[3] तु एततोत्पत्त्यनुत्पत्ती नित्यत्वप्रसङ्गश्चेत्युक्तम्। ३।१।२८, २९,३०॥

तेजस् तथा आकाश से गन्धरहित, रसरहित, रूपरहित और स्पर्शरहित। इसी प्रकार तेजस् तथा आकाश से भी। भूमि, जल तथा वायु से गन्धरहित से ही। भूमि, जल तथा तेजस् से (भी) ऐसा ही। भूमि, जल तथा आकाश से ऐसा ही। पृथिवी, वायु तथा तेजस् से गन्धरहित और रसरहित। जल, वायु तथा तेजस् से गन्धरहित और रसरहित। जल, वायु तथा आकाश से गन्धरहित, रसरहित और रूपरहित भी। तेजस्, वायु तथा आकाश से भी इसी प्रकार। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु से गन्धरहित। पृथिवीं, जल, तेजस् तथा आकाश से भी इसी प्रकार। पृथिवी 'जल तथा आकाश से गन्धरहित और रूपरहित, जल, वायु, तेजस् तथा आकाश से भी इसी प्रकार। पृथिवीं, जल, तेजस्, वायु तथा आकाश से गन्धरहित होगा; क्योंकि एक कारणगुण आरम्भक नहीं होता। एक के कारण होने पर तो निरन्तर उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति तथा नित्यता का प्रसङ्ग होता है यह कहा जा चुका है। ३।१।२८, २९, ३०॥

कारणगुणस्यैकस्यानारम्भकत्वात्—एक कारण गुण के आरम्भक न होने के कारण।

एक कारणकत्वे तु—टीका में 'एक कारणत्वे तु' यह पाठ है। शङ्का है, यदि एकैक को कारण मानें तो क्या होगा? समाधान है, नित्य, निरपेक्ष एक कारण होगा तो (शरीर की) सतत उत्पत्ति हुआ करेगी (द्र० टी० ५२०)। इसी प्रकार निरन्तर अनुत्पत्ति अथवा नित्यता का प्रसङ्ग होगा। (वार्त्तिक, ऊपर)।

---

१. ० रगन्धमरसञ्च, प०। २. दिति समानम्, पा०। ३. एककारणगुणत्वे पा०।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ।३।१।३१।।

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्' इत्यत्र मन्त्रे 'पृथिवीं ते शरीरम्' इति श्रूयते। तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि' इति श्रूयते। सेयं कारणाद् विकारस्य स्पृतिरभिधीयते' इति। स्थाल्यादिषु तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्नजातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः।३।१।३१।।

न्यायवार्त्तिकम्

श्रुतिप्रामाण्याच्च। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यस्य मन्त्रस्यान्ते 'पृथिव्यां ते शरीरम्' इति, सेयं स्पृतिः कारणात् कार्योत्पत्तिः। यदुक्तं भवति सूर्यश्चक्षुः कारणं पृथिवी शरीरस्येति। अन्त्येष्टिकाले मन्त्रः 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु पृथिवीं शरीरम्' इति। अस्यापि मन्त्रस्यार्थो यद्यस्मादायातं तत् तस्मिन्नेव प्रलयं गच्छति, प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानम्। प्रलयशब्देन च कार्यशून्यं कारणमुच्यते, न पुनः कार्यस्य कारणे लयः प्रलयः। एवं चासदुत्पत्ते सन्निरुद्धयत्वते इत्ययमर्थ उक्तो भवति।

श्रुति (वेद) के प्रामाण्य से भी (शरीर पार्थिव है)। ३।१।३१।।

'सूर्य को तेरा चक्षुः जावे' 'इस मन्त्र में 'पृथिवी को तेरा शरीर' यह श्रुति है। वह यह समवायी कारण (प्रकृति) में विकृति (कार्य) का प्रलय कहा गया है। 'सूर्य को तेरा नेत्र बनाता हूँ' इस अन्य मन्त्र में 'पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ' यह श्रुति है। वह यह कारण से कार्य (विकार) की रचना (स्पृति) कही जाती है। बट-लोही इत्यादि में समान जाति वालों के द्वारा एक कार्य का आरम्भ देखा जाने से भिन्न जाति वालों का एक कार्य का आरम्भ नहीं बनता। ३।१।३१।।

'श्रुतिप्रामाण्याच्च' (यह सूत्र है) 'सूर्य को तेरा चक्षु बनाता हूँ' इस मन्त्र के अन्त में 'पृथिवी को तेरा शरीर' यह है। वह यह रचना कारण से कार्य की उत्पत्ति है। जो कहा जा सकता है कि सूर्य चक्षुः का कारण है, पृथिवी शरीर का। अन्त्येष्टि के समय का मन्त्र है 'सूर्य को तेरा चक्षुः जावे, पृथिवी को शरीर'। इस मन्त्र का भी अभिप्राय है कि जो जिससे आया है वह उसमें ही प्रलय को प्राप्त होता है। (इस प्रकार) प्रकृति में विकृति का प्रलय कहा जाता है। प्रलय शब्द से कार्य से रहित कारण कहा जाता है, यह नहीं कि कार्य का कारण में लीन होना प्रलय है और इस प्रकार असत् की उत्पति होती है, सत् नाश होता है, यह अर्थ कहा जा सकता है।

श्रुतिप्रामाण्याच्च—युक्ति से सिद्ध अर्थ को श्रुति से समर्थित करते हैं। श्रुति में वचन है, पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ, पृथिवी को तेरा शरीर जावे। इससे ज्ञात होता है कि शरीर पार्थिव है।

कारणात् विकारस्य स्पृतिः—कारण से कार्य की उत्पत्ति, स्पृत्पत्तिरित्यर्थः, टीं० ५२०। यह श्रुति इस अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती, सांख्यमत में यह बन सकती है।

प्रलयशब्देन च...उक्तो भवति—इस श्रुति का अभिप्राय 'असत्कार्यवाद' ही है यहाँ यह दिखलाया गया है (वार्तिक ऊपर)।

न्यायसूत्रं भाष्यम् च

७. (इन्द्रियाभौतिकत्वपरीक्षा)

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते, किमाव्यक्तिकान्याहोस्विद् भौतिकानीति। कुतः संशयः ?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः। ३।१।३२॥

कृष्णसारं भौतिकम् । तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिरिति । व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्य उपलम्भो न कृष्णसारप्राप्तस्य, न चाप्राप्यकारित्वम् इन्द्रियाणाम् । तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात् सम्भवति । एवमुभयधर्मोपलब्धेः संशयः । ३।१।३२ ॥

न्यायवार्तिकम्

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते, किमाव्यक्तिकान्याहंकारिकाणि आहो भौतिकानीति । संशयकारणप्रतिपादनार्थं सूत्रम्, 'कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः' ।

---

७. (इन्द्रियों के अभौतिक (आहंकारिक) होने की परीक्षा)

अब प्रमेयों के क्रम से इन्द्रियों पर विचार किया जाता है कि वे अव्यक्त (प्रकृति) से उत्पन्न होती हैं अथवा (पृथिवी आदि) भूतों से ? संशय क्यों है ?

काली पुतली होने पर उपलब्धि होने से तथा स्थित (काली पुतली) को विषय की उपलब्धि होने से । ३।१।३२ ॥

काली पुतली (कृष्णसार) भौतिक (पृथिवी आदि भूतों से बनी) है । उसके नष्ट न होने पर रूप की उपलब्धि होती है । व्यतिरिच्य=काली पुतली को अपने स्थान में स्थित होते हुए विषय की उपलब्धि होती है, काली पुतली को प्राप्त की नहीं और इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व भी नहीं है । वह यह इन्द्रियों के अभौतिक होने पर व्यापक होने के कारण सम्भव है । इस प्रकार दोनों धर्मों की उपलब्धि से संशय होता है । ३।१।३२ ॥

अब प्रमेयों के क्रम से इन्द्रियों पर विचार किया जाता है कि क्या ये अव्यक्त या अहंकार (से प्रादुर्भूत, आहंकारिकाणि) हैं अथवा भौतिक (भूतों से रची गई) हैं । संशय का कारण बताने के लिये सूत्र है, 'कृष्णसारे सत्युपलम्भात् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ।

प्रमेयक्रमेण—प्रमेय के क्रम से इन्द्रियों की परीक्षा की जाती है । (टी० ५२०) ।

आव्यक्तिकानि—यह अव्यक्त (प्रधान, प्रकृति) के मूल कारण होने से कहा गया है । इसका अभिप्राय है आहंकारिकाणि । सांख्य के अनुसार अव्यक्त की प्रथम विकृति बुद्धि या महत्तत्त्व है उससे अहंकार का प्रादुर्भाव होता है । अहंकार के वैकारिक अंश से ग्यारह इन्द्रियों का । यहाँ वाचस्पति मिश्र ने यह भी बतलाया है कि यह मतभेद (विप्रतिपत्ति) सांख्य और नैयायिक का है, दूसरा मतभेद बौद्ध और न्याय का है । बौद्ध के अनुसार कृष्णसार (काली पुतली) ही इन्द्रिय है, न्याय के अनुसार उसका अधिष्ठान इन्द्रिय है । (टी० ५२१)

न्यायवार्तिकम्

कृष्णसारं भौतिकं तस्मिन्ननुपहते विषयोपलब्धिः, कृष्णसारव्यतिरेकेण विप्रकृष्ट-देशावस्थितस्य विषयस्योपलब्धिः। सेयं व्यतिरेकोपलब्धिरभौतिकधर्मः, तदेवमुभय-धर्मोपलब्धेः संशय इति। कृष्णसारमेव चक्षुस्तस्मिन्सति भावाद् रूपग्रहणस्य—यस्मा-दिदं रूपग्रहणं सति कृष्णसारे भवति, असति न भवति। यच्च यस्मिन् सति भवत्यसति न भवति तस्य तदिति, यथा कार्यद्रव्यस्य रूपादय इति न, प्रदीपादिभिरने-नेकान्तात्—प्रदीपे सति रूपोपलब्धिर्भवति, न च प्रदीपस्य रूपोपलब्धिरित्य-नेकान्तः। यस्य कृष्णसारं चक्षुस्तस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धिप्रसङ्गः—कृष्णसारं न विषयं प्राप्नोति, अप्राप्त्यविशेषात् सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धिः प्राप्नोति। विषयीभावादिति चेत्—अथ मन्यसे 'सन्निकृष्टोऽस्य विषयो भवति विप्रकृष्टो न विषयः, एवं च न तुल्योपलब्धिरिति ? न उक्तोत्तरत्वात् प्रत्यक्षसूत्रे इति। ३।१।३२ ॥

काली पुतली भौतिक है, उसके नष्ट न होने पर (ठीक होने पर) विषय की उपलब्धि होती है, दूसरी ओर काली पुतली से पृथक् दूर देश में स्थित विषय की उपलब्धि होती हैं। वह यह अप्राप्त की उपलब्धि होना (व्यतिरेकोपलब्धि) अभौतिक धर्म है। तो इस प्रकार दोनों (अभौतिक तथा भौतिक) धर्मों की उपलब्धि होने से संशय होता है। (बौद्ध का आक्षेप) काली पुतली ही चक्षु है, उसके होने पर रूप का ग्रहण होने के कारण—क्योंकि यह रूप का ग्रहण काली पुतली के होने पर होता है उसके न होने पर नहीं होता और जो जिसके होने पर होता है न होने पर नहीं होता (अन्वय-व्यतिरेक) उसका ही वह माना जाता हैं जैसे रूपादि कार्य द्रव्य के ? (परिहार) (क) यह आक्षेप ठीक नहीं प्रदीप आदि से व्यभिचार होने के कारण—प्रदीप के होने पर (ही) रूप की उपलब्धि होती है, किन्तु रूप की उपलब्धि प्रदीप की नहीं मानी जाती, इस प्रकार (हेतु) सव्यभिचार है। (ख) जिसके मत में काली पुतली हीं चक्षुः हैं उसके यहाँ समीप और दूर (के पदार्थ) की समान काल में उपलब्धि होने लगेगी—काली पुतली तो विषय को प्राप्त नहीं करती, अप्राप्ति के समान होने से समीपस्थ और दूरस्थ की समान रूप से उपलब्धि प्राप्त होती है। (शङ्का) यदि विषय होने से—यदि मानते हो कि समीपस्थ इस (चक्षुः) का विषय होता है, दूरस्थ विषय नहीं होता और इस प्रकार समान उपलब्धि नहीं होती ? (समाधान) नहीं, प्रत्यक्ष सूत्र में इसका उत्तर दे दिये जाने से। ३।१।३२ ॥

कृष्णसारव्यतिरेकेण—विप्रकृष्टदेशावस्थितस्य विषयस्योपलब्धिः (वार्तिक)।

सेयं व्यतिरेकोपलब्धिरभौतिकधर्मः—अहंकार विभु (व्यापक) है अतः आहंकारिक होने पर प्रतिघात नहीं होगा, जिससे काली पुतली से दूर होने पर विषय का ग्रहण हो सकेगा।

कृष्णसारमेव चक्षुः—यह बौद्ध का मत है, 'न प्रदीपादिभिरनेकान्तात्' में इसका निराकरण किया गया है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अभौतिकानीत्याह । कस्मात् ?

महदणुग्रहणात् ३।१।३३ ।।

महद्' इति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते, यथा न्यग्रोधपर्वतादि । अण्विति अणुतरमणुतमं च गृह्यते, यथा न्यग्रोधधानादि । तद् उभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते । भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति । अभौतिकन्तु विभुत्वात् सर्वव्यापकमिति । ३।१।३३ ।

न्यायवार्तिकम्

अभौतिकानीत्यपरे । महदणुग्रहणात् । महदिति महत्तरं महत्तममच्यते, अण्विति अणुतरमणुतममिति[1] । तदिदमुभयं चक्षुष्युपलभ्यमानं भौतिकत्वं चक्षुषो बाधते। भौतिकं हि यावद् भवति तावदेव व्याप्नोति, अभौतिकं तु व्यापकत्वात् सर्वसम्बद्धम् ।

इन्द्रियाँ अभौतिक (आहंकारिक) हैं, यह कहता है (सांख्य) । क्यों ?

महत्परिमाण वाले तथा अणु परिमाण वाले का ग्रहण होने से ।
३।१।३३

(सूत्र में) महद् (शब्द से) महत्तर एवं महत्तम भी गृहीत होते हैं, जैसे (महत्तर) वटवृक्ष तथा (महत्तम) पर्वत आदि हैं । अणु (शब्द से) अणुतर तथा अणुतम भी गृहीत होते हैं जैसे वटवृक्ष का बीज आदि । वह दोनों (महत् एव अणु) उपलब्ध होते हुए चक्षुः की भौतिकता का बाध करते हैं । वस्तुतः भौतिक (वस्तु) तो जितनी (होती है) उतने को ही व्याप्त करती है, अभौतिक तो व्यापक होने से सब में व्याप्त हो जाती है । ३।१।३३ ।

इन्द्रियाँ अभौतिक (आहंकारिक) हैं यह दूसरे (सांख्यवादी) मानते हैं। क्यों ? 'महदणुग्रहणात्' (यह सूत्र है) । महद् (शब्द से) महत्तर एवं महत्तम (भी) कहा जाता है तथा अणु (शब्द से) अणुतर एवं अणुतम (भी)। वे ये दोनों चक्षुः में उपलब्ध होते हुए चक्षुः की भौतिकता का बाध करते हैं। वस्तुतः भौतिक वस्तु जितनी होती है उतने को ही व्याप्त करती है। अभौतिक तो व्यापक होने के कारण सब से सम्बन्ध रखती है ।

अभौतिकानीत्याह—यह सांख्य मत है, इसका निराकरण आगे किया जा रहा है ।

महदणुग्रहणात्—सांख्य मत का प्रतिपादक यह सूत्र हैं । वार्तिककार ने सांख्य को 'अपरे' (अभौतिकानीत्यपरे) शब्द से कहा है । युक्ति यह है कि भौतिक तो जितना होता है उतने को ही व्याप्त करत है किन्तु अभौतिक सबसे सम्बद्ध हो सकता है क्योंकि वह व्यापक होता हैं ।

---

१. महदिति महत्तरमुच्यते, अविति अणुतरमिति, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

न भौतिकेषु प्रदीपादिषु दृष्टत्वात्—भौतिकाः प्रदीपादयो महदण्वोः प्रकाशका भवन्ति इत्यनेकान्तः। प्रदीपाद्यनभ्युपगमे वा महदणुप्रकाशकत्वं चक्षुष एवेत्यसाधारणत्वादहेतुः, भौतकाभौतिकयोर्निवृत्तेः। ननु चाभौतिके ज्ञाने महदणुप्रकाशकत्वं दृष्टम्? न दृष्टम्—न हि बुद्ध्या महदणुनी प्रकाश्येते, अपितु प्रकाशो बुद्धिर्न प्रकाशनम्' इति। अवधारितस्यार्थस्य हानोपादानोपेक्षाबुद्धीनां साधनं बुद्धिरिति, नाभौतिकं महदणु प्रकाशकमस्ति। ननु मनोविद्यते। सत्यं, न पुनस्तद्भौतिकं नाप्यभौतिकमिति। एतेनात्मा व्याख्यातः, न भौतिको नाभौतिक इति। यदि मनो नाभौतिकं यदुक्तं भौतिकानीन्द्रियाणि, अभौतिकं मन इति तद् व्याहतम्? न, अभौतिकार्थस्य अभूतात्मकपर्यायत्वात्—अभौतिकं मन इति, अभूतात्मकं मन इति यावदुक्तं भवति। मुख्यतस्तु मनो न भौतिकं नाभौतिकमिति।

(महद् अणु का ग्रहण करने से चक्षुः अभौतिक है) यह (ठीक) नहीं, भौतिक जो प्रदीप आदि हैं उनमें (भी) देखा जाने से—प्रदीप आदि भौतिक हैं, वे महद् तथा अणु (परिमाण वाले) के प्रकाशक होते हैं, अतः यह (हेतु) सव्यभिचार (अनेकान्तः) है। अथवा प्रदीप आदि को महद् अणु (परिमाण वाले) का प्रकाशक न माने जाने पर तथा चक्षुः को ही महद् अणु (परिमाण वाले) का प्रकाशक मानने पर यह असाधारण (नामक असिद्ध) होने से हेतु न होगा, भौतिक तथा अभौतिक होने की निवृत्ति हो जाने से। शङ्का है (ननु च) अभौतिक ज्ञान में महद् तथा अणु को प्रकाशित करना देखा गया है? नहीं देखा गया—वस्तुतः ज्ञान से (बुद्ध्या) महद् अणु (परिणाम वाले) प्रकाशित नहीं किये जाते अपितु प्रकट होना प्रकाशः) ज्ञान (बुद्धि) है, प्रकाशित करना (या प्रकट करने का साधन प्रकाशन) नहीं। निश्चित पदार्थ की हानोपादानोपेक्षा बुद्धि का साधन ज्ञान (बुद्धि) है अतः अभौतिक (वस्तु) महद् अणु का प्रकाशक नहीं। शङ्का है (ननु मन तो है। (समाधान) ठीक है, किन्तु वह (मन) न भौतिक है न अभौतिक। इस (कथन) से आत्मा की व्याख्या हो गई—वह न भौतिक है न अभौतिक। (शङ्का) यदि मन अभौतिक नहीं है तो जो यह कहा गया है (भाष्य) इन्द्रियाँ भौतिक हैं मन अभौतिक है, इसका विरोध होता है। (समाधान) नहीं, अभौतिक अर्थ वह है जो अभूतात्मक है, मन अभौतिक है इसका अभिप्राय है मन अभूतात्मक है। मुख्य रूप से तो मन न भौतिक है, न अभौतिक।

न, भौतिकेषु प्रदीपादिषु दृष्टत्वात्—यहाँ सांख्य का दोष दिखलाया गया है। यह एकदेशिमत से दूषण है, टी० ५२२।

प्रकाशो बुद्धिः न प्रकाशनम्—अर्थ का प्रकट होना (प्रकाश) ज्ञान है, प्रकाश का साधन नहीं। अर्थप्रकाशो बुद्धिः, यह उक्ति भी इसी का सारांश है। (तर्कभाषा पृ० २४१)

अवधारितस्यार्थस्य—और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि अणु तथा महती नहीं होती (टी० ५२२)।

मुख्यतस्तु मनो न भौतिकं नाऽभौतिकम्—वार्तिककार मन को न भौतिक मानते हैं न अभौतिक।

न्यायवार्त्तिकम्

नेन्द्रियेऽपि समानत्वात्—इन्द्रियमभौतिकमिति यावदुक्तं भवति, अभूतात्मकमिति। अभूतात्मकं व्यापकं चेन्द्रियं प्रतिपद्यमान इदं पर्यनुयोज्यः 'व्यवहितार्थग्रहणं कस्मान्न भवति किं कारणम्; व्यापकत्वादिन्द्रियस्य न कुड्यादेरावरणसामर्थ्यम् अस्तीति? वृत्तिः प्रतिषिध्यत इति चेत्—अथ मन्यसे सत्यं व्यापकम् इन्द्रियं तस्य तु पुरुषार्थहेतुना क्षोभ्यमाणस्य महाह्रदाद् बुद्बुदा इव निःसरन्त्यस्ताः कुड्यादिभिः प्रतिषिध्यन्त[1] इति? न वृत्तिव्यतिरेकेणेन्द्रियसत्त्वे[2] प्रमाणाभावात्—येयं विषयग्रहणात्मिका वृत्तिः तां त्यक्त्वा तद् व्यतिरिक्तमिन्द्रियमिति किं प्रमाणम्? न चाप्रमाणिकोऽर्थः शक्यः प्रतिपत्तुम्, न च प्रतिषिध्यमानाप्रतिषिध्यमानयोरेकत्वम्,[3] एकत्वे वाऽऽनर्थक्यम्। वृत्तिः प्रतिषिध्यते निश्चरतीति च।

(सांख्य की शङ्का) इन्द्रिय में भी भौतिकता नहीं, (मन के) समान होने से—इन्द्रिय अभौतिक है इसका अभिप्राय (भी) यह है कि वह भूतात्मक नहीं। इन्द्रिय भूतात्मक नहीं तथा व्यापक है, यह मानने वाले से यह पूछना होगा "फिर व्यवहित पदार्थ का ग्रहण क्यों नहीं होता"? क्या कारण है? इन्द्रिय के व्यापक होने से दीवार आदि का आवरण में सामर्थ्य नहीं है। (सांख्य) यदि कहो कि वृत्ति (इन्द्रिय वृत्ति) का प्रतिषेध कर दिया जाता है यदि मानते हो कि यह ठीक है इन्द्रिय व्यापक है किन्तु पुरुषार्थ के हेतु से क्षुब्ध हुए महासरोवर से बुलबुले के समान उसकी वृत्तियां निकलती हैं वे दीवार आदि से रोक दी जाती हैं? [नैयायिक] नहीं, वृत्ति से भिन्न इन्द्रिय के होने में प्रमाण का आभाव होने से—जो यह विषय का ग्रहण करने वाली वृत्ति है उसे छोड़कर उससे भिन्न इन्द्रिय है, इसमें क्या प्रमाण है और अप्रामाणिक अर्थ (पदार्थ) स्वीकारा नहीं जा सकता। किञ्च, प्रतिषेध की जाती हुई तथा प्रतिषेध न की जाती हुई (वस्तुओं की) एकता नहीं होती। यदि (दोनों) एक हैं तो (दोनों का भेद बतलाना) अनर्थक है। इस प्रकार (इन्द्रिय से भिन्न) वृत्ति का प्रतिषेध किया जाता है, और वह इन्द्रिय से निकलती है इसका भी।

नेन्द्रियेऽपि समानत्वात्—इन्द्रिय में मन के समान अभूतात्मकता है, यह पूर्वपक्षी (सांख्य) का मत है (टी० ५२२)।

अभूतात्मकं पर्यनुयोज्यः—यह सिद्धान्ती का कथन है।

वृत्तिव्यतिरेकेणेन्द्रियसत्त्वे—नैयायिक का कथन है कि वृत्ति से भिन्न इन्द्रिय है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

प्रतिषिध्यमानाप्रतिषिध्यमानयो.—प्रतिषेध किये जाते हुए का तथा प्रतिषेध न किये जाते हुए का।

---

१. प्रतिबध्यन्त इति, पा०। २. व्यतिरिक्तेनेन्द्रियसत्त्वे, पा०। ३. प्रतिबध्यमानाप्रतिबध्यमानयोः, पा०।

अव्यतिरेकाच्च तद् उत्पत्तिविनाशधर्मकम् यदि वृत्त्यव्यतिरेकीन्द्रियं यथा वृत्तेरुत्पाद-विनाशावेवमिन्द्रियस्यापि प्राप्नुतः। वृत्तेर्व्यक्तिर्नोत्पत्तिरिति चेत्—अथ मन्यसे न मया वृत्तेरुत्पत्तिरभ्युपगम्यते अपि तु व्यक्तिः, न निरोधो विनाशः, अपितु तिरोभाव इति ? न, उत्पत्तिविशेषत्वात्—व्यक्ति सत्यत्तेर्विशेष कथमिति ? नानुपजातविशेषस्य व्यक्तिरिति। अथानुपजातविशेषं व्यज्यते' इति मन्यसे ? नित्यं व्यक्तिः स्यात्। एतेन विनाशो व्याख्याततिरोभाव इति विद्यमानं न किञ्चि- न्निरुद्धं न ह्यनिवृत्तविशेष-स्याग्रहणं भवति। न च सर्वनित्यवादिना ग्रहणाग्रहणे युक्ते विशेषस्यानुपजननान्न ग्रहणं विशेषस्यानुपचक्षयावाग्रहणमिति—

यदि वृत्ति इन्द्रिय से अभिन्न है (अव्यतिरेकात्) तो वह (इन्द्रिय) उत्पत्ति तथा विनाश धर्म वाली है—यदि वृत्ति से अभिन्न इन्द्रिय है तो जिस प्रकार वृत्ति के उत्पत्ति तथा विनाश होते हैं उसी प्रकार इन्द्रिय के भी प्राप्त होते हैं। (सांख्य) यदि वृत्ति का अविर्भाव होता है उत्पत्ति नहीं—यदि मानते हो कि मैं वृति की उत्पत्ति नहीं मानता अपितु आविर्भाव (व्यक्ति), इसी प्रकार निरोध अर्थात् विनाश नहीं अपितु तिरोभाव ? (समाधान) यह (ठीक) नहीं, (व्यक्ति के) विशेष प्रकार की उत्पत्ति होने से—व्यक्ति उत्पत्तिविशेष (ही) है। कैसे ? जिसमें विशेषता उत्पन्न न हुई हो उसकी व्यक्ति नहीं होती। यदि मानते हो कि विशेषता की उत्पत्ति न होने पर व्यक्ति होती है तो सदा ही व्यक्ति हुआ करेगी। इस (कथन) से विनाश की व्याख्या हो गई। तिरोभाव का अभिप्राय है कि किसी विद्यमान (वस्तु) का नाश नहीं हुआ। वस्तुतः जिसकी विशेषता की निवृत्ति न हुई हो, उसका अग्रहण नहीं होता। और सब को नित्य मानने वाले के मत में (वस्तु का) ग्रहण तथा अग्रहण युक्त नहीं——विशेषता के उत्पन्न न होने से ग्रहण नहीं, विशेषता के नष्ट न होने से अग्रहण नहीं।

अव्यतिरेकाच्च—वृत्ति तथा वृत्तिमान् के अभिन्न होने से वृत्ति के उत्पाद और विनाश के समान वृत्तिमान् (इन्द्रिय) की भी उत्पत्ति तथा विनाश प्राप्त होता है।

वृत्तिर्व्यक्तिः, नोत्पत्तिरिति—यह सांख्य का मत है कि इन्द्रियवृत्ति का आविभाव होता है, उत्पत्ति नहीं, वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है।

उत्पत्तिविशेषत्वात्—व्यक्ति भी विशेष प्रकार की उत्पत्ति ही है। कैसे ? विशेषता उत्पन्न होने पर ही किसी की व्यक्ति होती है। अतः व्यक्ति या अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) उत्पत्तिविशेष ही है।

अनिवृत्तविशेषस्य—जब उसकी विशेषता समाप्त हो जाती है उसका ग्रहण नहीं होता, तिरोभाव (विनाश) कहा जाता है। वस्तुतः विशेषता की समाप्ति हुए बिना उसका तिरोभाव नहीं होता।

न्यायवार्तिकम्

नित्यं व्यापकञ्चेन्द्रियमभ्युपगच्छतः कारणार्थो हीयते---कारणं नाम यस्यानन्तरं यद्भवति, कारणञ्च नित्यं कार्यञ्च नित्यमिति किं कस्यानन्तरं कार्यकारणभावश्च कथं तयोर्नित्यत्वात् । कारकशब्दार्थश्च वाच्यः[1] ननु करोतीति कारकम् ? सत्यं करोतीति, कारकम्[2] न पुनर्नित्यवादिनः किञ्चित्कर्तव्यमस्ति। न चासति कर्तव्ये कारकार्थं पश्यामः। व्यक्तौ कारकार्थः इति चेत् ? व्यक्तौ च तुल्यम्—व्यक्तिरपि व्यङ्ग्यवत् नित्येति व्यक्तावपि न कारकार्थोऽस्ति ।[3] युगपदनेकविज्ञानप्रसङ्गाच्च—यदि च वृत्तिर्वृत्तिमतो नान्या भवति वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामव्यवस्थानम् इति युगपदनेकविज्ञानप्रसङ्गः। वृत्यनेकत्वे चैकमिन्द्रियमनेकं प्राप्नोति वृत्तिभ्योऽनन्यत्वात्। अथ माभूद् इन्द्रियभेद इति ? वृत्तिनांतर्ह्येकत्वं प्राप्नोति, वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वात्। अथ मा भूदयं दोषः इत्युभयं नेष्यते ? भेदस्तर्हि वृत्तिवृत्तिमतोरिति, न चान्या गतिरस्ति। तस्याद् अयुक्तं व्यापकमिन्द्रियं नित्यं चेति ।३।१।३३॥

किञ्च नित्य तथा व्यापक इन्द्रिय को मानने वाले का (क) कारण का अर्थ नष्ट हो जाता है—कारण वह होता है जिसके पश्चात् जो (कार्य) होता है किन्तु जिसके मत में कारण नित्य है और कार्य भी नित्य है (उसके मत में) कौन किसके पश्चात् होता है? और दोनों के नित्य होने से कार्यकारणभाव कैसे होता है ? (ख) उन्हें कारक शब्द का अर्थ कहना होगा। शङ्का है (ननु) जो करता है वह कारक है। [समाधान] ठीक है जो करता है वह कारक है किन्तु जो सब को नित्य कहता है उसके मत में कुछ करने योग्य (कर्त्तव्य) नहीं और जब करने योग्य नहीं तो कारक का प्रयोजन हम नहीं देखते । (शङ्का) यदि कारक का प्रयोजन वस्तु की अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव, व्यक्ति) माना जाये। [समाधान] तो अभिव्यक्ति में भी समान है—अभिव्यक्ति भी व्यङ्ग्य (वस्तु) के समान नित्य है अतः अभिव्यक्ति में भी कारक का प्रयोजन नहीं है। किञ्च एक साथ अनेक ज्ञान भी होने लगेंगे—यदि वृत्तिमान् से वृत्ति भिन्न नहीं हैं तो वृत्तिमान् के स्थित रहने से वृत्तियों की स्थिरता होगी, अतः एक साथ अनेक ज्ञानों का प्रसङ्ग होता है। वृत्तियों के अनेक होने पर एक इन्द्रिय का अनेक होना प्राप्त होता है; वृत्तियों से अभिन्न होने के कारण। (शङ्का) यदि यह दोष (इन्द्रियों की अनेकता) न हो जाये अतः (उपर्युक्त) दोनों अभीष्ट नहीं तब तो वृत्ति तथा वृत्तिमान् में भेद होगा, अन्य कोई गति नहीं। इसलिये यह अयुक्त है कि इन्द्रिय व्यापक तथा नित्य है। ३।१।३३।

कारणार्थो हीयते—कारण का अभिप्राय नष्ट हो जाता है, कैसे ? यह आगे दिखलाया है।

युगपदनेकविज्ञानप्रङ्गाच्च—यद्यपि सांख्य के मत में दीर्घा शष्कुली को खाते हुए को अनेक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति मानी गई है तथापि कहीं क्रम भी होता है, उसी में यह दोष है।

तस्मादयुक्तम्—यहाँ इस मत के निराकरण का उपसंहार किया गया है कि इन्द्रिय व्यापक तथा नित्य है।

१. वक्तव्यः, पा० । २. बाधकम्, पा० । ३. कारकोऽस्ति पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न महदणुग्रहणाद् अभौतिकत्वं विभुत्वं चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम्। इदं खलु

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् । ३।१।३४ ॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद् भवति; यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति। रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषश्चावरणलिङ्गः। चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृत्तमर्थं न प्रकाशयति यथा प्रदीपरश्मिरिति ।३।१।३४॥

न्यायवार्तिकम्

महदणुग्रहणस्य चान्यथासिद्धेरहेतुः—योऽयं हेतुः महदणुग्रहणाद्[1] अभौतिकानीन्द्रियाणि, इत्ययमन्यथासिद्धः। न महदणुग्रहणमात्राद् अभौतिकत्वं व्यापकत्वम् इन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम्। कस्मादिदम् ? यस्माद् रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद् ग्रहणम् (महदण्वोर्ग्रहणम्)।

महद् तथा अणु के ग्रहणमात्र से इन्द्रियों का अभौतिक होना एवं व्यापक होना नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यह,

(इन्द्रिय की) किरण तथा पदार्थ के सन्निकर्ष-विशेष से उनका ग्रहण होता है ।३।१।३४॥

उनका महद् तथा अणु का ग्रहण चक्षु की किरण तथा पदार्थ के विशेष सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से होता है जैसे प्रदीप की किरण तथा पदार्थ के (सन्निकर्ष से)। किरण तथा पदार्थ का विशेष सन्निकर्ष तो (आवरणलिङ्गः) आवरण से जाना जाता है। वस्तुतः चक्षुः की किरण दीवार आदि से आवरण युक्त (आवृत) पदार्थ को प्रकाशित नहीं करती जैसे प्रदीप की किरण ।३।१।३४॥

महद् तथा अणु के ग्रहण की अन्यथा (अन्य प्रकार से) सिद्ध होने के कारण यह हेतु नहीं—जो यह हेतु दिया गया है 'महद् तथा अणु के ग्रहण से इन्द्रियां अभौतिक हैं, यह अन्यथा सिद्ध है। महद् तथा अणु के ग्रहण से इन्द्रियों का अभौतिक तथा व्यापक होना नहीं माना जा सकता। यह (ऐसा) क्यों ? क्योंकि (चक्षु की) किरण एवं पदार्थ के विशेष सन्निकर्ष से महद् तथा अणु का ग्रहण होता है।

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषाद्—यह न्यायमत का प्रतिपादक सूत्र है। उत्तरवर्ती न्या०, वै० में इस सन्निकर्षविशेष को सन्निकर्षचतुष्टय कहा गया है। इसी सन्निकर्षचतुष्टय से परिमाण का ग्रहण होता है।

अन्यथासिद्धेः—अन्यथासिद्ध होने के कारण। सन्निकर्षविशेष से महद् अणु का ग्रहण हो जाता है। फिर महद् अणु के ग्रहण से इन्द्रियों की अभौतिकता एवं व्यापकता नहीं मानी जा सकती। वार्तिककार ने सन्निकर्षविशेष की व्याख्या करने का प्रयास किया है। यह प्रश्न किया गया है 'क पुनः सन्निकर्षस्य विशेष ?'

---

१. महदण्वोर्ग्रहणाद्, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

'रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषान्महदण्वोर्ग्रहणं भवति। तत्र सन्निकर्षमात्रात् सामान्यग्रहणम्, सन्निकर्षविशेषाद् विशेषग्रहणम्। कः पुनः सन्निकर्षस्य विशेषः ? भूयोऽवयवसन्निकर्षानुग्रहः—यस्माद् अयं सन्निकर्षो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्भूयोऽवयवसंयोगैरनुगृह्यते। सोऽयमवयवान्तरसंयोगापेक्षोऽवयवीन्द्रियसन्निकर्षः सन्निकर्षविशेष इत्युच्यते। स च रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषो अणुमहतोस्तुल्यो भवति, इत्यन्यथा महदण्वोर्ग्रहणं सिद्ध्यति। रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः कुड्यादिव्यवहितानामप्रकाशरूपत्वात्। अप्राप्यकारित्वे तु न कुड्यादेरावरणसामर्थ्यमस्ति' इत्यस्ति चाक्षुषो रश्मिः, यथा प्रदीपरश्मिः' इति। ३।१।३४॥

'रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम' (यह सूत्र है)। (इसका अर्थ है) चक्षु की किरण तथा पदार्थ के विशेष सन्निकर्ष से महद् तथा अणु का ग्रहण होता है। वहाँ सन्निकर्षमात्र से सामान्य का ग्रहण होता है। सन्निकर्षविशेष से विशेष का ग्रहण होता है। (प्रश्न) किन्तु सन्निकर्ष का विशेष होना क्या है ? (उत्तर) अधिकांश अवयवों के सन्निकर्ष का अनुग्रह (साथ होना)-क्योंकि यह सन्निकर्ष विशेष ज्ञान का हेतु होना है तथा (अधिकांश) अवयवों के संयोगों से अनुगृहीत होता है, वह यह अन्य अवयव के संयोग की अपेक्षा से होने वाला अवयवी तथा इन्द्रिय का सन्निकर्ष (ही) सन्निकर्ष विशेष ऐसा कहा जाता है. और वह इन्द्रियकिरण तथा पदार्थ का सन्निकर्ष–विशेष अणु एवं महत् (पदार्थ) में समान होता है इसप्रकार अन्य प्रकार से महद् तथा अणु का ग्रहण सिद्ध होता है। इन्द्रिय की किरण तथा पदार्थ का सन्निकर्ष तो आवरण से जाना जाता है (आवरण उसका बोधक है—आवरणलिङ्गः)' क्योंकि दीवार आदि से व्यवहित (पदार्थों) का प्रकाशन नहीं होता। किन्तु (चक्षुः के) अप्राप्यकारी होने पर दीवार आदि में आवरण (आच्छादन) का सामर्थ्य नहीं होता अतः चक्षु की किरण होती है जिसप्रकार प्रदीप की किरण होती है।३।१।३४॥

भूयोऽवयवसन्निकर्षानुग्रहः—इसकी व्याख्या में टी० में कहा गया है इन्द्रियावयवानामर्थावयवैः, इन्द्रियावयवानामर्थेन, अर्थावयवानामिन्द्रियेण, इन्द्रियस्यार्थेनेति; टी० ५२२। इसे ही उत्तरवर्ती न्या०–वै० में चतुष्टयसन्निकर्ष कहा गया है जब १. इन्द्रिय के अवयवों का अर्थ के अवयवों के साथ २. इन्द्रिय के अवयवों का अर्थ के साथ ३. अर्थ के अवयवों का इन्द्रिय के साथ और ४. इन्द्रिय अवयवी का अर्थ अवयवी के साथ सन्निकर्ष होता है तब परिमाण का ग्रहण होता है। तर्कभाषा पृ० ६५)।

आवरणलिङ्गः—आवरणं लिङ्गं यस्य (बहु०)। आवरण है बोधक जिसका।

अप्राप्यकारित्वे तु—यदि चक्षु आदि इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानें तो दीवार आदि आवरण न हुआ करे।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह,

तदनुपलब्धेरहेतुः ।३।१।३५।।

रूपस्पर्शवद् हि तेजः, महत्त्वाद् अनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरिति प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत, चाक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति ।३।१।३५।

न्यायवार्त्तिकम्

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह, तदनुपलब्धेरहेतुः । न चाक्षुषो रश्मिर्विद्यते' इति सूत्रार्थः । कथम् इति ? उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वादनुमानानुपपत्तिः—यत्खलूपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभ्यते, तन्नास्ति यथा घटादि, घटादेर्महदनेकद्रव्यवत्त्वरूपवत्त्वानि सन्तीत्युपलभ्यन्ते घटादयः, तथा महदनेकद्रव्यवत्त्वरूपवांश्चाक्षुषो रश्मिः कस्मात् प्रत्यक्षतो (१) नोपलभ्यते' इति । महत्वं तावत् कारणमहत्वबहुत्वप्रचयेभ्यः, अनेकद्रव्यवत्वमपि कारणबहुत्वादेव, रूपस्पर्शवद् हि तेज इति नारूपं तत्, एवमशेषोपलब्धिकारण सन्निधाने सति यन्नोपलभ्यते (२) तेन गम्यते नास्ति "इति" ।३।१।३५।।

आवरण से (चक्षुः—किरण) के अनुमय होने पर (भी पूर्वपक्षी) यह कहना है ।

उसकी अनुपलब्धि होने से यह हेतु (ठीक) नहीं है ।३।१।३५।।

वस्तुतः तेजस् रूप स्पर्श वाला है । महत् (परिमाण) होने से, अनेक द्रव्य वाला होने से तथा रूप वाला होने से (पदार्थ की) उपलब्धि होती है, अतः प्रदीप के समान प्रत्यक्ष से उपलब्धि हुआ करे यदि चक्षुः की किरण हुआ करे । ३।१।३५।।

आवरण से (चक्षुः—किरण का) अनुमान हो जाने पर यह कहा जाता है 'तदनुपलब्धेरहेतुः' (यह सूत्र है) । इस सूत्र का अर्थ है कि चक्षुः की किरण नहीं है । कैसे ? उपलब्धि के लक्षण को प्राप्त होने के कारण उसका अनुमान नहीं बनता वस्तुतः जो उपलब्धि के स्वरूप को प्राप्त होता है और उपलब्ध नहीं होता वह नहीं है जैसे घट आदि । घटादि में महत् (परिमाण) अनेक द्रव्यवाला होना तथा रूपवाला होना (सब) हैं अतः घटादि उपलब्ध होते हैं, उसीप्रकार महत् (परिमाण वाली) अनेक द्रव्यों वाली तथा रूप वाली चक्षुः की किरण है, तब वह प्रत्यक्ष से क्यों नहीं उपलब्ध होती । महत्व तो कारणमहत्व, बहुत्व और प्रचय से होता है, अनेक द्रव्यवत्व भी तथा कारणों के बहुत होने से हो जाता है, तथा तेजस् तो रूप एवं स्पर्श वाला होता है वह (चक्षुः—किरण) रूपरहित नहीं है, इसप्रकार सभी उपलब्धि के कारणों के उपस्थित होने पर जो उपलब्ध नहीं होती, उससे प्रतीत होता है कि वह नहीं है ।३।१।३५।

तदनु —यह आक्षेप सूत्र है । भाव यह है कि यदि चक्षु की रश्मि होती तो वह प्रत्यक्ष होती ।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात्—जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है वह उपलब्धिलक्षण हैं, उसके लिये महत्त्व, अनेक द्रव्यवत्त्व तथा रूपवत्त्व (उद्भूतरूपवत्त्व) आवश्यक है ।

तेन गम्यते नास्ति इति—क्योंकि चक्षु की रश्मि उपलब्ध नहीं होती, इससे प्रतीत होता है कि वह नहीं है ।

---

१. प्रत्यक्षतया, पा० । २. येन नोपलभ्यते, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतु ।३।१।३६ ॥
सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिः, नासावभावं प्रतिपादयति, यथा चन्द्रमसः परभागस्य पृथिव्याश्चाधोभागस्य ।३।१।३६॥

न्यायवार्त्तिकम्

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः । यत् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते तद् अनुमानेनोपलभ्यमानं नास्तीति अयुक्तम् (१) यथा चन्द्रमसः परभागः, पृथिव्याश्चाधो भागः, प्रत्यक्षलक्षणप्राप्तावपि न प्रत्यक्षत उपलभ्यते, अनुमानेन चोपलब्धेर्न तौ न स्तः । किं पुनरनुमानम् ? अर्वाग्भागवदुभयप्रतिपत्तिः, तथा चाक्षुषस्य रश्मेः कुड्याद्यावरणमनुमानं सम्भवतीति ।

अपरे तु महदनेकद्रव्यवत्वाद्रूपवत्वाच्चोपलब्धिः' इत्युपलब्धौ नियमं वर्णयन्ति नोपलभ्यमाने' इति । किमुक्तं भवति, न युक्तो (२) यत्र यत्र महदनेकद्रव्यवत्व—

(आक्षेपरिहार) अनुमान से जाने गये की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि अभाव का हेतु नहीं । ३।१।३६।।

सन्निकर्ष का प्रतिसेध करने वाले (दीवार आदि) आवरण से (लिङ्ग=बोधक) से अनुमीयमान (चक्षुः की) किरण की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि होना (उसके) अभाव को नहीं सिद्ध करता जैसे चन्द्रमा के पर भाग की तथा पृथिवी के नीचे के भाग की (अनुपलब्धि उनके अभाव को नहीं बतलाती) ।३।१।३६।।

'नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः (यह सूत्र है) । (इसका अर्थ है) जो प्रत्यक्ष से नहीं उपलब्ध होता वह अनुमान से उपलब्ध होता हुआ नहीं है, (ऐसा कहना) अयुक्त हैं, जैसे चन्द्रमा का परभाग तथा पृथिवी का नीचे का भाग, ये (दोनों) प्रत्यक्ष के लक्षण को प्राप्त होकर भी प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होते किन्तु (च) अनुमान से उपलब्ध होने से वे नहीं है (ऐसा नहीं) । (प्रश्न) किन्तु अनुमान क्या है ? (उत्तर) अर्वाक् भाग के समानवादी-प्रतिवादी (उभय) की स्वीकृति । उसीप्रकार चक्षु की किरण में (का) दीवार आदि का आवरण अनुमान हो सकता है ।

दूसरे (एकदेशी टी०, वैशेषिकसूत्र ४.१.६ म० म० गंगानाथ झा) तो कहते हैं कि महत् (परिमाण) अनेक द्रव्य वाला होने तथा रूपवाला होने से उपलब्धि होती है, यह उपलब्धि के विषय में नियम है, उपलभ्यमान (उपलब्ध होने वाले) में नहीं । क्या कहा जा सकता है ? यह युक्त नहीं कि जहाँ जहाँ महत्

नानुमीयमानस्य—यह परिहार सूत्र है । वस्तुतः महत्त्व, अनेकद्रव्यवत्त्व तथा रूपवत्त्व होने से किसी की उपलब्धि नहीं होती अपितु उद्भूतरूपवाला होना चाहिये, चक्षु की किरण में उद्भूत रूप नहीं है, अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती, द्र० टी० ५२३ ।
अपरे तु—यह एकदेशी का मत है, आचार्यदेशीयानां मतमाह, अपरे त्विति, टी० ५२३ ।

---

१. न नास्तीत्यत उक्तम्, पा० । २. ब्रूमो, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ।३।१।३७।।

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च। महदनेकद्रव्यवच्च विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते। तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्प्येते, तथाविधमेव च तैजसं द्रव्यमनुद्भूतरूपं सह रुपेण नोपलभ्यते स्पर्शस्त्वस्योष्ण उपलभ्यते। तस्य द्रव्यानुबन्धाद् ग्रीष्मवसन्तौ कल्प्येते ।३।१।३७।।

न्यायवार्तिकम्

रूपाणि सन्ति तत्तदुपलभ्यते' इति, अपितु यद् यद् उपलभ्यते तत्र तत्र महदनेक द्रव्यवत्वरूपाणि सन्तीति! एवं तर्हि इदं सूत्रं नोपलब्धेः कारणप्रतिपादकं सत्स्वभावादिति—सत्सु महदनेकद्रव्य रूपेषु उपलब्धिर्न भवतीति, नैतान्युपलब्धिकारणमिति। ३।१।३६।।

द्रव्य गुणधर्मभेदाच्चोपलब्धि नियम इति। शेष भाष्ये ।३।१।३७।।

द्रव्य तथा गुण के धर्म के भेद से भी उपलब्धि का नियम होता है। ३।१।३७।।

वस्तुतः द्रव्य तथा गुणों के धर्म भिन्न भिन्न हैं। महत् परिमाण वाला, अनेक द्रव्यवाला भी फैले हुए अवयवों वाला जलीय द्रव्य प्रत्यक्ष से नहीं उपलब्ध होता, किन्तु उसका शीत स्पर्श गृहीत होता है। उसी द्रव्य के सम्बन्ध (निमित्त) से हेमन्त तथा शिशिर (ऋतु) होती हैं और उसी प्रकार का तैजस द्रव्य जिसका रूप उद्भूत नहीं होता रूप के साथ होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता है, उस द्रव्य के सम्बन्ध से ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतु होते हैं। ३।१।३७।।

परिमाण अनेक द्रव्यवाला होना तथा रूप हैं वह उपलब्ध हो जाता है, अपितु (नियम यह है कि) जो जो उपलब्ध होता है वहाँ वहाँ महत् परिमाण अनेक द्रव्यवत्व तथा रूप होते हैं। इसप्रकार तो यह सूत्र उपलब्धि के कारण को बतलाने वाला नही (अपितु) सत् के स्वभाव को कहने वाला होने से—महत् (परिमाण) अनेक (द्रव्य वाला) तथा रूप होने पर (भी) (किसी वस्तु की) उपलब्धि नही होती अतः ये उपलब्धि के कारण नहीं ।३।१।३६।।

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः (यह सूत्र है)। शेष भाष्य में है।

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्च—शङ्का है कि चक्षु की रश्मि में महत्वादि उपलब्धि के कारण है' फिर उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में यह सूत्र है।

यद् यद् उपलभ्यते—एकदेशी का कथन है कि जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है उसमें महत्वादि होते हैं। यह केवल द्रव्य का स्वभाव कहा गया है, प्रत्यक्ष के कारणों का कथन नहीं किया गया, टी० ५२३।

शेषं भाष्ये—भाष्य में बतलाया गया है कि कई वस्तुओं की महत्व, अनेक द्रव्यवत्व तथा रूपवत्व होने पर भी उपलब्धि नहीं होती।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यत्र त्वेषा भवति

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।३।१।३८।।

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते, रूपविशेषस्तु यद्भावात् क्वचिद् रूपोपलब्धिः, यदभावाच्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः । स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति । अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः । तस्मात् प्रत्यक्षतो

न्यायवार्तिकम्

कस्मात्तर्हि चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते' इति ? उपलब्धिकारणाभावाद्' इति । नैतावदेवोपलब्धिकारणं' यन्महदनेकद्रव्यरूपाणि, अपि तु रूपग्रहणाद् रूपविशेषोऽभिधीयते न रूपमात्रम् । एवं च सूत्रम्, अनेकद्रव्य (अनेकद्रव्येण) समवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः' इति । अत्र रूपविशेषग्रहणेन रूपधर्म उद्भवसमाख्योऽभिधीयते । न रूपत्वं रूपान्तराद्रूपं विशिनष्टि, अपि तूद्भवो—

जहाँ यह (रूपोपलब्धि) होती है,

अनेक द्रव्यों में समवाय होने से एवं रूपविशेष होने से रूप की उपलब्धि होती है । ३।१।३८।।

जहाँ रूप और उसका आश्रय द्रव्य प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है, रूपविशेष तो वह है, जिसके होने से कहीं रूप की उपलब्धि होती है और जिसके न होने से कहीं द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती । वह रूप का धर्म है जो उद्भव (प्रकट होना) नाम से प्रसिद्ध है । किन्तु यह चक्षु की रश्मि तो अनुद्भूतरूप वाली है । इसलिये प्रत्यक्ष से उपलब्ध (प्रश्न) फिर चक्षु की रश्मि क्यों नहीं उपलब्ध होती ? (उत्तर) उपलब्धि का कारण न होने से—इतना ही उपलब्धि का कारण नहीं है कि महत्त्व, अनेक द्रव्य वाला होना तथा रूप होना, अपितु रूप शब्द से, (ग्रहणात्) रूपविशेष कहा जाता है, केवल रूप नहीं । सूत्र इसप्रकार है 'अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः' । यहाँ रूपविशेष शब्द से रूप का धर्म उद्भव (प्रकट होना नाम से प्रसिद्ध) नामक कहा जाता है । रूपत्व तो एक रूप को दूसरे रूप से भिन्न नहीं करता, अपितु उद्भव ही—

एषा—(भाष्य में) एषा शब्द का अभिप्राय है रूप की उपलब्धि अथवा रूप और उसका आश्रय जो द्रव्य है उसकी (प्रत्यक्ष से) उपलब्धि ।

रूपविशेषः—जिसके होने पर किसी रूप की उपलब्धि होती है, न होने पर नहीं होती, रूप का उद्भव, रूप का उद्भूत होना ही रूपविशेष है ।

अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः—चक्षुः की रश्मि में उद्भूत रूप नहीं, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता ।

एवं च सूत्रम्—सूत्र इसप्रकार है, सूत्र का अभिप्राय यही है ।

रूपत्वं रूपान्तराद्—रूपत्व तो सभी रूपों में समान है, अतः यह एक रूप को दूसरे से पृथक् नहीं कर सकता । हाँ, रूप का उद्भव ऐसा है ।

न्यायभाष्यम्

नोपलभ्यते' इति । दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः । उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजो । यथा आदित्यरश्मयः । उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षो तेजो यथा प्रदीपरश्मयः । उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथाऽब्वादिसंयुक्तं तेजः । अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिः' इति । ३।१।३८॥

न्यायवार्त्तिकम्

विशेषकत्वाद् विशेष इत्युच्यते; यथा ब्राह्मविशेष इति । न ब्राह्मणत्वं ब्राह्मणविशेषः, एवं समानजातीयविशेषकत्वं यत् तद् विशेष इत्युच्यते । उद्भवश्च कार्यगम्यः, यस्याभावाद् विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं हेमन्ते न गृह्यते, तैजसश्च ग्रीष्मे[१] । यस्य भावात् प्रदीपरश्मिरुपलभ्यते, आदित्यरश्मिश्च, स उद्भवो नाम विशेषः स तस्मिन्नायने रूपविशेषो नास्तीत्यतश्चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते । ३।१।३८॥

नहीं होती और तेजस् का धर्म-भेद देखा गया है, जिसका रूप तथा स्पर्श उद्भूत होता हैं उस तेजस् का प्रत्यक्ष होता है जैसे सूर्य की किरणें, जिसका रूप उद्भूत होता है किन्तु स्पर्श उद्भूत नहीं होता वह तेजस् भी प्रत्यक्ष होता है जैसे प्रदीप की किरणें । जिसका स्पर्श उद्भूत होता है किन्तु रूप उद्भूत नहीं होता वह (तेजस्) प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे जल आदि से संयुक्त तेज होता है । चक्षुः की रश्मि का रूप तथा स्पर्श (दोनों) उद्भूत नहीं (अतः) वह अप्रत्यक्ष है । ३।१।३८॥

भेद करने के कारण विशेष कहा जाता है, जैसे ब्राह्मणविशेष । ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मणविशेष नहीं, अतः जो समान जाति वाले से भेद कराने वाला है वह विशेष कहा जाता है । और उद्भव कार्य से जाना जाता है, जिसके अभाव से फैले हुए (विषक्त) अवयवों वाला जलीय द्रव्य हेमन्त (ऋतु) में गृहीत नहीं होता तथा तैजस द्रव्य ग्रीष्म में (गृहीत नहीं होता) । जिसके होने से प्रदीप की किरण तथा सूर्य की किरण उपलब्ध होती है, वह उद्भव नाम का विशेष (रूपोद्भव) है । उस चक्षुः की रश्मि में वह रूपविशेष नहीं है अतः चक्षुः की रश्मि (प्रत्यक्ष से) उपलब्ध नहीं होती । ३।१।३८॥

तेजसो धर्मभेदः—तेज का धर्मभेद जो आगे दिखलाया जा रहा है ।

अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिः—चक्षुः की रश्मि का रूप तथा स्पर्श उद्भूत नहीं होता अतः वह प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होती । वस्तुतः रूप का उद्भव ही प्रत्यक्ष का हेतु है ।

विशेषकत्वात्—भेद का कारण होने से; जैसे ब्राह्मणविशेषः कहने से ब्राह्मण जाति में जो विशेष है उसका बोध होता है । इसप्रकार समान जाति में भेद को विशेष कहा जाता है ।

उद्भवश्च कार्यगम्यः—रूप के उदभव का कार्य से बोध होता है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः । ३।१।३९॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते, तथेन्द्रियाणि व्यूढानि । विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः । रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रक्लृप्त्यर्था । द्रव्यविशेषे च प्रतिघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था । सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः । कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः । शेषं भाष्ये । रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारक्लृप्त्यर्था—यदि नायनो रश्मिरुद्भूतस्पर्शो भवेत् तेन दृश्यविशेषेऽनेकरश्मिसन्निधाने सति द्रव्यं दह्येत । अनेकरश्मि—

इन्द्रियों की रचना (व्यूहः) (आत्मा के) कर्म से कराई गई है तथा पुरुषार्थ के अधीन है । ३।१।३९॥

जिसप्रकार चेतन (आत्मा) का प्रयोजन विषयों की उपलब्धि तथा सुख दुःख की उपलब्धि माना जाता है उसीप्रकार इन्द्रियाँ रची गई है । विषय (घट आदि) की प्राप्ति के लिये नयन की किरण की रचना की गई है । उसकी रूप तथा स्पर्श की अभिव्यक्ति न होना भी व्यवहार की सिद्धि के लिये है तथा द्रव्यविशेष (दीवार आदि) में (नयन-किरण) का रुक जाने से आवरण बन सकना व्यवहार के लिये है । सब द्रव्यों की जो भिन्न-भिन्न रूपों की रचना है वह इन्द्रिय के समान ही (आत्मा के) कर्म के द्वारा कराई जाती है तथा पुरुषार्थ के अधीन है । कर्म तो धर्म तथा अधर्म हैं जो आत्मा के उपभोग के लिये होते हैं ।

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः (यह सूत्र है) । शेष भाष्य में है । (नयन-किरण के) रूप तथा स्पर्श का अभिव्यक्त न होना भी (च) व्यवहार की व्यवस्था के लिये है—यदि नयन की किरण उद्भूत स्पर्शवाली होती, उससे दृश्यविशेष में अनेक किरणों की उपस्थिति होने पर द्रव्य ही जल जाता । अनेक (नयन) रश्मियों के एकत्र होने पर व्यवहित होने ।

कर्मकारितः—पुरुष के कर्म (धर्माधर्म, अदृष्ट) द्वारा किया गया ।

पुरुषार्थतन्त्रः—पुरुष के प्रयोजन के अधीन । इन्द्रियों की रचना पुरुषार्थ सिद्धि के लिये की गई है ।

कर्म तु—धर्म तथा अधर्म रूप (अदृष्ट) जो कर्मों का फल है, वह यहाँ कर्म कहा गया है ।

रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च—चक्षुः की रश्मि में रूप और स्पर्श की अभिव्यक्ति न होने का प्रयोजन है व्यवहार की सिद्धि । यदि चक्षुः रश्मि का स्पर्श उद्भूत होता तो किसी वस्तु पर अनेक रश्मियों की उपस्थिति होने पर वह वस्तु जल जाती ।

न्यायवार्तिकम्

सन्निपाते च सति[1] व्यवहितत्वाद् द्रव्यानुपलब्ध्या भवितव्यम् । अथ मन्यसे 'यथादित्यरश्मिसम्बद्धेऽर्थे नायनो रश्मिर्न व्यवधीयते एवं रश्म्यन्तरसन्निपातेऽपि' इति ? तन्न, व्यतिभिद्यार्थग्राहकत्वात्[2]—व्यतिभिद्यादित्यरश्मिं तत्सम्बद्धेन द्रव्येण सम्बद्ध्यते, उद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वे च चक्षुषो यस्य पूर्वं सन्निपतितं चक्षुस्तदितरेण व्यवहितमिति[3] नार्थं गृह्णीयात् । अथानेकरश्मिसन्निपाते सति समानजातीयद्रव्येभ्यो द्रव्यान्तरं रश्मिरुत्पद्यते' इति ? एवं सति समग्रासमग्रचक्षुषोस्तुल्योपलम्भः प्राप्नोति । न चैतदिष्टमनुपलब्धेरिति व्यवहारक्लृप्त्यर्थं च नायनस्य रश्मेरनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वमिति । सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूहः पुरुषार्थकारित इति । कर्म च धर्माधर्मरूपं चेतनस्योपभोगार्थमिति ।

के कारण द्रव्य की अनुपलब्धि होती । (शङ्का) यदि मानते हो जैसे आदित्य की किरणों के सम्बद्ध वस्तु में नयन की किरण का व्यवधान नहीं होता, इसीप्रकार अन्य (नयन-किरण) के एकत्र होने पर भी (न होगा) ! [समाधान] वह ठीक नहीं, सूर्य की किरण के पार जाकर (व्यतिभिद्य) (नयन-रश्मि के) विषय का ग्राहक होने से—आदित्य-रश्मि के पार जाकर (व्यतिभिद्य) (नयन-रश्मि) उससे सम्बद्ध द्रव्य के साथ सम्बन्ध कर लेती है किन्तु (च) चक्षु के उद्भूत रूप एवं स्पर्श वाला होने पर जिसकी दृष्टि पहले पड़ेगी वह अन्य से व्यवहित है अतः वह पदार्थ का ग्रहण न करे । (शङ्का) यदि अनेक रश्मियों के एकत्र होने पर समान जातीय द्रव्यों से अन्य द्रव्य रश्मि के रूप में उत्पन्न हो जाता है (?) ? ऐसा होने पर पूर्ण तथा अपूर्ण चक्षु वाले (जनों) को समान उपलब्धि होने लगेगी और यह इष्ट नहीं क्योंकि ऐसी उपलब्धि नहीं होती अतः व्यवहार की व्यवस्था (क्लृप्ति) के लिये नयन की रश्मि का रूप एवं स्पर्श उद्भूत नहीं होता और सब द्रव्यों की भिन्न-भिन्न रचना पुरुषार्थ के लिये की जाती है, और धर्म तथा अधर्म रूप कर्म आत्मा (चेतन) के उपभोग के लिये होता है ।

सन्निपाते सति—टीका में 'सन्निधाने सति' पाठ है । भाव यह है कि यदि स्पर्श का उद्भव होगा तो दृश्य जल जावेगा, यदि रूप का उद्भव होगा तो आरम्भ में पड़ने वाली दृष्टि से विषय का ग्रहण होगा व्यवधान होने से अन्य के द्वारा नहीं, टी० ५२३ ।

अथानेकरश्मि०—यह शङ्का है । भाव यह है कि अनेक रश्मियों के एकत्र होने से उनके द्वारा एक नयन रूपी अवयवी उत्पन्न हो जायेगा । टी० ५२३ ।

एवं सति ... प्राप्नोति—भिन्न-भिन्न नयन के अवयवों (वृत्तियों) से एक नयन की उत्पत्ति होगी, अतः समग्र तथा असमग्र चक्षु वाले को समान ही उपलब्धि होगी । टी० ५२३ ।

---

१. सन्निधने सति, पा० । २. ग्राह्यत्वात्, पा० । ३. व्यवहितमपि, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यंच

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः[1]—यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः, स च भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति, नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति। अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी: भौतिकाभौतिकयो, समानत्वादिति।

यदपि मन्यते 'प्रतिघाताद् भौतिकानीन्द्रियाणि, अप्रतिघाताद्अभौतिकानीति प्राप्तम्। दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ? तन्न युक्तम्।

न्यायवार्त्तिकम्

(अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः, इति सूत्रम्)। अव्यभिचारी तु प्रतीघातो भौतिकधर्मः। भौतिकं चक्षुः कुड्यादिभिः प्रतीघातदर्शनात् घटादिवदिति।

व्यभिचार न होने से प्रतिघात (रुकना) भौतिक धर्म है—और जो आवरण की उपलब्धि से इन्द्रिय का विशेष द्रव्य में प्रतिघात होता है, वह भूतों का धर्म है, कहीं भी भूतों से पृथक् नहीं रहता (व्यभिचरति), अभौतिक वस्तु को प्रतिघात धर्म वाला नहीं देखा गया है। किन्तु अप्रतिघात (न रुकना) तो व्यभिचारी है, भौतिक तथा अभौतिक में समान होने से।

(पूर्वपक्ष) जो यह माना जाता है कि यदि प्रतिघात होने से इन्द्रियाँ भौतिक हैं, तो अप्रतिघात से अभौतिक हैं, यह प्राप्त होता है। और अप्रतिघात देखा गया है; क्योंकि काच, अभ्रपटल एवं स्फटिक (मणि) के पार (अन्तरित) उपलब्धि हो जाती है। [सिद्धान्त] वह ठीक नहीं—

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः, यह (वार्त्तिक में) सूत्र है। किन्तु प्रतिघात तो व्यभिचारी नहीं अतः भौतिक धर्म है; चक्षुः भौतिक है, क्योंकि दीवार आदि से इसका घटादि के समान प्रतिघात देखा जाता है।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः—न्यायवार्तिक में इसे सूत्र रूप में रक्खा गया है, न्यायसूची निबन्ध तथा वृत्ति आदि में इसे सूत्र नहीं माना गया। वस्तुतः यह भाष्य का वाक्य है।
भौतिकधर्मः—प्रतिघात भौतिक धर्म है अप्रतिघात अभौतिक धर्म है, इन्द्रियाँ भौतिक हैं क्योंकि इनमें दीवार आदि से प्रतिघात होता है, यह नैयायिक का कथन है। इन्द्रियाँ अभौतिक है—आहंकारिक हैं, यह सांख्य के अनुयायी कहते हैं।
दृष्टश्चाप्रतिघातः—काच, अभ्रपटल तथा स्फटिक से व्यवहित होने पर भी चक्षुः से दृश्य का ग्रहण होता है, (भाष्य ऊपर)।
भौतिक चक्षुः—नैयायिक का कहना है कि चक्षुः आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं क्योंकि इनका दीवार आदि से व्यवधान देखा जाता है। (ऊपर वार्तिक)।

---

१. न्यायवार्त्तिके इदं सूत्रत्वेन दृश्यते, वस्तुतः भाष्यवचनमेतत्।

न्यायभाष्यम्

कस्मात् ? यस्माद् भौतिकमपि न प्रतिहन्यते। काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरित-प्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम्। स्थाल्यादिषु च पाचकस्य तेजसोऽप्रतिघातः।
३।१।३९॥

न्यायवार्तिकम्

अप्रतीघातादभौतिकमिति चेत्—अथ मन्यसे यदि प्रतीघाताद् भौतिकमप्रतीघातादभौतिकम्। दृष्टश्चाप्रतीघातः, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ? नानेकान्तात् प्रदीपरश्मिवद्—भौतिकस्याप्रतीघातः, यथा प्रदीपरश्मेरिति। स्थाल्यादिषु च पाचकस्य तेजसोऽप्रतीघाताद्' इति। ३।१।३९॥

क्यों ? क्योंकि भौतिक का भी प्रतिघात नहीं होता; काच, अभ्रपटल तथा स्फटिक के पार भी प्रदीपकिरणों का प्रकाश होता है। और बटलोही आदि में पकाने वाले तेजस् का प्रतिघात नहीं होता। ३।१।३९॥

(शङ्का) यदि प्रतिघात न होने से अभौतिक है—यदि मानते हो कि यदि प्रतिघात होने से भौतिक है तो अप्रतिघात होने से अभौतिक होगी, और इसका अप्रतिघात काच, अभ्रपटल (बादलों का समुदाय) एवं स्फटिक (मणि) से व्यवहित (अर्थ की) उपलब्धि से देखा गया है। (समाधान) तो ठीक नहीं अनेकान्त (सव्यभिचार) होने से प्रदीप की किरण के समान भौतिक का (भी) प्रतिघात नहीं होता जैसा प्रदीप की किरण का (प्रतिघात नहीं होता है)। किञ्च, बटलोही (स्थाली) आदि में पकाने वाले तेज का प्रतिघात नहीं होता। ३।१।३९॥

कस्मात्—यहाँ भौतिक वस्तु के अप्रतिघात के दृष्टान्त दिये गये हैं (१) काच, अभ्रपटल तथा स्फटिक से प्रतिघात नहीं होता (२) बटलोही आदि में पाचक (पकाने वाली अग्नि) का प्रतिघात नहीं होता।

अप्रतिघातादभौतिकमिति चेत्—यह सांख्य की शङ्का है, यदि प्रतिघात होने से इन्द्रियाँ भौतिक हैं तो अप्रतिघात होने से अभौतिक होंगी।

दृष्टश्चाप्रतिघातः—इन्द्रियों में अप्रतिघात देखा गया है। काच, अभ्रपटल आदि से चक्षुः इन्द्रिय का प्रतिघात नहीं होता।

नोऽनेकान्तात्—सांख्य की शङ्का का नैयायिक द्वारा उत्तर दिया गया है। भौतिक का भी अप्रतिघात होता है। यहाँ भाष्योक्त दोनों दृष्टान्तों को पुनः दिया गया है। इसप्रकार अप्रतिघात होने से इन्द्रियाँ अभौतिक (आहंकारिक) हैं, यह नहीं हो सकता, अतः इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

उपपद्यते चानुपलब्धिः कारणभेदात्,

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ।३।१।४०॥

यथाऽनेकद्रव्येण समवायाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धि-कारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते, आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः । एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः । तच्च व्याख्यातम् 'अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति । अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणम् । ३।१।४०॥

न्यायवार्त्तिकम्

उपपद्यते चानुपलब्धिः कारणभेदात्, मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुप-लब्धिः—यथोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य मध्यन्दिनोल्काप्रकाशस्य निमित्तावग्रहणमभिभ-वात् तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य चाक्षुषस्य रश्मेरग्रहणं निमित्ताद्रूपस्यानुद्भूतेरिति । मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते' इति, आदित्यप्रकाशात् ।

कारण के भेद से भी अनुपलब्धि बन सकती है,

मध्याह्न में उल्का—प्रकाश की अनुपलब्धि के समान उसकी अनु-पलब्धि होती है । ३।१।४०॥

जिसप्रकार अनेक द्रव्यों में समवाय होने से तथा विशेष रूप होने से उप-लब्धि होती है, इसप्रकार उपलब्धि का कारण होने पर (भी) मध्याह्न में उल्का (नक्षत्र विशेष) का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से अभिभूत हुआ उपलब्ध नहीं होता इसी-प्रकार महत् (परिमाण) अनेक द्रव्य वाला तथा विशेष रूप वाला होने से उपलब्धि होती है, इसप्रकार उपलब्धि का कारण होने पर चक्षु की किरण अन्य निमित्त से उपलब्ध नहीं होती उस (निमित्त) की व्याख्या कर दी गई है कि जिस द्रव्य का रूप एवं स्पर्श उद्भूत नहीं होता उसकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हुआ करती । और अत्यन्त अनुपलब्धि (ही किसी वस्तु के) अभाव की कारण होती हैं । ३।१।४०॥

कारण के भेद से भी अनुपलब्धि बन सकती है । (इसमें सूत्र है) 'मध्यन्दिनो-ल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः'—जिसप्रकार उपलब्धिलक्षणप्राप्त उल्का का प्रकाश मध्याह्न में अभिभव के कारण गृहीत नहीं होता उसीप्रकार उपलब्धिलक्षण-प्राप्त चक्षु की रश्मि का रूप के अनुद्भव के निमित से ग्रहण नहीं होता । मध्याह्न में उल्का का प्रकाश नहीं दिखलाई देता, सूर्य के प्रकाश से ।

निमित्तान्तरतः—अन्य निमित्त से, वह अन्य निमित्त ऊपर बतला दिया गया है ।

तच्च व्याख्यातम्—उस (अन्य निमित्त) की ऊपर (अनेकद्रव्यसमवायाद् 'इस सूत्र के भाष्य में) व्याख्या कर दी गई है कि रूप, स्पर्श के उद्भूत न होने के कारण चक्षुः की रश्मि उपलब्ध नहीं होती ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यो हि ब्रवीति 'लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोपलभ्यते' इति, तस्यैतत्स्यात्,

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः । ३।१।४१।।

अप्यनुमानतोऽनुपलब्धेरिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति । न त्वेवं चाक्षुषो रश्मिरिति । ३।१।४१।।

न्यायवार्त्तिकम्

आदित्यप्रकाशाभिभवाद्, इत्ययुक्तं सर्वरश्मिवत्त्वप्रसङ्गात्—एवं सति सर्वं लोष्टादि रश्मिमत्प्राप्नोति ? अथ लोष्टादिरश्मयः कस्मान्नोपलभ्यन्ते, इत्यनुयुक्तो ब्रूयाद्, 'आदित्यरश्म्यभिभवाद्' इत्ययुक्तं तदेतदुत्तरद्वारकं सूत्रम् 'न रात्रावप्यनुपलब्धेः' ।

वस्तुतः जो यह कहता है मध्याह्न में ढेले (लोष्ट) का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से दब जाने से (अभिभवात्) नहीं उपलब्ध होता, उसके लिये यह है,

नहीं, रात्रि में उपलब्ध न होने के कारण । ३।१।४१।।

अनुमान से भी उपलब्ध न होने के कारण, इसप्रकार अत्यन्त अनुपलब्धि होने के कारण लोष्ट का प्रकाश नहीं है । किन्तु चक्षुः की रश्मि (किरण) ऐसी नहीं है । ३।१।४०।।

सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण, यह युक्त नहीं, सभी का किरणों वाला होना प्राप्त होने से—ऐसा होने पर सब लोष्ट आदि किरणों वाला है, यह प्राप्त होता है । तब मिट्टी के ढेले (लोष्ट) आदि की किरणें क्यों नहीं उपलब्ध होतीं । यह पूछा जाने पर कोई कहे 'सूर्य की किरणों से अभिभूत होने के कारण (लोष्टादि की किरणें उपलब्ध नहीं होती), ऐसा कहना युक्त नहीं, यह उत्तर देने वाला सूत्र है 'न रात्रावप्यनुपलब्धेः' ।

न रात्रावप्यनुपलब्धेः—शङ्का यह है कि आदित्यप्रकाश से अभिभव होने के कारण मध्याह्न से उल्का—प्रकाश दिखलाई नहीं देता जो यह कहा गया है, वह अयुक्त है, ऐसा होने पर तो सभी पदार्थ किरण वाले हो जायेंगें, लोष्ट आदि भी किरणों वाले होंगें । यदि कोई कहे कि लोष्ट आदि की किरणें सूर्य की किरणों से अभिभूत होने के कारण दिन में दिखलाई नहीं देतीं, तो ठीक नहीं क्योंकि वे रात्रि में भी दिखलाई नहीं देतीं (ऊपर वार्त्तिक) ।

न रात्रावपि—यहाँ अपि शब्द से प्रकट होता है कि अनुमान से भी लोष्टादि की किरणें उपलब्ध नहीं होतीं, अतः नहीं हैं, न रात्रवपीति सूत्रगतादित्यर्थः टी० ५२३ ।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि लोष्टादिरश्मयः स्युर्दिवादित्यप्रकाशाभिभवाच्च नोपलभ्यन्ते' इति, रात्रौ तहर्युपलभ्येरन्, रात्रावपि नोपलभ्यन्ते । व्यञ्जकाभावादिति चेत् ? न हि यद्यस्याभिभावकं तत् तस्याभिव्यञ्जकमिति । कथं न प्राप्नोति लोष्टादि रश्मीनामुपलम्भः । अनुमानतश्च नोपलभ्यते लोष्टरश्मिभिरित्यपिशब्दात गम्यते । तदेवं सर्वप्रमाणनिवृत्तेर्न विद्यते लोष्टरश्मिः, न पुनरेवं चाक्षुषो रश्मिर्निरनुमानः, कुड्यादरावरणस्य सामर्थ्यादिति । ३।१।४१॥

(शङ्का) यदि लोष्ट आदि की किरणें होतीं और दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभव होने के कारण उपलब्ध न होतीं तो रात्रि में उपलब्ध हुआ करतीं, वे तो रात्रि में भी उपलब्ध नहीं होतीं । यदि व्यञ्जक के अभाव के कारण (ऐसा होता है) । (समाधान) तो (ठीक) नहीं, जो जिसका अभिभावक (अभिभव करने वाला) होता है वह उसका व्यञ्जक (व्यक्त करने वाला) नहीं होता । फिर लोष्ट आदि की किरणों की उपलब्धि कैसे नहीं होती । अनुमान से भी लोष्ट आदि की किरणों की उपलब्धि नहीं होती, यह अपि (भी) शब्द से जाना जाता है । तब इसप्रकार सब प्रमाणों का अभाव होने से लोष्ट आदि की किरण नहीं होती; किन्तु इसप्रकार चक्षु की किरण तो अनुमान के बिना (अनुमान रहित) नहीं है, (उसकी सत्ता में अनुमान है ही) क्योंकि (वहाँ) दीवार आदि के आवरण का सामर्थ्य है । वहाँ दीवार आदि से चक्षु-किरण के रुक जाने के कारण आवरण का अनुमान किया जाता है । ३।१।४१॥

व्यञ्जकाभावादिति चेत्—यह पूर्वपक्ष का समाधान है, लोष्टादि की किरणें रात्रि में उपलब्ध नही होतीं क्योंकि उनका व्यञ्जक उस समय नहीं होता ।

न हि यद्यस्याभिभावकं तत्तस्याभिव्यञ्जकम्—यदि लोष्टादि की किरणों का व्यञ्जक सूर्य की किरणें मानी जायें तो ठीक नहीं क्योंकि जो जिसका अभिभावक है वह उसका व्यञ्जक नहीं हो सकता । टीका में इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से की गई है, द्र० टी० ५२३ ।

तदेवं सर्वप्रमाणनिवृत्तेः—कोई प्रमाण न होने से लोष्टादि की किरणें नहीं होतीं ।

न पुनः चक्षुषो रश्मिर्निरनुमानः—इसप्रकार चक्षुः की किरणों मे अनुमान नही है, ऐसा नहीं । उनका तो दीवार आदि के आवरण से अनुमान किया जाता है । दीवार आदि के आ जाने पर चक्षुः की किरण आगे नहीं देखती अतः अनुमान किया जाता है कि दीवार आदि का आवरण है जो चक्षुः की किरण को आगे जाने से रोकता है ।

उपपन्नरूपा चेयम्,

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ३।१।४२।।

बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकम् । तदभावेऽनुपलब्धिः-सति च प्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षुषाऽग्रहणं रूपस्यानुद्भूतत्वात् । सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा । तत्र यदुक्तं 'तदनुपलब्धेरहेतुः' इत्येतदयुक्तम् । ३।१।४२।।

न्यायवार्त्तिकम्

तस्य विद्यमानस्य । दृष्टान्तस्थान एवैतत्सूत्रम् । किमुक्तं भवति ? यत् खलु बाह्यप्रकाशमपेक्षते तस्यानुपलब्धी रूपानभिव्यक्तित इति अनुद्भूतेर्यथा विषक्तावयवस्याऽप्यद्रव्यस्य रूपानुद्भूतेरग्रहणं तथा चाक्षुषो रश्मिर्बाह्यप्रकाशानुग्रहमपेक्षते तस्मादस्यापि रूपस्यानुद्भूतेरग्रहणमिति । ३।१।४२।।

अनभिव्यक्ति से उपलब्धि नहीं होती, यह युक्त भी है,

बाह्य प्रकाश की सहायता से विषय (चक्षुरश्मि) की उपलब्धि होने से उसकी अनुपलब्धि अभिव्यक्ति होने के कारण होती है ।३।१।४१।।

बाह्य प्रकाश की सहायता से चक्षु: विषय का ग्राहक है । उसे (बाह्य प्रकाश) का अभाव होने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती । और, (बाह्य) प्रकाश की सहायता होने पर तथा शीतस्पर्श की उपलब्धि होने पर उसके आश्रय होने वाले द्रव्य का चक्षु से ग्रहण नहीं होता रूप का उद्भूत न होने के कारण । वह यह रूप की अभिव्यक्ति न होने के कारण रूप के आश्रय द्रव्य की अनुपलब्धि देखी गई है । उस विषय में जो कहा गया है 'तदनुपलब्धेरहेतुः' यह युक्त नहीं । ३।१।४२।।

उस (चक्षु रश्मि) के विद्यमान होते हुए (भी) 'बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः' (यह सूत्र है) । यह सूत्र दृष्टान्त के स्थान पर ही है। (प्रश्न) क्या अभिप्राय है ? (उत्तर) वस्तुत: जो बाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखता है उसकी अनुपलब्धि रूप की अनभिव्यक्ति के कारण होती है, अर्थात् उद्भूत (रूप) न होने से; जिसप्रकार फैले हुए (विषक्त) अवयवों वाले जलीय द्रव्य का रूप उद्भव न होने से ग्रहण नहीं होता उसी प्रकार चक्षु: की किरण बाह्य प्रकाश के अनुग्रह की अपेक्षा करती है अत: इसका भी रूप के उद्भव न होने से ग्रहण नहीं होता ।

३।१।४२।।

उपपन्नरूपा चेयम्......अनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः—यह सूत्र भाष्य के इस वाक्यांश से अन्वित है, जो विषय की उपलब्धि के लिये बाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखता है वह अनभिव्यक्ति (अनुद्भव) से ही उपलब्ध नहीं होता (द्र० टी० ५२४) अत: अभिभव से चक्षु की किरण की उपलब्धि नहीं होगी, यह कथन अयुक्त है ।

तस्य विद्यमानस्य—यद्यपि चक्षु-रश्मि विद्यमान है तथापि उसका ग्रहण नहीं होता ।

दृष्टान्तस्थान एवैतत्सूत्रम्—यह सूत्र दृष्टान्त के स्थान में दिया गया है; जिसप्रकार फैले हुए (विषक्त) अवयव वाला जलीय द्रव्य है रूप के अनुद्भव से उसका ग्रहण नहीं होता इसीप्रकार चक्षु: की किरण की भी रूप का अनुद्भव होने से उपलब्धि नहीं होती ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कस्मात्पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यते' इति ?

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् । ३।१।४३।।

बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षतायां चेति चार्थः । यद् रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्यप्रकाशानुग्रहं च नापेक्षते, तद्विषयोऽभिभवो विपर्ययेऽभिभवाभावात् अनुद्भूतरूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयते' इति । एवमुपपन्नोऽस्ति चाक्षुषो रश्मिरिति । ३।१।४३।।

न्यायवार्त्तिकम्

कस्मात् पुनर्नायनस्य रश्मेरनुपलब्धे रभिभवो न कारणमुच्यते' इति ? नोच्यते, अभिव्यक्तौ चाभिभवात्—यदुद्भूतरूपं बाह्यप्रकाशानुग्रहण च नापेक्षते तदभिभूयते! यथा मध्यन्दिनोल्काप्रकाशः । अनुद्भूतरूपश्च नायनो रश्मिर्बाह्यप्रकाशानुग्रहण चापेक्षते ।

किन्तु चक्षु की किरण की अनुपलब्धि का कारण अभिभव क्यों नहीं कहा जाता ?

अभिव्यक्ति होने पर ही (भी) अभिभव होने से ।३।१।४३।

यहाँ च (और) का अर्थ है बाह्य प्रकाश की अपेक्षा न होने पर भी । जो रूप अभिव्यक्त है, उद्भूत है तथा बाह्य प्रकाश की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, उसके विषय में ही अभिभव होता है उसके विपरीत होने पर (अभिभव) नहीं होता —रूप के उद्भूत न होने के कारण अनुपलब्ध होने वाला और बाह्य प्रकाश की सहायता से उपलब्ध होने वाला अभिभूत नहीं होता । इसप्रकार सिद्ध हो गया कि चक्षु: की रश्मि है । ३।१।४३।।

(प्रश्न) किन्तु नयन की किरण की अनुपलब्धि का कारण अभिभव क्यों नहीं कहा जाता । (उत्तर) नहीं कहा जाता । (इस पर सूत्र है) 'अभिव्यक्तौ चाभिभवात्' —जो उद्भूत रूप वाला है तथा बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, वह अभिभूत होता हैं; जैसे मध्याह्न में उल्का का प्रकाश । किन्तु (च) नयन की किरण तो उद्भूत रूप वाली नहीं और बाह्य प्रकाश की सहायता की अपेक्षा रखती है ।

कस्मात् पुनर्नायनस्य—इसका उतर 'अभिव्यक्तौ चाभिभवात्' सूत्र में दिया गया है । टी० ५२४।

यद्भूतरूपं··· ···तदभिभूयते—यह अभिभवनीय (अभिभव के योग्य) पदार्थ का स्वरूप दिखलाया गया है, टी० ५२४ ।

अनुद्भूतरूपश्च नायनो रश्मिः—यहाँ वैधर्म्य दिखलाया गया है, टी० ५२४ । चक्षु: की रश्मि का रूप उद्भूत नहीं है और वह अपने ग्रहण के लिये बाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखती है अत: उसकी उपलब्धिनहीं होती । इन सबके उदाहरण आगे दिखल ये गये है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च । ३।१।४४।

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेषस्यानुमानमिति ।

न्यायवार्तिकम्

यदनुद्भूतरूपं तन्नाभिभूयते, यथा तदेव विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यम् । यच्च बाह्यप्रकाशानग्रहापेक्षमुद्भूतरूपमपि तन्नाभिभूयते, यथा घटादिद्रव्यम्' इति । सोऽयमुभयविषयोऽभिभवो नयनरश्मावनुपपन्न इति । विप्रतिपत्तिविषयः कृष्णसारं रश्मिमत्, द्रव्यत्वे सति रूपोपलब्धौ नियतस्य साधनाङ्गस्य निमित्तत्वात् प्रदीपवदिति । अथवा रश्मिमच् चक्षुः द्रव्यत्वे सति नियतत्वे च सति स्फटिकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् । ३।१।४३॥

'नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च' इति दृष्टान्तसूत्रम् । मानुषं चक्षूरश्मिमत् । अप्राप्तिस्वभावत्वे सति रूपाद्युपलब्धिनिमित्तत्वात् नक्तञ्चरचक्षुर्वदिति ।

रात्रिचर (बिल्ली आदि) की नयन की किरण देखी जाने के कारण भी । ३।१।४४॥

वृषदंश आदि (बैल के डांस आदि) रात्रिचरों की रात्रि में नयन की किरणें देखी जाती हैं, उससे शेष (मनुष्य आदि) की (नयन-किरण का) अनुमान होता है । जो उद्भूत रूप वाली नहीं है वह अभिभूत नहीं होता; जैसे वही विभक्त अवयवों वाला जलीय द्रव्य हैं और जो बाह्य प्रकाश की सहायता की अपेक्षा करता है वह उद्भूत रूप वाला भी अभिभूत नहीं होना; जैसे घटादि द्रव्य है । वह यह अभिभव दोनों विषयों में होता है जो नयन की किरण में नहीं बन सकता । (वार्त्तिककार के दो अनुमान) मत-भेद (विप्रतिपत्ति) का विषय जो काला तारा है वह किरण वाला है, द्रव्य होकर रूप की उपलब्धि में नियत होने वाले साधन के अङ्ग का निमित्त होने से प्रदीप के समान । अथवा चक्षु: किरण वाली है, द्रव्य होकर तथा (रूप-दर्शन में) नियत होकर स्फटिक आदि द्रव्य से व्यवहित द्रव्यों का प्रकाशक होने से, प्रदीप के समान । ३।१।४३॥

'नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च' यह दृष्टान्त सूत्र है । मनुष्य का नयन किरणों वाला है, अप्राप्ति स्वभाव वाला होकर रूपादि की उपलब्धि का निमित्त होने से रात्रिचर के चक्षु के समान ।

नक्तम्—रात्रि में (यह अव्यय शब्द है) । नक्तञ्चर—रात्रि में चलने वाले बिल्ली आदि ? भाष्य में इसका उदाहरण दिया गया है 'वृषदंश' ।

शेषस्यानुमानम्— मनुष्य की चक्षु रश्मियों का अनुमान कर लिया जाता है । चक्षुः की किरणों की सिद्धि के लिये दो अनुमान वार्त्तिककार ने दिखलाये हैं । मनुष्य की चक्षु में 'नक्तञ्चर०' इत्यादि सूत्र के वार्त्तिक में अनुमान दिखलाया गया है, मानुषं चक्षुः' इत्यादि ।

विप्रतिविषयः कृष्णसारं—इसका पदकृत्य टीका में दिखलाया गया है, टी० ५२४ ।

न्यायभाष्यम्

जातिभेदवद् इन्द्रियभेद इति चेत् ? धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नम्, आवरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति। ३।१।४४।।

न्यायवार्तिकम्

जातिभेदाद् इन्द्रियभेद इति चेत्—अथ मन्यसे यथा विडालत्वं जातिर्वृषदंशे वर्तते न मनुष्ये एवं रश्मिमद् विडालस्यैव चक्षुर्भविष्यति न मानुषस्येति ? न, आवरणसामर्थ्यात्—सत्येतस्मिन् जातिभेदे यथा वृषदंशप्रभृतीनां कुड्यादिभी रश्मय आव्रियन्ते तथा मनुष्याणामपीति समानमेवेति। इतश्च[1] भौतिकानीन्द्रियाणि प्रतिघातित्वात् घटवद इति।[2] भूतं श्रोत्रं द्रव्यत्वे सति बाह्यप्राप्तार्थप्रकाशकत्वात् घ्राणादिवदिति। ३।१।४४।।

(शङ्का) यदि जाति के भेद के समान इन्द्रियों का भेद होता है ? [समाधान] धर्मभेदमात्र (प्रत्येक धर्म का भेद) नहीं बनता, क्योंकि प्राप्ति का प्रतिषेध करने वाला आवरण (मनुष्य-नेत्र में भी) देखा जाता है। ३।१।४४।।

(शङ्का) यदि जाति के भेद से (विडाल और मनुष्य में) इन्द्रिय का भेद होता है ? —यदि मानते हो कि जिसप्रकार विडालत्व जाति वृषदंश में है मनुष्य में नहीं, इसीप्रकार विडाल का ही चक्षु किरण वाला होगा, मनुष्य का नहीं ? [समाधान] नहीं, आवरण के समर्थ्य से—इस जाति भेद के होने पर जिसप्रकार विडाल आदि की (आंख की) किरणें दीवार आदि से आवृत होती हैं उसीप्रकार मनुष्यों की भी, यह (दोनों में) समान ही है। इसलिये भी इन्द्रियां भौतिक हैं, प्रतिघाती (आवरण से रुकने वाली) होने से, घटादि के समान। श्रोत्र भूत (आकाश) हैं, द्रव्य होकर बाह्य प्राप्त अर्थ (शब्द) का प्रकाशक होने से। ३।१।४४।।

जातिभेदवादिन्द्रियभेदः—भाष्य में यह शङ्का है जिसका समाधान है 'धर्मभेदमात्रं च' इत्यादि। यहाँ च (और) अवधारण के लिये है। 'अनुपपन्नमेव' यह भाव है।

आवरणस्य प्रतिघातित्वात्—यह हेतु है इन्द्रियों में प्रतिघात होता है। अतः ये भौतिक हैं। यहाँ इन्द्रियाणि पद से चक्षु, रसना तथा घ्राण का ग्रहण होता है टी०, ५२५।

अनुपपन्नम्—अनुपपन्नमेव यह अर्थ है, भाव यह है कि जैसे धूमवत्त्व पर्वत तथा रसोई में भिन्न-२ होता है किन्तु यह भेद अग्निवाला होने में भेद नहीं करता। इसीप्रकार विडालत्व तथा मनुष्यत्व के भिन्न-२ होने पर भी चक्षु की किरणों में भेद नहीं है, इनमें प्रतिघाती होना समान ही है।

भूतं श्रोत्रम्—मन से व्यभिचार न हो जाये अतः 'प्राप्त' पद दिया गया है। आन्तरिक दुःख आदि को मन प्राप्त करके ही प्रकाशित करता है अतः 'बाह्य' पद दिया गया है तथापि सन्निकर्ष और अदृष्ट आदि से व्यभिचार होगा अतः 'द्रव्यत्वे सति' ऐसा कहा गया है।

---

१. अतश्च, पा०। २. घटादिवदिति, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकरणत्वानुपपत्तिः। कस्मात् ?

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ।३।१।४५।।

तृणादि सर्पद् द्रव्यं काचे ऽभ्रपटले प्रतिहत दृष्टमव्यवहितेन 'सन्निकृष्यते, व्याहन्यते वै प्राप्तिर्व्यवधानेनेति । यदि च रश्म्यर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्याद्, न व्यवहितस्य सन्निकर्ष इत्यग्रहणं स्यात् । अस्ति चेयं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिः । सा ज्ञापयत्यप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि अत एवाभौतिकानि' प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति । ३।१।४५।।

न्यायवार्त्तिकम्

रश्म्यर्थसन्निकर्षग्रहणात्तद्ग्रहणमयुक्तमन्यथापि ग्रहणात्, 'अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः' । तृणादि सर्पद द्रव्यं काचेऽभ्रपटले वा प्रतिहन्यते । यदि चाक्षुषो रश्मिः प्राप्तार्थप्रकाशकः स्यात्, काचाभ्रपटलस्फटिक कान्तरिते प्रकाशको न स्यात । अस्ति तु, तस्मान्न प्राप्यकारि चक्षुरिति । अत एवाभौतिकम् प्राप्यकारित्वं भौतिकधर्मं इति । ३।१ ४५।।

(इन्द्रिय प्राप्य कारित्व परीक्षा)

(पूर्वपक्ष) इन्द्रिय तथा विषय (अर्थ) का सन्निकर्ष ज्ञान का कारण नहीं बनता। क्यों ?

(चक्षु द्वारा) विषय को प्राप्त किये बिना ग्रहण होता है; काच, अभ्रपटल तथा स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि होने से । ३।१।४५।।

तिनका आदि चलता हुआ द्रव्य, काच में या अभ्रपटल में रुका हुआ देखा गया है वह अव्यवहित से सन्निकर्ष को प्राप्त होता है । वस्तुतः व्यवधान (रुकावट) से सम्बन्ध (प्राप्ति) रुक जाती है । यदि चक्षु की किरण तथा विषय का सन्निकर्ष चाक्षुष ज्ञान का कारण हुआ करता तो व्यवहित का सन्निकर्ष होता नहीं अतः ग्रहण न होता । किन्तु यह होता है, काच, अभ्रपटल एवं स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि होती है । वह सूचित करती है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं' । इसीलिये (ये) अभौतिक है; क्योंकि प्राप्यकारित्व भौतिक धर्म है । ३।१।४५।।

(नयन) किरण तथा विषय के सन्निकर्ष से उस (विषय) का ग्रहण होता है, यह अयुक्त है; क्योंकि सन्निकर्ष के बिना भी (अन्यथाऽपि ग्रहण होता है । (इस विषय में सूत्र है) 'अप्राप्यग्रहण' काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः' । (उसका अभिप्राय है) तिनका आदि चलता हुआ द्रव्य काच अथवा अभ्रपटल में रुक जाता है । यदि चक्षुः की किरण प्राप्त विषय की प्रकाशक होती तो काच, अभ्रपटल एवं स्फटिक से व्यवहित की प्रकाशक न होती । किन्तु होती है, अतः चक्षुः प्राप्यकारी नहीं, इसीलिए अभौतिक है, क्योंकि प्राप्यकारी होना तो भौतिक धर्म है । ३।१।४५।।

प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्मः—काच, अभ्रपटल आदि से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि होती है इससे प्रतीत होता है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं । किन्तु भौतिक पदार्थों में तो प्राप्यकारित्व होता है । अतः इन्द्रियाँ अभौतिक है । वार्त्तिककार ने भी इसीकी व्याख्या की है । यह पूर्वपक्ष है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः । ३।१।४६।।

अप्राप्यकारित्वे सतीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिः न स्यात् । ।३।१।४६।।

प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिर्न स्यात्,

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः । ३।१।४७।।

न च काचोऽभ्रपटलं वा नयनरश्मि विष्टभ्नाति । सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यते' इति । ३।१।४७।।

न्यायवार्त्तिकम्

न कुड्यान्तरितानुपलब्धे' रप्रितषेध इति । अप्राप्यकारित्वे इन्द्रियस्य न कुड्याद्यावरणसामर्थ्यमस्तीत्युक्तम् । शेषं भाष्ये । ३।१।४६।।

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ।[१] न काचोऽभ्रपटलं वा रश्मिं प्रतिवध्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानो व्यतिभिद्यार्थेन सम्बध्यते । ३।१।४७।।

दीवार आदि से व्यवहित की उपलब्धि न होने से (इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का) प्रतिषेध नहीं । ३।१।४६।।

इन्द्रियों के अप्राप्यकारी होने पर दीवार से व्यवहित की अनुपलब्धि न होती । ३।१।४६।।

किन्तु (इन्द्रियों के) प्राप्यकारी होने पर भी काच, अभ्रपटल एवं स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि न होगी ।

(वहाँ) प्रतिघात न होने से सन्निकर्ष बनता है । ।३।१।४७।।

और काच अथवा अभ्रपटल नेत्र की किरण को नहीं रोकता । वह न रुकती हुई सन्निकर्ष को प्राप्त होती है । ३।१।४७।।

(इस पर सूत्र है) 'न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः' । यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी होतीं तो दीवार आदि का आवृत करने का सामर्थ्य न होता । ।३।१।४६।।

(इसका उत्तरसूत्र है) 'अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः।' काच अथवा अभ्रपटल (चक्षु:) किरण को नहीं रोकते, वह न रोकी हुई काच आदि के पार जाकर (व्यतिभिद्य) विषय से सम्बद्ध हो जाती है । ३।१।४७।।

कुड्य०—कुड्य=दीवार, उसके पार, उससे व्यवहित अर्थ उपलब्ध नहीं होता अतः इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं ।

अप्रतिघातात्०—यह सूत्र काच इत्यादि का समाधान है । भाव यह है कि काच व अभ्रपटल आदि से नयन-किरण का प्रतिघात नहीं होता अतः सन्निकर्ष बन जाता है ।

सोऽप्रतिहन्यमानः—सः=रश्मिः, टी० ५२५ । काच अभ्रपटल आदि से नयनकिरण का प्रतिघात नहीं होता अतः उससे अर्थ का सन्निकर्ष हो जाता है, टी० ५२५ ।

व्यतिभिद्यार्थेन सम्बध्यते—काच, अभ्रपटल, स्फटिक आदि के पार अर्थ का सन्निकर्ष हो जाता है । व्यतिभिद्यार्थेन सम्बध्यते=काचान्तर्गतेन, टी० ५२५ । यह काच के साथ अभ्रपटल आदि का भी ग्रहण है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यश्च मन्यते 'न भौतिकस्य प्रतिघातः' इति । तन्न,

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ।३।१।४८।।

आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात । अविघातात् इति पदाभिसम्बन्धभेदाद् वाक्यभेद इति । प्रतिवाक्यं चार्थभेद इति । आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहन्यते, अविघातात् कुम्भस्थमुदकं तपति । प्राप्तौ हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्य स्पर्शस्य ग्रहणं तेन च शीतस्पर्शाभिभव इति । स्फटिकान्तरितेऽपि प्रकाशनीये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः । अप्रतिघातात्प्राप्तस्य ग्रहणमिति । भर्जनकपालादिस्थं च द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते । तत्राविघातात्प्राप्तिः । प्राप्तौ तु दाहः । नाप्राप्यकारि तेज इति

न्यायवार्त्तिकम्

यच्च मन्येत न भौतिकस्यास्यप्रतीघातः इति । सर्वं हि भौतिकं प्रतीघातधर्मकमिति । तन्न, आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्ये ऽ विघातात् । न, आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽप्यविघातात् ।

जो मानता है कि भौतिक का प्रतिघात नहीं होता; वह (ठीक) नहीं,

सूर्य की किरण का स्फटिक से व्यवहित होने वाले दाह्य में विघात न होने से ।।३।१।४८।।

आदित्यरश्मि का विघात न होने से, स्फटिक से व्यवहित में विघात न होने से, दाह्य में विघात न होने से । 'अविघातात्' इस पद के सम्बन्ध के भेद से वाक्य का भेद हो जाता है और प्रत्येक वाक्य का अर्थभेद होता है । सूर्य की किरण घट आदि में नहीं रुकती, न रुकने से घट में स्थित जल उष्ण हो जाता है । वस्तुतः प्राप्त होने पर ही अन्य द्रव्य का गुण उष्ण स्पर्श जल में गृहीत होता है और उससे शीतस्पर्श का अभिभव हो जाता है । स्फटिक से व्यवहित प्रकाशित करने योग्य (वस्तु) में प्रदीप की किरणें नहीं रुकतीं, न रुकने से प्राप्त हुए का ग्रहण होता है । और भूंजने के कपाल में स्थित द्रव्य अग्नि के तेज से जला दिया जाता है । वहाँ न रुकने से प्राप्ति होती है प्राप्त होने पर ही (तु) दाह होता है । तेजस् तो अप्राप्यकारी नहीं है ।

जो मानता है कि भौतिक का प्रतिघात नहीं होता । वस्तुतः सभी भौतिक प्रतिघात धर्म वाला होता है । वह (ठीक) नहीं, 'आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात्' (यह सूत्र है) । नहीं, सूर्य की किरण का विघात न होने से, स्फटिक से व्यवहित में भी विघात न होने से तथा दाह्य में भी विघात न होने से ।

आदित्यरश्मेः— यह सूत्र है जो पूर्वपक्षी की शङ्का का भी समाधान करता है । यहाँ भाष्यकार ने तीन वाक्य माने हैं, वार्तिककार ने भाष्योक्त की ही व्याख्या की है । डा० गङ्गानाथ झा ने (द्र०, पूना संस्करण तथा अनुवाद ।२।। में) एक वाक्य मानकर इसका अर्थ किया है । नैकं वाक्यम नेकार्थं प्रतिवाक्यं चार्थभेदः' वार्तिककार के इस कथन से भी यह स्पष्ट है कि ये भिन्न-भिन्न वाक्य हैं । यह अविघात क्या है ? यह आगे स्पष्ट किया जा रहा है ।

न्यायभाष्यम्

अविघातादिति च केवलं पदमुपादीयते। कोऽयमविघातो नाम? अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्यस्याविष्टम्भः, क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः, प्राप्तेरप्रतिषेध इति। दृष्ट हि कलशनिषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शस्य ग्रहणम्। न चेन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः दृष्टौ च प्रस्पन्दपरिस्रवौ। तत्र काचाभ्रपटलादिभिर्नयनरश्मेरप्रतिघाताद् विभिद्यार्थेन सह सन्निकर्षादुत्पन्नं ग्रहणमिति। ३।१।४८

न्यायवार्त्तिकम्

अविघातादिति[1] पदाभिसम्बन्धाद् वाक्यभेदः। नैकं वाक्यमनेकार्थं प्रतिवाक्य चार्थभेद इति। शेषं भाष्ये।

कोऽयमविघातः? अव्यूह्यमानावयवद्रव्यानुप्रवेशः यस्य द्रव्यस्यावयवा न व्यूह्यन्ते तस्यान्तरावयवैरव्यूह्यमानस्य योऽभिसम्बन्धः सोऽविघात इति।

'अविघातात्' यह (सूत्र में) केवल पद दिया जाता है। यह अविघात क्या है? घने (घिनके) अवयव रहित व्यवधायक द्रव्य के द्वारा सब प्रकार से किसी द्रव्य का न रुकना, क्रिया के हेतु का न रुकना, प्राप्ति (संयोग) का प्रतिषेध न होना—वस्तुतः घड़े से निकले जल का उसके बाहर शीतस्पर्श का ग्रहण देखा गया है और इन्द्रिय से सन्निकृष्ट न होने वाले द्रव्य के स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु बहना (प्रस्पन्द) तथा टपकना (परिस्रव) देखा गया है। वहाँ काच, अभ्रपटल आदि के द्वारा नयन की किरण के न रुकने के कारण उनके पार (विभिद्य) विषय के साथ सन्निकर्ष होने से (उन विषयों का) ग्रहण बनता है (उपपन्नम्)। ३।१।४८।

'अविघातात्' इस पद के अन्वय से वाक्य का भेद होता है। एक वाक्य का अनेक अर्थ नहीं होता और प्रत्येक वाक्य का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। शेष भाष्य में है।

यह अभिघात क्या है? घने अवयव रहित (अव्यूह्यमानावयव) द्रव्य में (अन्य) द्रव्य का अनुप्रवेश—जिस द्रव्य के अवयव एक दूसरे से मिले नहीं हैं (न व्यूह्यन्ते) उसके बीच मे (अन्तरा) अवयवों से घने अवयव रहित (द्रव्य) का जो सम्बन्ध है वह अभिघात है।

अविघातात्—यह केवल पद दिया जाता है। इसका सम्बन्ध प्रत्येक अव्यूह्यमानस्य वाक्य में है, यह भाव है।

कोऽयमविघातः—आगे दो प्रकार का अविघात दिखलाया गया है १. अव्यूह्यमानावयवद्रव्यानुप्रवेशः २. अव्यूह्यमानावयवद्रव्यस्य बहिरवस्थितद्रव्यप्राप्तिः। भाव यह है कि जिस द्रव्य के अवयव मिले नह होते वह अव्यूह्यमानावयव है उसमें अन्य द्रव्य का अनुप्रवेश अथवा उसका अन्य द्रव्य में अनुप्रवेश भी अविघात है। जैसा कि वाचस्पतिमिश्र ने कहा है-एतदुक्तं भवति सान्तरत्वादवयविद्रव्याणां तदवयवान्तराले योऽनुप्रवेशः सोऽप्रतिघात इति। प्रवेशेऽप्रतिघातमुक्त्वा निःसरणेऽप्यप्रतिघातमाह, अव्यूह्यमानावयवस्य वा द्रव्यस्य (इत्यादि) टी० ५२६।

---

[1] अप्रतिघातादिति, पा०

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् । ३।१।४९।।

काचाभ्रपटलादिवद् वा कुड्यादिभिरप्रतिघातः, कुड्यादिवद् वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतिघातः' इति प्रसज्यते। नियमे कारणं वाच्यमिति । ३।१।४९।।

न्यायवार्त्तिकम्

अन्तर्व्यवस्थितस्य वा द्रव्यस्य वाऽव्यूह्यमानावयवद्रव्यस्य बहिरवस्थितद्रव्यप्राप्तिः । दृष्टं कलशे निषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शग्रहणम्, न हि गुणस्यास्वतन्त्रस्य[1] गुणिनमन्तरेण बहिर्निर्गमनं[2] युक्तमिति । तत्र परिस्पन्दः तिर्यग्गमनं परिस्रवः पात इति । ३।१।४८।।

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात । इतरधर्म इतरत्र प्रसज्यते[3], इतरधर्मश्चेतरत्र। यद्यविघातः चक्षूरश्मेः स्फटिकादिभिः कुड्यादिभिरपि प्राप्नोति, कुड्यादिभिर्वा प्रतीघातः स्फटिकादिभिरपि प्राप्नोति । ३।१।४९।

नहीं, एक दूसरे के धर्म का प्रसङ्ग होने से । ३।१।४९।।

काच, अभ्रपटल आदि के समान दीवार आदि से प्रतिघात न होना चाहिये अथवा दीवार आदि के समान काच, अभ्रपटल आदि से भी प्रतिघात होगा, यह प्रसङ्ग होता है । नियम में कारण कहना होगा । ३।१।४९।।

अन्दर रक्खे हुए द्रव्य की छिद्रयुक्त द्रव्य के बाहर स्थिति । घड़े में रक्खे जल का बाहर शीतस्पर्श का ग्रहण देखा गया है, वस्तुतः गुण जो गुणी से स्वतन्त्र नहीं, उसका बाहर निकलना युक्त नहीं । यहाँ परिस्पन्द का अभिप्राय है तिरछा निकलना और परिस्रव का अभिप्राय है गिरना । ३।१।४८।।

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् (यह सूत्र है) । दूसरे का धर्म दूसरे में प्राप्त होता है । और अन्य का धर्म अन्य में । यदि चक्षु की किरण का स्फटिक आदि से विघात नहीं होता तो दीवार आदि से भी (अविघात) प्राप्त होता है अथवा दीवार आदि से प्रतिघात होता है तो स्फटिक आदि से भी प्राप्त होता है । ३।१।४९।।

दृष्टं कलशे—इससे स्पष्ट किया गया है कि जल निकलने से भी घटनाश नहीं होता है ।

गुणस्यास्वतन्त्रस्य—गुण तो गुणी के अधीन रहता है, वह स्वतन्त्र नहीं । जब घट के बाहर शीतस्पर्श प्रतीत होता है तो जल निकलता है इसीसे शीतस्पर्श बाहर प्रतीत होता है ।

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात्—यह आक्षेप सूत्र है । इसका उत्तर अग्रिम सूत्र (५०) में दिया गया है ।

---

१. गुणस्य द्रव्यतन्त्रस्य, पा० । २. बहिर्गमनम्, पा० । ३. प्रयुज्यते, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिन्वत्तदुपलब्धिः ।
।३।१।५०।।

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मो नियमदर्शनात् । प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम् ।

न्यायवार्त्तिकम्

नैष दोषः, आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः । आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स च स्वो भवति नियमात् । कः पुनरयं रूपविशेषः ? द्रव्यान्तरासंयुक्तद्रव्यसमवायः, तस्य वा रूपोपलम्भनसामर्थ्यं स्वो धर्मः । स च स्वभावतः, तस्य या विद्यमानतोदकादिषु तत्स्वाभाव्यम् ।

दर्पण तथा जल के स्वच्छ स्वभाव वाला होने से प्रतिबिम्ब (रूप) की उपलब्धि के समान उस (के पार की वस्तु) की उपलब्धि होती है । ३।१।५०।।

दर्पण तथा जल की स्वच्छता (प्रसाद) रूपविशेष अपना धर्म है, नियमपूर्वक उनमें देखा जाने से । अथवा स्वच्छता (प्रसाद) का अपना धर्म है रूप की उपलब्धि ।

यह दोष नहीं 'आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः (यह सूत्र है) । दर्पण तथा जल में प्रसाद = रूपविशेष है और वह उनका अपना होता है, क्योंकि नियम से (उपलब्ध होता है) । किन्तु यह रूपविशेष क्या है ? अन्य द्रव्य के सम्पर्क से रहित द्रव्य का समवाय, अथवा उसका प्रतिबिम्ब (रूप) की उपलब्धि का सामर्थ्य जो (उसका) अपना धर्म है और वह स्वभाव से है, उसकी जो जल आदि में विद्यमानता है वह (जल आदि का) स्वभाव है ।

प्रसादस्वाभाव्यात्- प्रसाद = रूपविशेष, स्वच्छता । वह आदर्श तथा उदक का स्वभाव है, आदर्श तथा उदक में सदा विद्यमान रहता है ।

प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम्—अथवा प्रसाद का अपना धर्म है, स्वभाव है, रूप की उपलब्धि ।

द्रव्यान्तरसंयुक्तद्रव्यसमवायः— स्वच्छता, द्रव्यान्तरसंयुक्तद्रव्यसमवायः स्वच्छतेत्यर्थः, टी० ५२३। उस स्वच्छता का यह स्वभाव है कि उसमें प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है । प्रतिबिम्ब का ग्रहण कैसे होता है यह आगे दिखलाया जा रहा है ।

तत्स्वाभाव्यम्—वह रूपोपलब्धि का सामर्थ्य आदर्श तथा जल आदि में नियम से रहता है, उसका स्वभाव है अतः यह कहा गया है

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यम् आदर्शरूपानुग्रहात्तन्निमित्तं भवति, आदर्शरूपोपघाते तदभावात् कुड्यादिषु च प्रतिबिम्बग्रहणं न भवति। एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षूरश्मेः कुड्यादिभिश्च प्रतिघातो द्रव्यस्वभावनियमाद् इति। ३।१।५०॥

न्यायवार्त्तिकम्

प्रसादस्वभावत्वाद् आदर्शोदकादिषु नयनरश्मिः प्रतिहन्यते। स च प्रतिहतः प्रतिनिवृत्तौ स्वमुखादिना सम्बध्यते, तस्य चाग्रसम्बन्धाद् यदभिमुखमग्रं तदभिमुखं मुखादि पश्यतीति; यथाग्रतोऽवस्थितस्य पुरुषस्येति। आदर्शमुखग्रहणमनुक्रमेण तदप्याशुभावान्न विभाव्यते आदर्शरूपानुग्रहणात् तदनुरञ्जितः प्रत्ययः। शेषं भाष्ये। ३।१।५०॥

जैसे दर्पण में टकराई हुई (प्रतिहतस्य) लौटी हुई (परावृत्तस्य) नयन की किरण को अपने मुख से सन्निकर्ष होने पर अपने मुख की उपलब्धि होती है जो प्रतिबिम्ब-ग्रहण कहलाती है, वह दर्पण के रूपविशेष की सहायता से उसके निमित्त से होती है क्योंकि दर्पण के रूप के नष्ट हो जाने पर वह नहीं होती और दीवार आदि में भी प्रतिबिम्ब का ग्रहण नहीं होता। इसप्रकार काच, अभ्रपटल आदि के द्वारा चक्षु की किरण का प्रतिघात नहीं होता और दीवार आदि से होता है, यह द्रव्यों के स्वभाव का नियम है (या द्रव्यों का स्वाभाविक नियम है)। ३।१।५०॥

स्वच्छता का स्वभाव होने से दर्पण तथा जल में नयन-किरण टकराती है और टकराकर लौटने पर (वह) अपने मुख आदि से सम्बद्ध होती है। उसके आगे के (भाग में) सम्बद्ध होने से जो सामने का (अभिमुखम्) आगे का भाग है उसके सामने मुखादि को देखता है जैसे आगे स्थित मनुष्य के (हीं)। दर्पण में मुख का ग्रहण क्रम से होता है किन्तु वह भी शीघ्रता से होने के कारण प्रतीत नहीं होता। दर्पण के रूप की सहायता से उससे युक्त प्रतीति होती है। शेष भाष्य में है। ३।१।५०॥

आदर्शोदकादिषु—यहाँ प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का क्रम बतलाया गया है, प्रसङ्गात्प्रतिबिम्बभ्रमोत्पादक्रममाह आदर्शादिष्विति। टीका में 'आदर्शादिषु' यह पाठ है, टी० ५२६।

यथाग्रतोऽवस्थितस्य—कोई भ्रम सारूप्य (सादृश्य) के कारण होता है, अतः सारूप्य दिखलाया गया है, टी०, ५२६।

आदर्शमुखग्रहणम्—यह क्रम से होता है किन्तु शीघ्रता से होने के कारण दर्पण में साथ ही मुख का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है।

आदर्शरूपानुग्रहणात्—शङ्का हो सकती है कि मणि कृपाण आदि में मुख दर्पण जैसा क्यों नहीं दिखलाई देता है इस पर यह कहा गया है।

दृष्टानुमितानां हि नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ।३।१।५१

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात् । न खलु भो परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति, नापि प्रतिषेद्धुमेवं न भवतेति । न हीदमुपपद्यते रूपवद्गन्धोऽपि चाक्षुषो भवत्विति, गन्धवद् वा रूपं चाक्षुषं मा भूद् इति, अग्निप्रतिपत्तिवद् धूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति, उदकाप्रतिपत्तिवद् वा धूमेनाग्निप्रतिपत्ति मा भूद्' इति । किं कारणम् ? यथा खल्वर्था भवन्ति, य एषां स्वो भावः स्वो धर्म इति, तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यन्त इति । तथाभूतविषयकं हि प्रमाणम्, इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

दृष्टानुमितानां हि नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः । प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वाद्-दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्मा यथाभूता भवन्ति तथाभूता एव प्रमाणेन प्रतिपाद्यन्ते । इमौ च भवता नियोगप्रतिषेधौ देशितौ क्व विषये स्याताम्, न चैतद् युक्तम्, नहि यथा धूमेनाग्निप्रतिपत्तिस्तथोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति । न चोदकप्रतिपत्तिर्धूमेन। भवतीत्यग्निप्रतिपत्तिरपि न युक्ता, अर्थान् नियुञ्जानो भवान् उपेक्षणीयः

(प्रत्यक्ष से) देखे गये तथा अनुमान से जाने गये (अर्थों में) नियोग एवं प्रतिषेध नहीं बनता ।३।१।५१।।

प्रमाण के यथार्थ विषयक होने से । वस्तुतः परीक्षा करने वाले के द्वारा (प्रत्यक्ष से) देखे गये एवं अनुमान से जाने गये अर्थों को इसप्रकार नियुक्त या प्रतिषिद्ध नहीं किया जा सकता कि ऐसे हो जायें अथवा ऐसे न होवें । यह युक्तियुक्त नहीं कि रूप के समान गन्ध भी चक्षु द्वारा ग्राह्य हो जाये अथवा गन्ध के समान रूप भी चक्षु-ग्राह्य न हो । इसीप्रकार अग्नि के ज्ञान के समान धूम से जल का ज्ञान भी हुआ करे अथवा जल का ज्ञान न होने के समान धूम से अग्नि का ज्ञान भी न हुआ करे । क्या कारण है ? वस्तुतः जिसप्रकार के अर्थ हैं जो इनका भाव है अथवा अपना धर्म है वैसे ही प्रमाण से जाने जाते हैं विषय के अनुसार ही प्रमाण होता है ।

'दृष्टानुमितानां हि नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः' (यह सूत्र है) । प्रमाण के यथार्थ के विषय में होने से—वस्तुतः प्रत्यक्ष से देखें गये एवं अनुमान से जाने गये ये द्रव्य के धर्म जिसप्रकार के होते हैं उस प्रकार के ही प्रमाण से बतलाये जाते है । फिर आपके द्वारा कहे गये ये विधि और निषेध 'ऐसे हों' यह विधि है 'ऐसे न हों' यह निषेध है) किस विषय में होंगें ? और यह युक्त नहीं कि जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान होता है वैसे ही जल का ज्ञान भी होवे और धूम से जल का ज्ञान नही होता अतः अग्नि का ज्ञान होना भी युक्त नहीं । अर्थों को नियुक्त करते हुए आप उपेक्षा के योग्य हैं ।

तथाभूतविषयकं हि प्रमाणम्— (भा०) वस्तुतः जैसी वस्तु होती है वैसी ही प्रमाण से जानी जाती है । प्रमाण विषय के अनुसार ही होता है ।

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात्—प्रमाण के तत्त्वविषयक होने से । इस वार्तिक का भी उपर्युक्त अभिप्राय है ।

न्यायभाष्यम्

इमौ खलु नियोगप्रतिषेधौ भवता देशितौ काचाभ्रपटलादिवद् वा कुड्यादिभिरप्रतिघातो भवतु, कुडयादिवद् वा काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघातो मा भूद्, इति । न, दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः प्रतिघाताप्रतिघातयोर्हुपलपध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके । व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते कुडयादिभिः प्रतिघातः । व्यवहितोपलब्ध्याऽनुमीयते काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति । ३।१।५१॥

न्यायवार्त्तिकम्

प्रतिघाताप्रतिघातयोः खलूपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके—व्यवहितोपलब्ध्यानुमीयते स्फटिकादिभिरप्रतीघातः, व्यवहितानुपलब्ध्या न कुड्यादिभिः प्रतीघात इति । यदि प्राप्यकारि चक्षुर्भवति, अथ कस्माद् अञ्जनशलाकादि नोपलभ्यते ? न, इन्द्रियेणा सम्बन्धात्—इन्द्रियेण सम्बद्धा अर्था उपलभ्यन्ते, न चाञ्जनशलाकादि इन्द्रियेण सम्बद्धम् अधिष्ठानस्यानिन्द्रियत्वात्—रश्मिरिन्द्रियं नाधिष्ठानं रश्मिनाऽञ्जनशलाका सम्बद्धेति ।३।१।५१॥

ये नियोग (विधि) तथा प्रतिषेध (निषेध) आपने कहें हैं कि काच, अभ्रपटल के समान दीवार आदि से भी (चक्षु-किरण की) रुकावट (प्रतिघात) न हुआ करे अथवा दीवार आदि के समान काच एवं अभ्रपटल आदि से भी रुकावट हुआ करे। यह ठीक नहीं, वस्तुनः प्रत्यक्ष से देखे गये एवं अनुमान से जाने गये ये द्रव्य के धर्म हैं, क्योंकि प्रतिघात एवं अप्रतिघात की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि निश्चायक है, व्यवहित की अनुपलब्धि से अनुमान किया जाता है कि दीवार आदि के द्वारा (चक्षु-किरण का) प्रतिघात होता है, व्यवहित की उपलब्धि से अनुमान किया जाता है कि काच एव अभ्रपटल आदि से प्रतिघात नहीं होता ।३।१।५१।

प्रतिघात तथा अप्रतिघात की निश्चायक वस्तुतः उपलब्धि एव अनुपलब्धि है व्यवहित की उपलब्धि से अनुमान किया जाता है कि स्फटिक आदि से प्रतिघात नहीं होता और व्यवहित की अनुपलब्धि से दीवार आदि के द्वारा प्रतिघात होता है । (प्रश्न) यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो अञ्जन एवं शलाका क्यों नहीं उपलब्ध होते। (उत्तर) नहीं, इन्द्रिय से सम्बन्ध न होने के कारण—इन्द्रिय से सम्बद्ध अर्थ उपलब्ध होते हैं और अञ्जन, शलाकादि इन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं अधिष्ठान के इन्द्रिय न होने से—(वस्तुतः) नयन-किरणें इन्द्रियां हैं उनके गोलक नहीं, नयन किरण से (तो) अञ्जन शलाका सम्बन्ध नहीं रखती ।३।१।५१।

नियोगप्रतिषेधौ—यह वस्तु ऐसी ही हो यह नियोग है, ऐसी न हो, यह प्रतिषेध है।

प्रतिघाताप्रतिघातयो व्यवस्थापिके—किसी वस्तु की उपलब्धि या अनुपलब्धि से उसके होने या न होने का निश्चय होता है।

व्यवहितोपलब्ध्या•••इति—काच आदि से व्यवहित की उपलब्धि होती है, किन्तु दीवार आदि से नहीं, इससे ज्ञात होता है कि काच आदि से नयनकिरणों का प्रतिघात नहीं होता किन्तु दीवार आदि से हो जाता है।

यदि प्राप्यकारि—यह शङ्का है, जिसका समाधान 'न' आदि से है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

(इन्द्रियैकत्वपरीक्षा)

अथापि खल्वेकमिन्द्रियं बहूनीन्द्रियाणि वा। कुतः संशयः ?

स्थानान्यत्वे नानात्वाद् अवयविनानास्थानात्वाच्च संशयः ३।१।५२

बहूनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते। नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी चेति। तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति ।३।१।५२।।

न्यायवार्त्तिकम्

एवं तावद् भौतिकानीन्द्रियाणीति समर्थितम्। किं पुनरेकमिन्द्रियमाहोऽनेकमिति ? एके तु 'स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानात्वाच्च संशयः'। एके तु स्थानान्यत्वे नानात्वं दृष्टं यथा बहूनां घटानामिति, एकस्य च नानास्थानत्वं यथाऽवयविन इति। अनुपपन्नरूपश्चायं संशयः। कथमिति ?

इन्द्रियैकत्वपरीक्षा, वस्तुतः इन्द्रिय एक है अथवा बहुत सी इन्द्रियां हैं ? यह संशय क्यों है ?

भिन्न-भिन्न स्थान पर रहने वालों के पृथक् होने से तथा एक अवयवी के नाना स्थानों पर होने से संशय होता है ।३।१।५२।।

बहुत से द्रव्य नाना स्थानों पर (रहते) देखे जाते हैं और एक ही अवयवी भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है। अतः भिन्न स्थान वाली इन्द्रियों में संदेह होता है ।३।१।५२।।

इसप्रकार पहले इन्द्रियां भौतिक हैं, यह सिद्ध कर दिया। (अब प्रश्न है) क्या इन्द्रिय एक है अथवा अनेक ? कोई तो 'स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानात्वाच्च संशयः (यह सूत्र है)।

कोई तो (कहते हैं) स्थान के अन्य होने पर भिन्नता देखी गई है जैसे बहुत से घटों में और एक का भिन्न स्थानों में होना भी जैसे अवयवी का (वह एक होते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में होता है)। यह संशय बनता नहीं, क्यों ?

इन्द्रियैकत्वपरीक्षा—इन्द्रियों की भौतिकता की परीक्षा करने के पश्चात् अब इन्द्रियां एक हैं या अनेक यह निर्णय किया जाना है। भाष्यकार संशय का कारण बतलाते हैं कि बहूनि द्रव्याणि··· नानास्थानश्च (ऊपर भाष्य)।

भिन्नस्थानेषु—भिन्न स्थान वाली, यह इन्द्रियेषु का विशेषण है, भिन्नानि स्थानानि येषाम्।

एके तु—कुछ व्याख्याकार सूत्र की इसप्रकार व्याख्या करते हैं, उनकी व्याख्या का दोष दिखलाकर वार्त्तिककार ने भाष्य की व्याख्या का समर्थन किया है—तत्र केचिदिदं सूत्रं भाष्यमतानपेक्षं यथाश्रुति व्याचक्षते। तद्दूषणपुरस्सरं भाष्यव्याख्यानं ग्रहीतुं यथाश्रुति व्याख्यानं परेषां सूत्रपाठपूर्वकाम् उपन्यस्यति एके त्विति (३८५.१३)।

स्थानान्यत्वे—सूत्र का अर्थ है जब वस्तुएं भिन्न-२ स्थानों पर होती है तब भिन्न-२ होते है जैसे घट और पट एक वस्तु भी भिन्न स्थानों पर होता है जैसे अवयवी।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि तावदेव क्रियते स्थानान्यत्वे नानात्वैकत्वदर्शनादिति । तदैकत्वे स्थानान्यत्वस्या[1] दर्शनान्न समानधर्मः । अथ नानास्थानत्वे सत्येकानेकत्वदर्शनात् संशय इति ? तदा द्रव्यं नानास्थानमनेक न किञ्चिद् दृष्टमिति न समानधर्मत्वम्, यद् घटाद्यनेकं तन्न नानास्थानम्, अपितु स्थानान्यत्वं[2] तस्य । सोऽयं संशय उभयथानुपपन्न इन्द्रियेषु । स्थानेषु तु युक्तः 'किं नानास्थानानि उत नानास्थानम् ? इन्द्रियेषु तु नस्थाननानात्वात् संभवति, न च नानास्थानत्वादिति । शरीरव्यतिरेकित्वात् सत्वाच्च संशयः—शरीर-व्यतिरिक्तमुभयथा दृष्टमेकमनेकं च यथाकाशं घटादि च । सच्चोभयथा दृष्टमेकमनेकं च । तदेवमुभयथेन्द्रियेषु[3] शरीरव्यतिरेकः सत्त्वं च, तेन सन्दिह्यते ।३।१।५२।।

यदि तो इसप्रकार किया जाता है 'स्थानान्यत्वे नानात्वैकत्वदर्शनाद् इति' । तब (क) एक होने पर स्थानों की भिन्नता न देखने से समान धर्म नहीं बनता । (ख) यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक तथा अनेक होना देखा जाने से संशय होता है तब तो भिन्न-भिन्न स्थानों वाला द्रव्य अनेक होता हुआ कोई नहीं देखा गया, अतः समान धर्म नहीं । जो घटादि अनेक हैं वह नाना स्थानों में नहीं अपितु उसके स्थान अन्य हैं । वह यह संशय इन्द्रियों में दोनों प्रकार नहीं बनता । स्थानों में तो युक्त है । क्या भिन्न-भिन्न स्थानों में (इन्द्रियां) है, अथवा भिन्न-भिन्न स्थानो पर (एक ही इन्द्रिय) है । इन्द्रियों में न स्थानों की भिन्नता से हो सकता है और न ही भिन्न-भिन्न स्थानों के होने से । शरीर से भिन्न होने से तथा सत् होने से संशय होता है । शरीर से भिन्न दोनों प्रकार देखा जाता है एक भी अनेक भी, जैसे आकाश (एक है) और घटादि (अनेक हैं) और सत् भी दोनों प्रकार देखा जाता है एक भी अनेक भी तो इस प्रकार इन्द्रियों में दोनों हैं शरीर से भिन्नता और सत्ता । इससे संदेह होता है ।

३।१।५ ।।

स्थानान्यत्वे नानात्वै :—स्थान की अन्यता ही स्थानान्यत्व है, नानास्थानम् का अर्थ है नाना स्थान है जिसके, यह स्थानान्यत्व से भिन्न है । स्थानान्यत्वे यह निमित सप्तमी है । टी० ५२७ ।

उभयथाऽनुपपन्नः—स्थानान्यत्वेन, नानास्थानत्वेन चेत्यर्थः टी ५२७ ।

इन्द्रियेषु तु—किन्तु इन्द्रियों के विषय में संशय होता है, किन्त्विन्द्रियविषयो नानात्वादेव संशयः भाष्य-कारीयः साधीयान्' इत्यर्थः, टी० ५२८ ।

शरीरव्यतिरेकित्वाद् इत्यादि—वार्त्तिककार का अपना मत है, वार्त्तिककार स्वालक्षण संशय बी जमाह, शरीरव्यतिरेकित्वादित्यादि । टी० ५२८ । यहां वार्त्तिककार ने दो संशय के बीज बतलाये हैं । १. शरीरव्यतिरेकित्व २. सत्त्व ।

---

१. स्थाननानात्वस्या, पा० । २. स्थाननानात्वं, पा० । ३. उभयमिन्द्रियेषु, पा० ।

न्यायसूत्र भाष्यं च

एकमिन्द्रियम्,

त्वगव्यतिरेकात् ३।१५३

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह । कस्मात् ? अव्यतिरेकात् न त्वचा किञ्चिद् इन्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तम्, न चासत्यां त्वचि किञ्चिद् विषयग्रहणं भवति । यथा सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि, यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति सा त्वगेकमिन्द्रियमिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

एकमिन्द्रियम्, किं पुनस्तत् ? त्वगव्यतिरेकात् । कः पुनरयमव्यतिरेकः ? सर्वाधिष्ठानसम्बन्धः—नहि न किञ्चिद् इन्द्रियं न त्वचा प्राप्तम् । सति भावो वा—नह्यसत्यां त्वचि किञ्चिद् अर्थग्रहणं भवति[1] । तस्मात् त्वगेकमिन्द्रियम् ।

इन्द्रिय एक है ।

त्वचा एक इन्द्रिय है सब में सम्बन्ध होने से ।३।१५३।।

त्वचा एक इन्द्रिय है, यह कहते हैं । क्यों ? सब में सम्बन्ध होने से—त्वचा से कोई इन्द्रिय का स्थान (इन्द्रियाधिष्ठानम्) प्राप्त नहीं, ऐसा नहीं अथवा त्वचा के न होने पर किसी विषय का ग्रहण नहीं होता । जिससे सब इन्द्रियों के स्थान व्याप्त हैं अथवा जिसके होने पर विषय का ग्रहण होता है वह त्वचा (ही) एक इन्द्रिय है ।

एक इन्द्रिय है । किन्तु वह कौन सी है । (इस पर सूत्र है) 'त्वगव्यतिरेकात्' (प्रश्न) यह अव्यतिरेक क्या है ? (उत्तर)' सब (इन्द्रियों) के स्थानों (सर्वाधिष्ठान) से सम्बन्ध—वस्तुतः कोई इन्द्रिय त्वचा से न प्राप्त हो, ऐसा नहीं । अथवा होने पर होना—त्वचा के न होने पर किसी अर्थ (पदार्थ) का ग्रहण नहीं होता । इसलिये त्वचा (ही) एक इन्द्रिय है ।

सर्वाधिष्ठानसम्बन्धः— यह अव्यतिरेक का अभिप्राय है । अव्यतिरेकात् तस्मात् न्यायवृत्ति । टादि को प्राप्त होने वाली चक्षुरिन्द्रिय त्वचा से भिन्न है, इस शङ्का के समाधान के लिये 'अव्यतिरेकात्' का दूसरा अर्थ किया गया है ।

सति भावो वा—यहां च (और) वा (विकल्प) के अर्थ में है, टी० ५२८ । इससे 'यस्यां च' सत्याम् इस भाष्य की व्याख्या कर दी गई है ।

तस्मात्—यहां त्वचा ही एक इन्द्रिय है, इसका उपसंहार किया गया है ।

---

१. किञ्चिद् विषयग्रहणं सम्भवति, पा० ।

न्यायभाष्यम्

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः—स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियार्था रूपादयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः। न स्पर्श-ग्राहकादिन्द्रियादिन्द्रियान्तरमस्ति' इति स्पर्शवद् अन्धादिभिर्गृह्येचरन् रूपादयः, न च गृह्यन्ते। तस्मान् नैकमिन्द्रियं त्वगिति।

न्यायवार्त्तिकम्

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेरति लोकविरोधः—एकमिन्द्रियमिति ब्रुवाणो लोकं विरुणद्धि, विद्यमाने त्वगिन्द्रिये स्पर्शोपलब्धिप्रसङ्गः, इन्द्रियान्तरार्था रूपादयोऽन्धादि-भिरुपलभ्येरन् न तूपलभ्यन्ते। तस्मान्नैकम् इन्द्रियमिति। यदप्यव्यतिरेकाद् इति ? तदपि न, अनेकान्तात्——अनेकेन चानिन्द्रियेण सर्वाणीन्द्रियाधिष्ठानानि पृथिव्यादिना प्राप्तानीत्यनेकान्तः।

नहीं, अन्य इन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि न होने से–स्पर्श की उपलब्धि करने वाली त्वचा के होने पर, त्वग् इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर अन्धे आदि को (अन्य) इन्द्रियों के विषय रूप आदि का ग्रहण नहीं होता, स्पर्श का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय तो है नहीं, फिर स्पर्श के समान अन्धे आदि को रूपादि का ग्रहण होना चाहिये किन्तु होता नहीं। इसलिये एक (ही) इन्द्रिय त्वचा नहीं है।

अन्य इन्द्रिय के विषय की उपलब्धि न होने से लोक का विरोध होता है—एक इन्द्रिय है यह कहने वाला लोक का विरोध करता है; क्योंकि त्वचा इन्द्रिय के होने पर स्पर्श की उपलब्धि होगी अतः अन्धे आदि को अन्य इन्द्रियों के विषय रूप आदि का ग्रहण होना चाहिये, किन्तु होता नहीं, इसलिये एक इन्द्रिय नहीं। जो कहा गया है, अव्यतिरेकात्। वह भी (ठीक) नहीं, सव्यभिचार (अनेकान्त) होने से —अनेक इन्द्रिय भिन्न पृथिवी आदि से (भी) सब इन्द्रियों के स्थान व्याप्त हैं अतः (यह हेतु) सव्यभिचार है।

लोकविरोध—:इसका अभिप्राय यथाश्रुत ही प्रतीत होता है लोक में अन्धे को त्वचा होते हुए भी दिखाई नहीं देता। वाचस्पति मिश्र के अनुसार लोक्यते ज्ञायतेऽनेनेति लोकः प्रमाणं तद्विरोधः इत्यर्थः, टी० ५२८।

अनेकान्तात्—सव्यभिचारात्। यहाँ पूर्वपक्ष की मुख्य युक्ति 'अव्यतिरेकात्' का निराकरण किया है। अनिन्द्रिय पृथिवी आदि से भी इन्द्रियों के अधिष्ठान व्याप्त हैं (क्योंकि शरीर पार्थिव है तथा अन्य भूतों से भी संपृक्त है) अतः पृथिवी आदि का भी चक्षुः आदि में प्रभाव होना चाहिये, किन्तु होता नहीं। द्रष्टव्य टीका ५२८। (यह अनेकान्तता ठीक से समझ में नहीं आई)।

न्यायभाष्यम्

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः—यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चिच्चक्षुषि सन्निकृष्टो धूमस्पर्शं गृह्णाति नान्यः एवं त्वचोऽवयवविशेषा रूपादिग्राहकास्तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादय इति।

न्यायवार्त्तिकम्

त्वयवोपघाताद् इति चेत् अथ भवेद् एतत् त्वगवयवः कश्चिद् उपहतो भवति तदुपघाताद् अन्धादिभिर्नोपलभ्यन्ते[1] रूपादय इति; यथा त्वगवयवविशेषेणैव धूमोपलब्धि यश्चक्षुषि त्वगवयवविशेषस्तदुपघाताद् धूमस्पर्शानुपलब्धिरिति[2]।

(शङ्का) त्वचा के विशेष अवयव से धूम की उपलब्धि के समान उस (रूप, की) उपलब्धि हो जाती है—जिसप्रकार त्वचा के विशेष अवयव कोई चक्षु में स्थित (सन्निकृष्ट) है जो धूम के स्पर्श का ग्रहण कर लेता है, अन्य नहीं, इसीप्रकार त्वचा के विशेष अवयव रूप आदि के ग्राहक होंगें। उनके नष्ट हो जाने से अन्धे आदि को रूप आदि का ग्रहण नहीं होता।

(शङ्का) यदि (कहो कि) त्वचा के अवयव के नष्ट हो जाने से (अन्धे को रूपादि की उपलब्धि नहीं)—यदि यह है कि त्वचा का कोई अवयव नष्ट हो जाता है, उसके नष्ट हो जाने से अन्धे आदि के द्वारा रूप आदि की उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि त्वचा के अवयव विशेष से ही धूम की उपलब्धि होती है, जो चक्षु में अवयव विशेष है उसके नष्ट होने से धूम के स्पर्श की अनुपलब्धि होती है।

त्वगवयवविशेषेण—यह पूर्वपक्ष की उक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार त्वचा के विशेष अवयव चक्षु आदि हैं उन्हीं से धूम आदि की उपलब्धि होती है, जो चक्षु में त्वचा का विशेष अवयव है उसके नष्ट हो जाने से धूम आदि की उपलब्धि नहीं होती, इसीप्रकार त्वचा के विशेष अवयव से रूप आदि की उपलब्धि होगी। इसका समाधान आगे किया जा रहा है।

अवयवोपघातात्—यहाँ भाष्य के कथन को स्पष्ट किया गया है। त्वचा के विशेष अवयव से ही रूपादि की उपलब्धि होती है, किन्तु विशेष अवयव के नष्ट हो जाने पर अन्धे आदि को रूप की उपलब्धि नहीं होती। चक्षु आदि इन्द्रियाँ त्वचा का ही विशेष अवयव हैं, उनके नष्ट हो जाने पर रूप आदि का दर्शन नहीं होता।

धूमस्पर्शानुपलब्धि—यहाँ तक उसी शङ्का का उपसंहार किया गया है, इसका समाधान आगे किया जा रहा है।

---

१. नोपपद्यन्ते, पा०। २. धूमस्पर्शानुपलब्धेरिति, पा०।

न्यायभाष्यम्

व्याहतत्वाद् अहेतुः—त्वगव्यतिरेकाद् एकमिन्द्रियमित्युक्त्वा त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवद् रूपाद्युपलब्धिः' इत्युच्यते। एवञ्च सति नानाभूतानि विषय ग्राहकाणि विषयव्यवस्थानात, तद्भावे विषयग्रहणस्य भावात् तदुपघाते चाभावात्। तथा च पूर्वो वाद उत्तरेण वादेन व्याहन्यते' इति।

न्यायवार्त्तिकम्

न व्याघातात्—त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवद् रूपाद्युपलब्धिरिति ब्रुवता यदुक्तम् 'एकमिन्द्रियमिति तद् व्याहतं भवति प्रागेकमिन्द्रियं त्वगित्युपगम्य 'इदानीं त्वगवयव-विशेषा रूपादिग्राहकाः' इति ब्रुवाणः प्रतिषेध्यमभ्यनुजानाति, न ह्यवयव्यनतिरिक्ता अवयवा इति।

(समाधान) परस्पर-विरुद्ध होने से यह हेतु नहीं—त्वचा का अभेद होने से इन्द्रिय एक है यह कहकर (प्रतिज्ञा करके) त्वचा के विशेष अवयव से धूम की उपलब्धि के समान रूप आदि की उपलब्धि होती है, यह कहा जाता है। और ऐसा होने पर रूपादि विषयों के ग्राहक पृथक्-पृथक् (नानाभूतानि) हैं क्योंकि विषयों की व्यवस्था है, उनके होने पर विषय का ग्रहण होता है, उनके नष्ट हो जाने पर विषय के ग्रहण का अभाव होता है। इसप्रकार पूर्व वाद (एक इन्द्रिय है) का उत्तर के वाद से विरोध होता है।

(समाधान) नहीं, व्याघात होने से—त्वचा के विशेष अवयव से धूम की उपलब्धि के समान रूप आदि की उपलब्धि होती है, यह कहने वाले ने जो कहा है कि 'इन्द्रिय एक है' उसका विरोध होता है—पहले एक इन्द्रिय है त्वचा, यह स्वीकार करके अब त्वचा के विशेष अवयव रूप आदि के ग्राहक हैं; यह कहने वाला प्रतिषिद्ध (प्रतिषेध्यम्) को स्वीकार कर लेता है, क्योंकि अवयवी से भिन्न अवयव नहीं होते।

व्याहतत्वादहेतुः—'त्वगव्यतिरेकात्' इस सूत्र में त्वक् को ही एक इन्द्रिय कहा था, अब त्वचा के विशेष अवयव से रूपादि का दर्शन होता है, यह कहते हैं। इसे पूर्व का विरोधी वाद कहा जा सकता है।

न व्याघातात्—वार्त्तिककार ने भी भाष्योक्त व्याघात को स्पष्ट किया है।

प्रतिषेध्यमभ्यनुजानाति—जिसका प्रतिषेध किया जाता है वह प्रतिषेध्य है, उसको ही स्वीकार रकता है। त्वक् अवयवी है चक्षु आदि उसके अवयव हैं अवयव तो अवयवी से भिन्न नहीं होता।

न्यायभाष्यम्

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेकः—पृथिव्यादिभिरपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि । न च तेष्वसत्सु विषयग्रहणं भवतीति । तस्मान्न त्वगन्यद् वा सर्वविषयम् एकमिन्द्रियमिति । ३।१।५३॥

न्यायवार्त्तिकम्

यांश्चावयवान् रूपादिग्राहकान् त्वचो मन्यन्ते 'ते किम् इन्द्रियात्मका उत नेति ? किं चातः ? यदि 'इन्द्रियात्मकाः ? नैकमिन्द्रियम् । अथेन्द्रियात्मका न भवन्ति, न तर्हीन्द्रियग्राह्या रूपादय इति । ३।१।५३॥

भेद न होना (अव्यतिरेकः) भी सन्दिग्ध है—पृथिवी आदि भूतों के द्वारा भी इन्द्रियों के अधिष्ठान (स्थान) व्याप्त हैं और उनके न होने पर विषय का ग्रहण नहीं होता । इसलिये त्वचा या अन्य कोई सब वि.यों का ग्रहण करने वाली एक इन्द्रिय नहीं । ३।१।५३॥

और त्वचा के जिन अवयवों को रूपादि का ग्राहक मानते हो, वे क्या इन्द्रियात्मक (इन्द्रिय रूप) हैं अथवा नहीं ? इससे क्या होगा ? यदि वे इन्द्रियात्मक हैं तो एक इन्द्रिय नहीं रहा, यदि वे इन्द्रियात्मक नहीं है तब रूपादि इन्द्रियग्राह्य नहीं होंगे । ३।१।५३॥

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेक.—अव्यतिरेक में भी सन्देह है : अव्यतिरेकात्, जो हेतु दिया है वह सन्देहयुक्त है सन्दिग्ध है । जैसा कि आगे दिखलाया जा रहा है सगुणानामिन्द्रियभावत्' (३.१.७०) में दिखलाया गया है (उत्तरवर्ती न्या० वै० भी यही मानता है) कि अपने गुण के साथ ही घ्राणादि इन्द्रिय कहलाती है । पृथिवी आदि भूतों से घ्राणादि का अधिष्टान्त व्याप्त है । इनकी गन्ध से युक्त घ्राणादि इन्द्रिय है तभी ये अपने अपने विषय ग्रहण करती हैं । अतः त्वचा या कोई घ्राणादि एक इन्द्रिय नहीं ।

अव्यतिरेकः—त्वचा से अभिन्न चक्षु आदि है, इसमें सन्देह है । सन्दिग्धा—असिद्ध में यही सन्देह होता है ।

यांश्चावयवान्—वार्त्तिककार ने इस सन्देह को दूसरे प्रकार से दिखलाया है । भाव यह है कि त्वच के जो अवयव रूपादि का ग्रहण करते हैं वे इन्द्रिय रूप हैं या नहीं । यदि वे इन्द्रिय रूप हैं तो एक इन्द्रिय कहाँ रही । यदि वे इन्द्रिय रूप नहीं तो रूपादि इन्द्रियग्राह्य नहीं । इसप्रकार दोनों ही अवस्थाओं में चक्षु आदि इन्द्रियाँ त्वचा के ही अवयव हैं, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता । अतः इन्द्रिय एक नहीं हो सकती ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न युगपदर्थानुपलब्धेः ।३।१।५४

आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निकृष्ट-मिति आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद्ग्रहणानि स्युः । न च युगपद् रूपादयो गृह्यन्ते । तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयमस्ति' इति । असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकम् । साहचर्ये हि विषयग्रहणानाम् अन्धाद्यनुपपत्तिरिति । ३।१।५४।।

न्यायवार्त्तिकम्

सूत्रेण चाभिसम्बन्धः, 'न युगपदर्थानुपलब्धेः' । यस्यैकमिन्द्रियं तस्य युगपदर्था-नामुपलब्धिः प्रसज्यते । कथमिति ? आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निहितैरिति, आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपदुपलब्धयः प्रादुः स्युः' इति ।

(ठीक) नहीं, एक साथ विषयों (अर्थों) की उपलब्धि न होने के कारण ३।१।५४।।

आत्मा का मन से सम्बन्ध होता है, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय सब विषयों (अर्थों रूप आदि) से सन्निकृष्ट होता है । अतः आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा अर्थों के सन्निकर्ष से एक साथ विषयों का ग्रहण होगा । किन्तु (च) विषयों (रूपादि) का ग्रहण एक साथ नहीं होता । इसलिये एक इन्द्रिय नहीं है जिसके सभी (रूपादि) विषय हों (सर्वविषयम्) । और विषय-ग्रहणों के साथ न होने से एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण करने वाली नहीं है । यदि विषयों का ग्रहण साथ-साथ होता तो कोई अन्धा आदि न होगा । ३।१।५४।।

सूत्र से सम्बन्ध यह है 'न युगपदर्थानुपलब्धेः' (यह सूत्र है)। जिसके मत में एक इन्द्रिय है उसके मत में एक साथ अर्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है । कैसे ? आत्मा का मन से सम्बन्ध होता है, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का सभी उपस्थित विषयों से अतः आत्मा मन इन्द्रिय तथा अर्थों के सन्निकर्ष से एक साथ उपलब्धियाँ प्रादुर्भूत होंगी ।

युगपदर्थानुपलब्धेः—एक इन्द्रिय नहीं, एक साथ अनेक अर्थों की उपलब्धि न होने से, यह सिद्धान्त सूत्र है । भाष्य में दिखलाया गया है कि एक साथ अर्थों की उपलब्धि कैसे प्राप्त होती है ।

इन्द्रियं सर्वार्थैः—एक ही इन्द्रिय नहीं अपितु सभी की शक्तियाँ अपने-अपने अर्थों से सन्निकृष्ट होगीं अतः एकसाथ अनेक अर्थों की उपलब्धि होगी ।

असाहचर्याच्च विषयग्रहणानाम्—विषयों (अर्थों) का ग्रहण एकसाथ नहीं होता ।

सूत्रेण चाभिसम्बन्धः—वार्त्तिककार के द्वारा भाष्य की व्याख्या कर देने के पश्चात् सूत्र से सिद्धान्त का सम्बन्ध दिखलाया गया है । सूत्रेण चाभिसम्बन्धः सिद्धान्तस्य, टी० ५२९ ।

न्यायवार्त्तिकम्

नैकेन्द्रियग्राह्याणां युगपदुपलब्धिप्रसङ्गात्—यथैकेन्द्रियवादिनो युगपदनेकार्थसन्निधाने[1] सति युगपदुपलब्धिर्दोषो भवति तथानेकेन्द्रियवादिनोऽपि एकेन्द्रियग्राह्येषु युगपदुपलब्धिप्रसङ्गः। य एवात्र परिहारः स एव ममापि भविष्यति' इति। अथायमदुष्टः पक्षः? अदेश्यं तर्ह्येतद् युगपद् उपलब्धिप्रसङ्ग इति।

अत्र केचित् परिहारं वर्णयन्ति बुभुत्साभेदान्न युगपदउपलब्धिरिति । यथाप्येवम्—यदि बुभुत्साभेदान्न युगपद् उपलब्धिर्लभ्यते ममापि न बुभुत्साभेदो दण्डवारित इति। सत्यां च बुभुत्सायामयुगपद् उपलब्धौ न्यायोऽन्योऽवधारणीय इति।

करणत्वादित्यन्ये—अन्ये तु ब्रुवते परिहारं करणत्वादिति—करणस्य किलायं धर्मः अधिष्ठतमप्यनेकां युगपत् क्रियां न शक्नोति कर्तुम्, अनधिष्ठितं च न प्रवर्तते इति तुल्यम्—

यह (आक्षेप) ठीक नहीं कि एक इन्द्रिय से ग्राह्यों (अर्थों) की एक साथ उपलब्धि होने लगेगी—जिसप्रकार एक इन्द्रिय मानने वाले के मत में एक साथ अनेक विषयों (अर्थों) की उपस्थिति होने पर एक साथ अनेक विषयों की उपलब्धि होने का दोष होता है, उसीप्रकार अनेक इन्द्रिय मानने वाले के भी एक इन्द्रिय से ग्राह्य विषयों में एक साथ उपलब्धि होने का प्रसङ्ग होता है, जो यहाँ परिहार है। वही मेरे (मत में) भी होगा। यदि यह दोषरहित पक्ष है तो एक साथ उपलब्धि होने का प्रसङ्ग नहीं कहना चाहिये।

इस विषय में कोई परिहार करते है 'जानने की इच्छा के भेद से एक साथ उपलब्धि नहीं होती। मेरे मत में भी ऐसा ही है जानने की इच्छा का भेद दण्ड से रोका गया नहीं। जानने की इच्छा होने पर (भी) उपलब्धि न होने का अन्य नियम (न्याय) कहना होगा।

दूसरे (कहते है) कि इन्द्रिय के कारण होने से—दूसरे तो परिहार कहते हैं कि इन्द्रियों के कारण होने से (एक साथ उपलब्धि नहीं होती)—निश्चय ही करण का यह धर्म है कि जो उसके क्षेत्र में हैं (अधिष्ठित) उनमें भी एक साथ अनेक क्रिया नहीं कर सकता और जो उसके क्षेत्र में नहीं उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यह समान ही है

नैकेन्द्रियग्राह्याणाम्—यहाँ तक वार्त्तिककार ने भाष्य की दृष्टि से सूत्र की व्याख्या की है। इस व्याख्या में दोष दिखलाते हुए कहा है, तदेतद् व्याख्यानं दूषयति, नैकेन्द्रियग्राह्याणामिति, टी० ५२९।

एकेन्द्रियग्राह्येषु—जो अर्थ एक इन्द्रिय के ग्राह्य विषय हैं उनकी एक साथ उपलब्धि होगी।

अदेश्य तर्ह्येतत्—तब तो एक साथ उपलब्धि होने का प्रसङ्ग नहीं कहना होगा।

बुभुत्साभेदात्—उपर्युक्त दोष के दो परिहार किये है। १. बुभुत्साभेदात्, २. करणत्वात्।

---

१. सम्बन्धे सति, पा०।

यस्याप्येकमिन्द्रियं तस्यापि करणत्वं न निवार्यते[1] इति ? तस्माद् युगपदर्थानुपलब्धिरित्यदोषोऽयमिति । एवं ब्रुवाण एकेन्द्रियवादी विकल्प्य पर्यनुयोज्यः, 'यत्तदेकमिन्द्रियं सर्वार्थमिति मन्यसे तत् किं प्राप्यकार्याहो न' इति, किं चातः ? यदि प्राप्यकारि ? किं तदिति वक्तव्यम् । यदि त्वक्, त्वाचा प्राप्तानां रूपाणामग्रहणप्रसङ्गः । अथाप्राप्तं रूपं गृह्णातीति ? स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः । अथ सामिकारीन्द्रियं 'किञ्चित् प्राप्तं गृह्णाति किञ्चिच्चाप्राप्तम् ? एवं सति करणधर्मातिक्रमः । भवतु करणधर्मातिक्रमः किन्नो बाध्यते' इति ? एतस्मिन् पक्षे 'न युगपदुपलब्धिप्रसङ्गाद्' इति सूत्रम्—यथानेकेन्द्रियवादिन[2] एकेन्द्रियग्राह्येषु युगपद् उपलब्धिप्रसङ्गे करणत्वादिति परिहारः सोऽस्य[3] न भवति, करणधर्मातिक्रमात् । व्याहतं चैतत् करणं प्राप्यकार्यप्राप्तकारि चेति । असाहचर्याच्च न त्वक्—साहचर्यं नाम यस्यैक विषयग्रहणं तस्य द्वितीयमपि, इत्यन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गः । ३।१।५४॥

जिसके मत में एक इन्द्रिय है उसके मन में भी इन्द्रिय का करण होना नहीं रोका जाता । अतः एक साथ अर्थों (विषयों) की उपलब्धि न होना, यह दोष नहीं । इसप्रकार कहने वाले एकेन्द्रियवादी से विकल्प करके प्रश्न करना होगा 'जो वह एक इन्द्रिय है जिसे सर्वविषयक मानते हो वह क्या प्राप्यकारी है अथवा नहीं ? और इससे क्या ? यदि वह प्राप्यकारी है तो वह कौन सी है, यह कहना होगा । यदि त्वचा है तो त्वचा से प्राप्त किये रूपों का ग्रहण नहीं होता । यदि (वह) अप्राप्त रूप का ग्रहण करती है तो स्पर्श आदि में भी ऐसा ही प्रसङ्ग होता है । (शङ्का) यदि कहो इन्द्रिय दोनों प्रकार की (सामिकारि=अर्धकारि) है—कुछ प्राप्त का ग्रहण करती है कुछ अप्राप्त का । (समाधान) ऐसा होने पर करण के धर्म का अतिक्रमण होता है । (पूर्वपक्ष) करण के धर्म का अतिक्रमण हो जाये हमारी क्या हानि है । (सिद्धान्त-पक्ष) इस पक्ष में, न युगपदुपलब्धिप्रसङ्गाद्' यह सूत्र है—(क) जैसे अनेक इन्द्रिय मानने वाले के मत में एक इन्द्रिय से ग्राह्यों (विषयों) में एक साथ उपलब्धि प्राप्त होने पर करणत्वात्' यह परिहार है । वह इसके (मत में नहीं); क्योंकि करण के धर्म का अतिक्रमण होता है । (ख) यह परस्पर विरुद्ध भी है कि करण प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी (दोनों) है । किञ्च असाहचर्य से (भी) त्वक् (एक इन्द्रिय) नहीं—साहचर्य का अभिप्राय है जिसका एक विषय का ग्रहण होगा उसका दूसरे का भी । इसप्रकार अन्धे, बहरे आदि का अभाव होने लगेगा । ३।१।५४॥

एवं ब्रुवाण एकेन्द्रियवादी—भाष्य की व्याख्या का दोष दिखलाकर सूत्र की अन्यथा व्याख्या करने के लिये भूमिका बनाते हैं, एवं ब्रुवाण एकेन्द्रियवादी, टी० ५२९ । यहाँ दो विकल्प किये गये है, १. इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं । २. या नहीं ।

अथ सामिकारीन्द्रियम्—सामि का अर्थ है अर्ध, टी० ५२९ । एक ही इन्द्रिय अर्थ को प्राप्त करके ग्रहण करती है, प्राप्त किये बिना भी ग्रहण कर लेती है ।

करणधर्मातिक्रमः—इन्द्रिय प्राप्यकारी तथा अप्राप्यकारी है, इस पक्ष में न युगपदुपलब्धिप्रसङ्गः, यह सूत्र है । वस्तुतस्तु न ज्ञानानां यौगपद्यमिह विवक्षितम् अपि तु एकदैवार्थानां ग्रहणमिति परिशुद्धिः ।

---

१. निवर्तते, पा० ।   २. यथा नानेन्द्रियवादिनः, पा० ।   ३. स्वेऽत्र, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥३।१।५५॥

न खलु त्वगकमिन्द्रियम्, व्याघातात्—त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्ते' इत्यप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः। स्पर्शादीना च प्राप्तानां ग्रहणाद् रूपादीनामप्राप्तानामग्रहणमिति प्राप्तम्। प्राप्याप्राप्यकारित्वमिति चेत् ? आवरणानुपपत्तेः विषयमात्रस्य ग्रहणम्। अथापि मन्येत 'प्राप्ताः स्पर्शादयस्त्वचा गृह्यन्ते रूपाणि त्वप्राप्तानि' इति ? एवं सति नास्त्यावरणम। आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य व्यवहितस्य चेति। दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात। अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहणमन्तिके च ग्रहणमित्येतन्न स्याद्' इति। ३।१।५५।

न्यायवार्त्तिकम्

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका। शेषं भाष्ये—

परस्पर विरुद्ध होने से (विप्रतिषेधात्) त्वचा एक इन्द्रिय नहीं। ३।१।५५॥

त्वचा (ही) एक इन्द्रिय नहीं परस्पर विरोध होने से (व्याघातात्)—त्वक् से रूप अप्राप्त (ही) गृहीत होते है, इसप्रकार अप्राप्यकारी होने पर स्पर्श आदि में भी इसीप्रकार का प्रसङ्ग होता है। स्पर्श का भी विना प्राप्ति के ग्रहण होना चाहिये। और स्पर्श आदि का प्राप्तों का ग्रहण होने से अप्राप्त रूप आदि का (भी) ग्रहण न होना प्राप्त होता है। यदि त्वक् प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी है तो आवरण न बनने से विषयमात्र का ग्रहण होगा—यदि माना जाये कि प्राप्त स्पर्शादि का त्वचा से ग्रहण होता है किन्तु रूपादि का प्राप्त हुए विना (ही)। ऐसा होने पर आवरण नहीं है और आवरण न बन सकने से रूपमात्र का ग्रहण होगा और (दीवार आदि से) व्यवधान वाले (रूप का भी) और रूप की उपलब्धि एवं अनुपलब्धि में दूर और समीप का अनुसरण न होगा—त्वचा से अप्राप्त रूप का ग्रहण होता है अतः दूरी पर रूप का अग्रहण तथा समीप में ग्रहण, यह न होगा। ३।१।५५।

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका (यह सूत्र है) शेष भाष्य में है।

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका—यह सूत्र विश्वनाथ वृत्ति (न्यायवृत्ति) में तथा भाष्यचन्द्र (श्री गङ्गानाथ झा) में नहीं है। न्यायवार्तिक टीका में भी यह दिखलाई नहीं देता किन्तु न्यायसूचीनिबन्ध में यह है।

व्याघातात्—व्याघात पूर्व सूत्र के वार्तिक में दिखलाया गया है।

रूपाणि त्वप्राप्तानि—इसके दो फल होंगें १. आवरण नहीं बन सकेगा २. रूप की उपलब्धि में दूर या समीप का अनुसरण न होगा। फिर तो सभी रूपों का ग्रहण हो जायेगा। भाष्य में आवरणानुपपत्तेः, दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्। यहाँ यही दिखलाया है।

शेषं भाष्ये—भाष्य के उक्त दोष वार्तिक में पुनः कहे गये हैं किन्तु इनमें एक सामान्य रूप में है एक अप्राप्यकारित्व में।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

एकत्वप्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते
इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् । ३।१।५६।।

अर्थः प्रयोजनम्, तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणाम् । स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यते' इति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते । स्पर्श—

न्यायवार्त्तिकम्

एकोपघाते तद् विनाशे वा सर्वानुपलब्धिप्रसङ्गः । अथैकमिन्द्रियं भवति, तद्विघाते विनाशे वा सर्वानुपलब्धिप्रसङ्गः । आवरणानुपपत्तेः—यदि त्वगेकमिन्द्रियं भवति नावरणस्य सामर्थ्यमस्तीति, विप्रकृष्टावस्थितोपलब्धिप्रसङ्गः । दूरान्तिकार्थानुविधानं चोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्—अप्राप्यकारित्वे त्वगिन्द्रियस्यान्तिके ग्रहणं दूरे चाग्रहणमित्येतन्न स्यात् । ३।१।५५।।

इन्द्रियों के एक होने के प्रतिषेध से (ही) इन्द्रियों का नानात्व सिद्ध हो जाने पर (इन्द्रियों की पृथक्ता की) स्थापना का हेतु भी दिया जाता है,

इन्द्रियों के प्रयोजन (अर्थ) पाँच होने से । ३।१।५६।।

(सूत्र में) अर्थ का अभिप्राय है प्रयोजन । वह इन्द्रियों का पाँच प्रकार का है । त्वक् (स्पर्शन) इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर उसीसे रूप का ग्रहण नहीं होता इसलिये रूपग्रहण के प्रयोजन से चक्षु का अनुमान किया जाता है । स्पर्श

× × ×

एक के आहत (उपघाते) अथवा नष्ट हो जाने पर सब विषयों की अनुपलब्धि होने लगेगी —यदि एक इन्द्रिय है तो उसके आहत या नष्ट हो जाने पर सब विषयों की अनुपलब्धि होने लगेगी । आवरण न बन सकने से—यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय है तो आवरण का सामर्थ्य न होगा ? अतः दूरी पर स्थित (अर्थ की) उपलब्धि होने लगेगी । और उपलब्धि एवं अनुपलब्धि में दूर एवं समीप का अनुसरण न होगा—त्वक् इन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने पर समीप में ग्रहण दूर पर अग्रहण, यह न होगा । ३।१।५५।।

स्थापनाहेतुः——एकत्व के प्रतिषेध से ही इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध हो जाती है, फिर इन्द्रियों की अनेकता की स्थापना के लिये हेतु भी दिये जा रहे हैं ।

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्—इन्द्रियाँ अनेक है क्योंकि इनके विषय (अर्थ) पांच है । अतः इन्द्रियाँ भी पांच हैं, एक नहीं । इन्द्रियों की अनेकता की स्थापना के लिये यह हेतु दिया गया है ।

एकोपघाते तदविनाशे वा सर्वानुपलब्धिप्रसङ्गः—वार्त्तिककार ने इस सूत्र में यह नया दोष दिखलाया है, यदि एक इन्द्रिय ही त्वक् है तो उसके उपघात या विनाश होने पर सभी इन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि न होगी ।

न्यायभाष्यम्

रूपग्रहणे च ताभ्यामेव न गन्धो गृह्यते' इति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते। त्रयाणां ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यते' इति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनुमीयते। न चतुर्णां ग्रहणे तैरेव शब्दः श्रूयते' इति शब्दग्रहणप्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते। एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतरसाधनसाध्यत्वात् पञ्चैवेन्द्रियाणि। ३।१।५६॥

न्यायवार्त्तिकम्

प्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते। प्रतिषेधान्नानात्वं सिध्यतीति, तन्न बुद्धयामहे प्रतिषेधादेकत्वसाधनं न स्यात्, नानात्वं कथं सिध्यतीति, नासाधना क्रियेति। एकत्वं च प्रतिषेद्धुं कथं शक्यते, प्रतिषेधाद् एकत्वसाधनमनुमानं निवर्तते. न पुनरेकत्वमनेकत्वं वा निवर्तते' इति कथं तर्ह्ययं ग्रन्थो ग्राह्यः? प्रतिषेधानन्तरं नानात्वसिद्धौ स्थापना हेतुरप्युपादीयते। इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्।

तथा रूप का ग्रहण होने पर उनसे गन्ध का ग्रहण नहीं होता अतः गन्धग्रहण के प्रयोजन वाली नासिका का अनुमान किया जाता है। तीनों का ग्रहण हो जाने पर उनसे ही रस का ग्रहण नहीं होता अतः रस ग्रहण के प्रयोजन वाली रसना का अनुमान किया जाता है। चारों का ग्रहण हो जाने पर उनसे ही शब्द नहीं सुना जाता, अतः शब्द-ग्रहण के प्रयोजन वाले श्रोत्र का अनुमान किया जाता है। इसप्रकार इन्द्रियों के प्रयोजन के अन्य साधन से सिद्ध न होने के कारण पांच ही इन्द्रियाँ हैं। ३।१।५६॥

प्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते' (इति भाष्यम्)। प्रतिषेध से नानात्व की सिद्धि होने पर (वार्तिककार का भाष्य पर आक्षेप) वह हम नहीं समझते कि प्रतिषेध से (एकत्व के प्रतिषेध से) एकत्व की सिद्धि न हो किन्तु पृथक्ता की सिद्धि कैसे हो जाती है, बिना साधन की क्रिया नहीं होती। और एकत्व का प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है। प्रतिषेध से (तो) एकत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान की निवृत्ति होती है किन्तु एकत्व या अनेकत्व की निवृत्ति नहीं होती। (प्रश्न) तब इस (भाष्य) ग्रन्थ को कैसे लेना चाहिये। (उत्तर) प्रतिषेध के अनन्तर इन्द्रियों की अनेकता की सिद्धि के लिये स्थापना का हेतु भी दिया जाता है 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्। अथवा प्रतिषेध से (इन्द्रियों की) अनेकता सिद्ध होने पर इसका यह अभिप्राय है (अयमर्थः) कि प्रतिषेध करने के हेतु से (इन्द्रियों की) एकता का प्रतिषेध करने पर

पञ्चैवेन्द्रियाणि—इन्द्रियां पांच ही हैं, क्योंकि इन्द्रियों के विषय भिन्न-२ हैं। प्रत्येक विषय के ग्रहण के लिये एक साधन (करण) अपेक्षित है। अतः इन्द्रियाँ पाँच हैं।

नासाधना क्रिया—प्रत्येक क्रिया का कोई साधन होता है, बिना साधन की क्रिया नहीं होती। कथं तर्हि—यह प्रश्न है कि भाष्य की संगति कैसे लगेगी।

प्रतिषेधानन्तरं नानात्वसिद्धौ—यह उत्तर है। यद्यपि अनन्तर शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति का स्मरण नहीं किया गया तथापि अन्य शब्द का अध्याहार करके व्याख्या करनी होगी। अनन्तरं प्रतिषेधादन्यः स्थापनाहेतुरिति योजना टी० ५२६। परिशुद्धिकार ने इस प्रयोग की शुद्धता के लिये कहा है 'यद्यपि साधन का दोष दिखलाने से साध्य की निवृत्ति नहीं होती तथापि जहाँ पर साध्य की निवृत्ति ही साध्य होती है, वहाँ साध्यनिवृत्ति हो जाती है (मि० म० गङ्गानाथ झा स० संस्करण, पूना)

न्यायवार्त्तिकम्

अथवा प्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ' इति प्रतिषेधहेतुना एकत्वप्रतिषेधे कृतेऽर्थान्नानात्वं सिध्यतीत्ययमर्थः। कतमः पुनरसौ प्रतिषेधहेतुः ? 'युगपदर्थोपलब्धिप्रसङ्गाद्' इत्ययम्। अनेनैकत्वं प्रतिषिद्धम्।

तदेवमवीत सिद्धौ वीतदर्शनार्थमिदमुच्यते 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वाद्' इति सूत्रम्। अर्थः प्रयोजनमित्येवमादि भाष्ये। इदं च सूत्रं न कथञ्चन न्यायेन सम्बध्यते। कथमिति? विधीयमानोऽर्थः साध्यः पञ्चेन्द्रियाणीति 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वाद्' इत्यसम्बद्धम्। अथ प्रयोजनपञ्चत्वम् ? तदप्येवमेव। अथ ग्रहणानि पक्षीक्रियन्ते, तत्राप्यैकान्तिको हेतुर्नास्तीति। एतेन विषया व्याख्याताः। इदं तु सूत्रमेवं स्यात् 'रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु नानासाधनक्रियः कर्ता' एकविषयावसितो विषयान्तरसिद्धौ करणान्तरापेक्षित्वात्।

अर्थात् (इन्द्रियों की) अनेकता सिद्ध हो जाती है। (प्रश्न) किन्तु यह प्रतिषेध का हेतु कौन सा है ? (उत्तर) एक साथ उपलब्धि का प्रसङ्ग होने से, यह है। इससे इन्द्रियों के एक होने का प्रतिषेध किया गया है।

तब इसप्रकार अवीत की सिद्धि हो जाने पर वीत दिखलाने के लिये यह सूत्र कहा गया है, 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' (यह सूत्र है)। अर्थ=प्रयोजन, इत्यादि भाष्य में है। यह सूत्र किसी प्रकार भी न्याय संगत नहीं। कैसे ? विहित किया जाता हुआ पदार्थ साध्य है वह है इन्द्रियाँ पांच हैं। 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' उससे सगत नहीं। यदि (यह अभिप्राय है) पांच प्रयोजन होने से (अर्थः=प्रयोजन) वह भी ऐसा ही है। यदि ज्ञानों (ग्रहणानि) को पक्ष किया जाता है, वहाँ भी हेतु अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है, अर्थात् नहीं हैं। इस (कथन) से पाँच विषय है इसकी व्याख्या कर दी, यह सूत्र इसप्रकार होना चाहिये 'रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु नानासाधनक्रियः कर्ता' (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द में नाना साधनों से क्रिया करने वाला कर्ता (आत्मा) है; क्योंकि एक विषय की समाप्ति पर अन्य विषय की सिद्धि में अन्य करण की अपेक्षा होती है।

अथवा—एकत्व प्रतिषेध का हेतु व्यतिरेकी है, उससे नानात्व सिद्ध हो जाता है व्यतिरेकी हेतुर्द्वयोर्विरुद्धयोरेकतरनिषेधेनैकतरं व्यवस्थापयति तथा तैरात्म्यनिषेधेन जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वमिति, टी० ५२९।

कतमः पुनरसौ—यह प्रश्न हैं कि प्रतिषेध का हेतु कौन सा है ? इसका उत्तर आगे है।

अवीतसिद्धौ—व्यतिरेकी हेतु के द्वारा इन्द्रियों का अनेकत्व सिद्ध हो जाने पर।

वीतदर्शनार्थम्—अन्वयी हेतु दिखलाने के लिये। वीत तथा अवीत का विवेक सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया गया है।

ऐकान्तिक हेतुः—ऐसा हेतु जो व्यभिचार युक्त न हो। अनैकान्तिक न हो, अपने लक्ष्य पर ही जाये।

इदं तु सूत्रमेवं स्यात्—वार्त्तिककार ने 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' सूत्र का यह उचित समझा है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न तदर्थबहुत्वात् ।३।१।५७।।

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति सिध्यति। कस्मात् ? तेषामर्थानां बहुत्वात्—बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः। स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णाशीता इति। रूपाणि शुक्लहरितादीनि। गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः। रसाः कटुकादयः। शब्दा वर्णात्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः।

न्यायवार्त्तिकम्

यस्य कर्तुरनेको विषयः तस्यान्यतमविषयावसाये विषयान्तरसिद्धौ करणान्तरापेक्षित्वं दृष्टम्; यथाऽनेकशिल्पपर्यवदातस्य पुरुषस्य क्रियावसायात् क्रियायां करणान्तरापेक्षित्वम्, तथा च रूपाद्यन्यतमविषयावसाये विषयान्तरसिद्धौ साधनान्तरापेक्षित्वमस्ति, तस्माद् रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु नानासाधनक्रियः कर्ता ।।३।१।५६।।

न तदर्थबहुत्वात्, अस्य यथाश्रुत्युत्थानम्। अस्य चार्थ इन्द्रियपञ्चत्वविरोधः।

नहीं, उन (इन्द्रियों) के विषय-प्रयोजन (अर्थाः) बहुत होने से ।३।१।५७।।

वस्तुतः इन्द्रियों के पांच विषय होने से पांच इन्द्रियाँ हैं, यह सिद्ध नहीं होता। क्यों ? वस्तुतः उन इन्द्रियों के विषय बहुत होने से—स्पर्श ही (तावत्) शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत आदि हैं, रूप शुक्ल, हरित आदि हैं, गन्ध अभीष्ट, अनिष्ट, उपेक्षणीय है, रस कड़वा आदि हैं, शब्द वर्णात्मक तथा ध्वनिमात्र भिन्न-भिन्न है।

× × × ×

जिस कर्ता के अनेक विषय होते हैं उसके एक विषय की समाप्ति होने पर अन्य विषय की सिद्धि में अन्य करण की अपेक्षा देखी गई है; जैसे अनेक शिल्पों में निपुण व्यक्ति की एक क्रिया समाप्त होने पर आगे की क्रिया में अन्य करण की अपेक्षा होती है और उसीप्रकार रूपादि एक विषय की समाप्ति पर अन्य विषय की सिद्धि में अन्य साधन की अपेक्षा है। इसलिये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में कर्ता (आत्मा) की क्रिया के अनेक साधन हैं ।।३।१।५६।।

'न तदर्थबहुत्वात्' (यह पूर्वपक्ष का सूत्र है)। इसको शब्दों के अनुसार (यथाश्रुति) उठाया गया है। इसका प्रयोजन है इन्द्रियों के पांच होने का विरोध।

न तदर्थबहुत्वात्—यह आक्षेप सूत्र है। पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि इन्द्रियों के विषय पांच ही नहीं अपितु बहुत से हैं। जैसा कि वार्त्तिक में कहा गया है, इसका प्रयोजन है पूर्व सूत्र इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् का विरोध करना।

यस्य कर्तुः—लोक का उदाहरण देकर वार्त्तिककार ने अपने द्वारा प्रस्तुत सूत्र का समर्थन किया है।

तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद् बहूनीन्द्रियाणि प्रसज्यन्ते' इति ॥३।१।५७॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ।३।१।५८॥

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धादीनां यानि गन्धादिग्रहणानि तान्यसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणि न प्रयोजयन्ति । अर्थसमूहोऽनुमानभुक्तो नार्थैकदेशं चाश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवात् प्रतिषेधेति । तस्माद् अयुक्तोयं प्रतिषेध इति ।

न्यायवार्तिकम्

न विरोधात्—अर्थबहुत्वाद् इन्द्रियबहुत्वमिति ब्रुवाणो यदभ्युपगतमेकमिन्द्रियमिति तद् बाधते नासाधनात्—न मयाऽर्थबहुत्वाद् इन्द्रियबहुत्वं साध्यते, यतो मे विरोधः स्याद् अपि तु भवतेन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि' इति यत् साधनमुक्तं तस्य मया विरोधो देश्यते 'यदीन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति, इन्द्रियार्थबहुत्वाद् बहूनीन्द्रियाणि प्रसज्यन्ते' इति ॥३।१।५७॥

तब जिसके मत में इन्द्रियों के विषय (अर्थ) पाँच होने से पाँच इन्द्रियाँ हैं ? उस मत में इन्द्रियों के बहुत से विषय होने से बहुत सी इन्द्रियाँ होने लगेंगी ।.३।१।५७॥

गन्ध आदि के गन्धत्व आदि से युक्त होने के कारण प्रतिषेध (ठीक) नहीं ॥३।१।५७॥

गन्धत्व आदि अपनी सामान्यों के साथ व्यवस्थित (कृतव्यवस्थानां) गन्ध आदि के जो गन्ध आदि के ज्ञान (ग्रहणानि) वे असमान साधन से साध्य होने के कारण अन्य ग्राहक (साधन) की अपेक्षा नहीं रखते (अर्थात् गन्धत्वादि से युक्त गन्धों को एक ही साधन से ग्रहण हो जाता है) । वस्तुतः विषयों का समूह अनुमान से कहा गया है विषय का एक अंश (एकदेशः) नहीं । विषय के एक अंश को लेकर आप विषयों के पाँच होने का प्रतिषेध कहते हैं । अतः यह प्रतिषेध अयुक्त है ।

(परिहार) यह (ठीक) नहीं, विरोध होने से—विषयों के बहुत होने से इन्द्रियाँ बहुत होतीं, यह कहने वाला उसका बाध करता है जो उसने कहा है कि इन्द्रिय एक है । (शङ्का) । नहीं, सिद्ध न करने से—मेरे द्वारा विषयों की बहुतायत से इन्द्रियों का बहुत्व नहीं सिद्ध किया जाता, जिससे मेरे (कथन) में विरोध हो अपितु आपने जो इन्द्रियों के पाँच विषय होने से पाँच इन्द्रियाँ हैं, इससे जो साधन कहा गया है उसका मैंने विरोध बतलाया है कि यदि इन्द्रियों के पाँच विषय होने से पाँच इन्द्रियाँ होती हैं तो इन्द्रियों के बहुत विषय होने से बहुत इन्द्रियाँ होंगी ॥३।१।५७॥

प्रसज्यन्ते—प्रसक्त होते हैं, जिसके मत में पाँच विषय होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं उसके यहाँ बहुत से विषय होने से बहुत सी इन्द्रियाँ होंगी । सूत्र का प्रयोजन विरोध दिखलाया है । किन्तु इस कथन में भी विरोध है पहले एक इन्द्रिय मानकर अब इन्द्रिय बहुत माना जाना जा रहा है ।

गन्धत्वाव्यतिरेकात्—यह समाधान सूत्र है । सुगन्ध आदि सभी गन्ध हैं, उससे भिन्न नहीं, अतः हमारे कथन में आक्षेप नहीं किया जा सकता ।

न्यायभाष्यम्

कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादय इति ? स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः, शीतः उष्णोऽनुष्णाशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन सङ्गृहीतः। गृह्यमाणे च शीतस्पर्शे नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा स्पर्शस्य ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयति, स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वाद्, येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते तेनैवेतरावपि' इति। एवं गन्धत्वेन गन्धानाम्, रूपत्वेन रूपाणाम्, रसत्वेन रसानाम्, शब्दत्वेन शब्दानामिति। गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वाद ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि। तस्मादुपपन्नमिन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति ।३।१।५८॥

न्यायवार्त्तिकम्

अस्योद्धारकं सूत्रम् 'गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः'। गन्धत्वादिभिः। सामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादयः न स्वकरणव्यतिरेकेण करणान्तराणि प्रयोजयन्ति, यावत्सु गन्धत्वं वर्तते तावतामेकसाधनसाध्यत्वात्, यः पुनरपरो जातिभेद इष्टानिष्टोपेक्षणीयत्वादिर्नासौ करणान्तरं प्रयोजयति, एवं सर्वत्र, शेषं भाष्ये ॥३।१।५८॥

(प्रश्न) किन्तु गन्धत्व आदि अपनी सामान्यों के साथ गन्धादि कैसे व्यवस्थित कर दिये जाते हैं ? (उत्तर) वस्तुतः स्पर्श जो तीन प्रकार का है शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत, उसका अपनी सामान्य स्पर्शत्व के द्वारा संग्रह हो जाता है। शीतस्पर्श का ग्रहण हो जाने पर उष्ण का अथवा अनुष्णाशीत स्पर्श का ग्रहण अन्य ग्राहक की अपेक्षा नहीं रखता, स्पर्श के भेदों के एक साधन से ही साध्य हो जाने के कारण, जिस (साधन) से शीत स्पर्श का ज्ञान होता है उसीसे अन्य स्पर्शों का भी। इसीप्रकार गन्धत्व (सामान्य) से गन्धों का, रूपत्व से रूपों का, रसत्व से रसों का और शब्दत्व से शब्दों का (ग्रहण हो जाता है)। किन्तु गन्ध आदि के ज्ञान तो असमान साधन से साध्य है, अतः वे अन्य ग्राहकों की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये यह युक्तियुक्त है कि इन्द्रियों के पाँच विषय होने से पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥३।१।५८॥

इस (पूर्वपक्षी के कथन) का उद्धार करने वाला यह सूत्र है 'गन्धत्वाव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः' गन्धादि की गन्धत्वादि (सामान्य) के साथ व्यवस्था की जाती है; अतः ये गन्ध आदि अपने कारण (साधन) के अतिरिक्त अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखते। जिनमें गन्धत्व है वे सभी एक साधन से साध्य है; और जो अन्य जातिभेद है इष्टत्व, अनिष्टत्व एवं उपेक्षणीयत्व वह भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। इसीप्रकार सब (रूप आदि) में। शेष भाष्य में है ॥३।१।५८॥

स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः—जिसप्रकार सौरभ आदि सब गन्धत्व से भिन्न नहीं हैं, उसीप्रकार शीत आदि स्पर्श स्पर्शत्व से भिन्न नहीं, उनका ग्रहण स्पर्श से ही हो जाता है। एक त्वक् इन्द्रिय से ही सबका ग्रहण हो जाता है। इसीप्रकार रूपों तथा रसों का भी और शब्दों का भी।

अस्योद्धारकं सूत्रम्—यह पूर्वपक्ष के सूत्र का समाधान है।

न पुनरपरो जातिभेदः—इष्टत्व अनिष्टत्व तथा उपेक्षणीयत्व जो गन्धादि में है उसके लिये अन्य करण अपेक्षा की नहीं। अतः सभी गन्ध एक साधन (करण) से गृहीत हो जाते हैं।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यदि सामान्यं संग्राहकं प्राप्तम् इन्द्रियाणाम्,
विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ।३।१।५९।।

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः संगृहीता इति ।।३ १।५९।।

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ।३।१।६०।।

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिरपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते । अनुमीयन्ते च पञ्च, गन्धादयो गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्याः । तस्मादसम्बद्धमेतत् ।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि सामान्य संग्राहकं प्राप्तमिन्द्रियाणां विषयत्वाव्यतिरेकाद् एकत्वम् । अस्यार्थोऽविरोध एव । नोक्तोत्तरत्वात्—इन्द्रियार्थपञ्चत्वादित्यस्यार्थेनोक्तोत्तरमेतत् ।।३।१।५९।।

अस्य चार्थस्य ज्ञापनार्थं न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्य इति सूत्रम् ।

यदि सामान्य संग्राहक है तो इन्द्रियों का एकत्व (प्राप्त) होता है,
विषयत्व का भेद न होने से एकत्व (प्राप्त) होगा ।।३१।५९।।

वस्तुतः विषयत्व रूप सामान्य से गन्ध आदि का सग्रह हो जाता है ।।३।१।५९।।

(ठीक) नहीं, ज्ञान के रूप (बुद्धिलक्षण), अधिष्ठान (गोलक), गति, आकृति तथा जाति के पाँच होने से (इन्द्रियाँ पाँच हैं) ।।३।१।६०।।

वस्तुतः विषयत्व के सामान्य व्यवस्थित विषय (गन्ध आदि) अन्य ग्राहक की अपेक्षा न रखने वाले हैं एवं एक साधन के ग्राह्य हैं, यह अनुमान नहीं किया जाता। किन्तु (च) यह अनुमान किया जाता है कि पाँच गन्ध आदि अपनी सामान्यों गन्धत्व आदि से व्यवस्थित हैं एवं अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। अतः यह (उपर्युक्त कथन) सम्बद्ध नहीं।

यदि सामान्य (गन्धत्वादि गन्ध आदि का) संग्रह कर लेता है तो विषयत्व समान होने से (इन्द्रियों का) एकत्व प्राप्त होगा। इस (सूत्र) का प्रयोजन है कि (पूर्वपक्षी के कथन में) विरोध नहीं है। यह (ठीक) नहीं, इसका उत्तर कह दिये जाने से—'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' इस (सूत्र) के अभिप्राय से इसका उत्तर दिया जा चुका है ।।३ १।५९।।

और इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिये 'न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः' यह सूत्र है।

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम्—यह पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसमें शङ्का की गई है कि फिर तो विषयत्व के अभेद से एक ही इन्द्रिय मानना ठीक है।

न बुद्धिलक्षणा०—यहाँ बुद्धि आदि के भेद से इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, कम या अधिक नहीं, यह सिद्धान्त दिखलाया गया है।

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्—यहाँ भी दिखलाया गया था कि इन्द्रियों के पाँच विषय हैं, अतः इन्द्रियाँ पाँच हैं। उसी अभिप्राय को बुद्धिलक्षणा० आदि सूत्र द्वारा प्रकट किया गया है।

न्यायभाष्यम्

अयमेव चार्थोऽनूद्यते, 'बुद्धिलक्षणपञ्चत्वाद्' इति। बुद्धय एव लक्षणानि विषयग्रहणलिङ्गत्वाद इन्द्रियाणाम्। तदेतत् 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' इत्येतस्मिन् सूत्रे कृतभाष्यमिति। तस्माद् बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि।

अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्चेन्द्रियाणाम्। सर्वशरीराधिष्ठानं स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गम्। कृष्णसाराधिष्ठानं चक्षुः बहिर्निसृतं रूपग्रहणलिङ्गम्। नासाधिष्ठानं घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठानं रसनम्, कर्णछिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम्, गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहणलिङ्गत्वाद् इति।

न्यायवार्त्तिकम्

तत्र बुद्धय एव लक्षणानीत्यस्यार्थो वर्णितः 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वाद्' इति।

नानेन्द्रियं भिन्नाधिष्ठानत्वात् यस्याधिष्ठानं भिन्नं तदनेक दृष्टम्, यथा—घटादिष्वधिष्ठानभेदस्तथेन्द्रियाणामस्ति, तस्मान्नानेति।

इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में कहा गया है 'बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात्'। ज्ञान ही लक्षण (स्वरूप) है, क्योंकि इन्द्रियों का बोधक (लिङ्ग) भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण करना है। वह यह 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' इस सूत्र के भाष्य में व्याख्यान किया जा चुका है। इसलिये ज्ञान के पांच लक्षण (स्वरूप) होने से इन्द्रियां पाँच हैं।

वस्तुतः इन्द्रियों के अधिष्ठान (स्थान) भी पाँच हैं—त्वक् इन्द्रिय (स्पर्शनम्) सारे शरीर में रहती है, उसका बोधक (लिङ्ग) है स्पर्श का ज्ञान। चक्षु काली पुतली में स्थित है जो बाहर निकलकर रूप का ग्रहण करती है, रूप का ग्रहण ही उसका बोधक (लिङ्ग) है। घ्राण (इन्द्रिय) नासिका में स्थित है, रसना जिह्वा में स्थित है तथा श्रोत्र कर्णछिद्र में स्थित है, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के ज्ञान इनके बोधक (लिङ्ग) हैं।

इसमें ज्ञान (बुद्धि) ही लक्षण है, इसका अभिप्राय इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् में कह दिया गया है। इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि उनके गोलक भिन्न-भिन्न हैं, जिसका अधिष्ठान (रहने का स्थान) भिन्न-भिन्न होता है वह भिन्न देखा गया है, जैसे घटादि में अधिष्ठान का भेद होता है, उसीप्रकार इन्द्रियों का है, इसलिये इन्द्रियां भिन्न-भिन्न हैं।

अनूद्यते (चार्थोऽनूद्यते)—फिर से कहा जाता है, पुनर्वचनमनुवादः।

बुद्धय एव लक्षणानि—ज्ञान ही लक्षण है, जिस इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है वही उसका लक्षण है, जैसे चक्षुः का चाक्षुष ज्ञान (रूप ग्रहण) ही लक्षण है।

बहिर्निसृतम्—चक्षुरिन्द्रिय काले तारे से बाहर जाती है तथा रूप और रूपी द्रव्य का ग्रहण करती है।

यस्याधिष्ठानं भिन्नम्—यहाँ भिन्न का अर्थ है नियत, भिन्नं नियतम्, टी० ५३०। जिसका अधिष्ठान (गोलक) का भेद है उसका अधिष्ठान का भेद होने से इन्द्रिय का भेद है, टी० ५३०।

न्यायभाष्यम्

'गतिभेदादपि', इन्द्रियभेदः—कृष्णसारोपनिबद्धं चक्षुर्बहिर्निःसृत्य रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति। स्पर्शनादीनि तु, इन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात् प्रत्यासीदन्ति। सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति।

आकृतिः खलु परिमाणमियत्ता। सा पञ्चधा स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसनस्पर्शनानि विषयग्रहणेनानुमेयानि। चक्षुः कृष्णसाराश्रयं बहिर्निसृतं

न्यायवार्त्तिकम्

अधिष्ठानभेदोऽसिद्ध इति चेत्? न, अन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात्—यस्य पुनरधिष्ठानभेदस्तस्य भेदे एकाधिष्ठानविनाशेऽधिष्ठानान्तराश्रयस्यावस्थानमिति, न दोषः।

गतिभेदाद्' इत्यस्य भिन्नगतित्वादिति प्रयोगः, प्रसङ्गः पूर्ववत्।

आकृतिः परिमाणमियत्ता। स्वस्थानपरिमाणानि घ्राणरसनस्पर्शनानि। चक्षुर्बहिर्निःसृतं विषयव्यापि तन्महत्। श्रोत्रं स्वाकाशं तदधिष्ठाननियमेन प्रवर्तते—

गति-भेद से भी इन्द्रियों का भेद (जाना जाता) है काली पुतली में स्थित चक्षुः बाहर निकलकर रूप के आधार द्रव्यों के समीप पहुँचता है। त्वक् आदि इन्द्रिय तो विषय के आधार के समीप जाने से (विषय को) प्राप्त करती है। सन्तान वृत्ति से शब्द का श्रोत्र से सन्निकर्ष (प्रत्यासत्तिः) होता है।

आकृति अर्थात् परिमाण अथवा इयत्ता। वह पाँच प्रकार की है—१. अपना स्थानमात्र घ्राण, रसना तथा त्वक् (स्पर्शन) विषय (गन्ध आदि) के ज्ञान से अनुमान होता है। चक्षुः काली पुतली में आश्रित है वह बाहर निकलकर विषय को प्राप्त,

यदि (कहो कि) अधिष्ठान का भेद असिद्ध है तो अन्धे और बहरे आदि का अभाव होने लगेगा। किन्तु जिसके मत में अधिष्ठान का भेद है उसके मत में भेद होने पर एक अधिष्ठान का विनाश होने पर अन्य अधिष्ठान का आधार स्थित रहता है, अतः दोष नहीं।

गति-भेद से, इसका प्रयोग है भिन्न गति वाली होने से (इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं)। इसका प्रसङ्ग पहले के समान है।

आकृति का अभिप्राय है परिमाण अथवा इयत्ता। अपने स्थान के परिमाण वाली है घ्राण, रसना तथा त्वचा, चक्षुः बाहर निकलकर विषय को व्याप्त करती है, यह महत् (परिमाण वाली) है। श्रोत्र तो आकाश है, वह अधिष्ठान के नियम से—

गतिभेदात्— गति के भेद से, इन्द्रियों की गति में भेद है, जैसे चक्षुः बाहर जाकर विषय को प्राप्त करती है, श्रोत्र में शब्द ही आता है त्वक् आदि अपने समीप हुए विषय को प्राप्त करती हैं।

आकृतिः खलु— यहाँ आकृति का अर्थ परिमाण या इयत्ता किया गया है; जैसे घ्राण, रसना तथा त्वक् अपने-अपने स्थान पर हैं किन्तु चक्षुः विषयव्यापी है। श्रोत्र तो आकाश ही है। किन्तु आकाश तो विभु तथा नित्य है। फिर उसमें श्रोत्र का होना कैसे संभव है? इस पर कहा है, तदधिष्ठाननियमेन प्रवर्तते।

न्यायभाष्यम्

विषयव्यापि। श्रोत्रं नान्यदाकाशात्। तच्च विभु, शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुष-संस्कारोपग्रहाच्चाधिष्ठाननियमेन शब्दस्य व्यञ्जकमिति।

जातिरिति योनिं प्रचक्षते। पञ्च खल्विन्द्रिययोनयः, पृथिव्यादीनि भूतानि। तस्मात्प्रकृतिपञ्चत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥३।१।६०॥

न्यायवार्त्तिकम्

धर्माधर्मसंहितया इष्टानिष्टोपेक्षणीयशब्दसाधनभूतया कर्णशष्कुल्या य आकाशस्य सम्बन्धानुविधाय्याकाशं न विवरान्तरेण स्यादिना शब्दमुपलक्षयति[1] नान्यत्रेति, तदुपकारप्रतीकारभेदाद् वोपक्रियते न[2] प्रतिक्रियते चेति, न तु पुनराकाश नित्यत्वाद् उपक्रियते न प्रतिक्रियते' इति। प्रकृष्टाप्रकृष्टश्रोत्रभेदोप्यत एव।

जातिरिति योनिं प्रचक्षते। पञ्च खल्विमा इन्द्रिययोनयः पृथिव्यादीनि भूतानीन्द्रियाणां योनय इति। योनिस्तादात्म्यम्, न पुनस्तत् कार्यत्वमाकाशे संभवति नित्यत्वात्। ३।१।६०॥

विषय को व्याप्त करती है। श्रोत्र आकाश से भिन्न नहीं है वह (आकाश) व्यापक है केवल शब्द के अनुभव से उसका अनुमान होता है और व्यक्ति (पुरुष) के संस्कारों की सहायता से तथा अधिष्ठान (कर्णशष्कुली) के नियम से शब्द का व्यञ्जक होता है।

जाति कहते हैं योनि (कारण) को। वस्तुतः इन्द्रियों के पृथिवी आदि भूत पाँच कारण हैं। इसलिये पाँच समवायीकारण (प्रकृति) होने से भी पाँच इन्द्रियाँ हैं, यह सिद्ध होता है ॥३।१।६०॥

प्रवृत्त होता है। धर्म एवं अधर्म से युक्त इष्ट अनिष्ट तथा उपेक्षणीय शब्दों के (ग्रहण) की साधन होने वाली कर्णशष्कुली से जो आकाश का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का अनुसरण करने वाला आकाश अन्य छिद्र मुख आदि में शब्द की उपलब्धि नहीं कराता, न अन्य स्थान पर, उस (कर्णछिद्र) के उपकार एवं प्रतिकार के भेद से वह (कर्ण) उपकृत और प्रतिकृत होता है, आकाश तो नित्य है, वह उपकृत या प्रतिकृत नहीं होता। इसीसे प्रकृष्ट और अपकृष्ट श्रोत्र का भेद होता है।

जाति कहते हैं योनि (कारण) को। वस्तुतः पाँच इन्द्रियों की योनि हैं, पृथिवी इत्यादि भूत इन्द्रियों की योनि हैं। योनि का अभिप्राय है तादात्म्य (तद्रूपता), किन्तु उसका कार्य होना नहीं क्योंकि, (भूत का कार्य होना) आकाश में संभव नहीं है, वह तो नित्य है ॥३।१।६०॥

संस्कारोपग्रहाच्च—व्यक्ति के जैसे संस्कार होते हैं उनके अनुसार ही कर्णशष्कुली शब्दों की व्यञ्जक होती है।

धर्माधर्मसहितया—यह संस्कार धर्म तथा अधर्म होता है, इसीसे कर्णशष्कुली इष्ट, अनिष्ट एवं उपेक्ष्य शब्दों को ग्रहण करती है। उपेक्ष्य या उपेक्षणीय भी पुरुषार्थ है यह कहा गया है, टी० ५३०।

जातिरिति—जाति का अभिप्राय है योनि, कारण। आगे दिखाया जा रहा है कि पाँच भूत ही इन्द्रियों की योनि हैं।

---

१. शब्दमुपलम्भयति, पा०। २. न, नास्ति, पा०।

न्यायभाष्यं

अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः। तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति।३।१।६१।।

न्यायवार्त्तिकम्

दृष्टो हि गुणानामुभयपक्षसम्प्रतिपन्नानां पृथिव्यादिभूतानां स्वगुणाभिव्यक्तिनियमः। अस्ति च घ्राणादिभिरपि गन्धाद्यभिव्यक्तिनियमः। तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणीति। किं किमात्मकमिति ? येन यद्गुणाभिव्यक्तिः। तत्र पार्थिवं घ्राणं गन्धाभिव्यक्तिहेतुत्वाद् बाह्यपार्थिवद्रव्यवद्' इति। एवं शेषेष्वपि ॥३।१।६१॥

और इन्द्रियों का भूतों के विशेष गुण की उपलब्धि का नियम है। उस विशेष गुण की उपलब्धि से हम मानते हैं कि इन्द्रियाँ भूत प्रकृतिक हैं, अव्यक्त प्रकृतिक नहीं ॥३।१।६१॥

वस्तुतः दोनों पक्षों (वादी, प्रतिवादी) द्वारा माने गये पृथिवी आदि भूतों का अपने गुण की अभिव्यक्ति का नियम देखा गया है और घ्राण आदि का भी गन्ध आदि की अभिव्यक्ति का नियम है। उस भूतों के विशेष गुणों की उपलब्धि होने से इन्द्रियाँ भूत प्रकृतिक हैं। (प्रश्न) क्या किसका स्वरूप है ? (कौन इन्द्रिय किस भूत से बनी है ?)। (उत्तर) जिससे जिसके गुण की अभिव्यक्ति होती है। उनमें घ्राण पार्थिव है (पृथिवी से बना है) ? क्योंकि गन्ध की अभिव्यक्ति का निमित्त है बाह्य पार्थिव द्रव्य के समान। इसीप्रकार शेष इन्द्रियों में भी (जाना जा सकता है) ॥३।१।६१॥

भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः— भूतानां गुणविशेषस्य उपलब्धिनियमः। उपलब्धिनियमः=अभिव्यक्तिनियमः। घ्राण पृथिवी के विशेष गुण गन्ध का ही अभिव्यञ्जक है इसीप्रकार रसना रस की ही अभिव्यञ्जक है. 'तत्र पार्थिवं घ्राणं रूपरसगन्धस्पर्शेषु नियमेन गन्धस्य व्यञ्जकत्वात्, बाह्यपार्थिववत् इति। यथा हि मृगमदगन्धव्यञ्जकाः कुक्कुटोच्चारादयः पार्थिवा इत्यर्थः'। टी० ५३०। यही रीति आगे भी अपनाई गई है।

उभयपक्षसम्प्रतिपन्नानाम्—दोनों पक्षों (वादी, प्रतिवादी) द्वारा स्वीकृत।

स्वगुणाभिव्यक्तिनियमः—अपने अपने गुण की अभिव्यक्ति का नियम। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है घ्राण, पृथिवी के गुणों में से गन्ध की ही व्यञ्जिका है, इसीप्रकार रसना रस के अनेक गुणों में से रस की अभिव्यञ्जक होती है। इससे जाना जाता है कि इन्द्रियाँ भूतों के विशेष गुण की व्यञ्जक हैं, ये भौतिक हैं। द्र० टी० ५३०, ५३१। इसीलिए घ्राणादि पाँच ही इन्द्रियाँ हैं, हस्तादि (सांख्य) इन्द्रियाँ नहीं। टी० ५३१।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कथं पुनर्ज्ञायते भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति ?

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् । ३।१।६१ ।।

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः । वायुः स्पर्शव्यञ्जकः । आपो रसव्यञ्जिकाः तेजो रूपव्यञ्जकम् । पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् ।

न्यायवार्तिकम्

कथं पुनर्ज्ञायते भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति ? नोक्तोत्तरत्वाद् नाव्यक्तप्रकृतीनीन्द्रियाणीत्युक्तोत्तरमेतत, 'भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्' । भूतगुणविशेषो गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा विशेषकत्वाद् विशेषा इत्युच्यन्ते । यथा गन्धवत्त्वादिना पृथिवी 'अबादिभ्यो' भिद्यते, रसादिभिरबादय इति ।

यह कैसे जाना जाता है कि इन्द्रियाँ भूतप्रकृतिक (पृथिवी आदि भूतों से बनी) हैं, अव्यक्त (प्रकृति या अहंकार) से नहीं ?

(पृथिवी आदि) भूतों के विशेष गुण उपलब्ध होने से भूतप्रकृतिक हैं। ३।१।६१ ।।

वायु आदि भूतों का गुणविशेष की अभिव्यक्ति का नियम देखा गया है। वायु स्पर्श की व्यञ्जक है, जल रस का व्यञ्जक है, तेज रूप का व्यञ्जक है, पार्थिव कोई द्रव्य किसी द्रव्य की गन्ध का व्यञ्जक है।

(प्रश्न) किन्तु यह कैसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ भूतप्रकृतिक है अव्यक्त प्रकृतिक नहीं ? (प्रश्न ठीक) नहीं, उत्तर दे दिया जाने से—इन्द्रियाँ अन्य प्रकृतिक नहीं, यह उत्तर दिया जा चुका है । भूतगुणविशेषोपलब्धस्तादात्म्यम्' (यह सूत्र है) भूतों के गुणविशेष हैं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द भेदक (विशेषक) होने से विशेष कहे जाते हैं; जैसे गन्ध वाली होने से पृथिवी जल आदि से भिन्न है, रस आदि से जल आदि अन्यों से (भिन्न हैं)।

कथं पुनर्ज्ञायते—इन्द्रियां भूतप्रकृतिक है, अव्यक्त प्रकृतिक नहीं, यह कैसे जाना जाता हैं । इन्द्रियां भूतों के विशेष गुणों की व्यञ्जिका हैं, इससे प्रतीत होता है कि ये भूतप्रकृतिक है ।

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्—यहाँ उपलब्धि का अर्थ है अभिव्यक्ति का नियम, तादात्म्य का अर्थ है उसके रूप अर्थात् भौतिक ।

उक्तोत्तरमेतत्—उक्त हैं उत्तर जिसका इसका उत्तर दिया जा चुका है । यह बतलाया जा चुका है कि इन्द्रियाँ भूत प्रकृतिक है, अव्यक्त प्रकृतिक नही । (सूत्र ३-१-३९-४०) ।

९. (अर्थपरीक्षा)

गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युद्दिष्टम् । उद्देशश्च पृथिव्यादीनामेकगुणत्वे, चानेकगुणत्वे समान इत्यत आह, ।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः । ॥१।६२ ॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः । ।१।६३ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युद्दिष्टम् । उद्देशश्च नियोगविकल्पसमुच्चयैः समानः । तत्र नियोग एकैकगुणत्वम्, विकल्पः कस्यचिदेकः कस्यचिद् द्वावित्येवमादिः, समुच्चयः सर्वं[1] सर्वत्र । अतो विशेषणार्थम्, 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः' । 'अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः' । नियमार्थे सूत्रे[2] । चत्वारः पृथिव्यामेकैकशोऽपकर्ष उत्तरेषु ।

---

९. (अर्थपरीक्षा)

गन्ध आदि पृथिवी आदि के गुण हैं, यह उद्देश किया गया (उदिष्ट) हैं और उद्देश पृथिवी आदि के एक गुण वाला होने पर अथवा अनेक गुण वाला होने पर समान ही है, इसलिये कहा है,

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द में स्पर्श तक के पृथिवी के गुण हैं । ३।१।६२ ॥

जल, तेजस्, वायु के पहले पहले को छोड़कर हैं, आकाश का अन्तिम हैं । ३।१।६३।

गन्धादि पृथिवी आदि के गुण हैं, यह कहा गया है और यह कहना (कथन, उद्देश) नियोग, विकल्प तथा समुच्चय मे समान (ही) है । उनमें नियोग है, (पृथिवी आदि के) एक-एक गुण होना; विकल्प है, किसी का एक किसी के दो इत्यादि; समुच्चय है, सब गुण सब में हैं । इसलिये भेद करने के लिये (विशेषणार्थम्) (ये सूत्र हैं), 'गन्धरसरूपस्पर्श शब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या अप्तेजोवायूनां पूर्व पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः' । ये दोनों सूत्र नियम के लिये हैं । चार (गुण) पृथिवी में हैं, आगे वालों (जल, तेजस्, वायु) में एक-एक की कमी (अपकर्ष) है ।

गन्धादयः—क्रम प्राप्त अर्थ की परीक्षा की जाती है । इस परीक्षा का प्रयोजन है इन्द्रियजानात्व तथा पृथिवी आदि के लक्षण की सिद्धि ।

नियोगविकल्पसमुच्चयैः—नियोग का अभिप्राय है नियम विकल्प है किसी के एक किसी के दो इत्यादि । समुच्चय है पृथिवी आदि के सब गुण है ।

नियमार्थे सूत्रे—ये दो सूत्र गन्ध इत्यादि तथा अप् इत्यादि नियम के लिये है । पृथिवी में गन्ध आदि चार गुण है । आगे के भूतों में एक एक कम होता गया है ।

---

१. सर्वे, पा० ।   २. सूत्रद्वयम्, पा० ।

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिपरिणायः। आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्शपर्यन्तेभ्य इति। कथं तर्हि तरब्निर्देशः? स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात् तेनोत्तरशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते। उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति तन्त्रं वा, स्पर्शस्य विवक्षितत्वात्। स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्मादुत्तरः शब्द इति। ३।१।६३॥

न्यायवार्त्तिकम्

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिपरिणामः। तेन किं कृतं भवति? स्पर्शपर्यन्तानां विनियुक्तानां य उत्तरः स आकाशस्येति 'आकाशस्योत्तरः शब्दः। उत्तर इति तरबनिर्देशो न युक्तः, द्वयोर्दृष्टत्वात्—इह पुनः प्रकृष्टवाचित्वे सत्युत्तम इति स्यात्? नायं (नो) तरब्निर्देशः, अपितु पराभिधानमेतत्-- यदुक्तं भवति पर इति तदुक्तं भवति 'उत्तरः' इति।

तन्त्रं वा स्पर्शस्य विवक्षितत्वात्—भवतु वा तरब्निर्देशः। ननूक्तमुत्तम इति प्राप्नोति? न, स्पर्शस्य विवक्षितत्वात्, गन्धादिभ्यः परः स्पर्शः स्पर्शादयं पर इति यावदुक्तं भवति तावदुक्तं भवत्युत्तर इति। ३।१।६३॥

स्पर्श पर्यन्तों के' यह विभक्ति (प्रथमा विभक्ति का षष्ठी में) का परिवर्तन होगा। आकार का गुण स्पर्श पर्यन्त से आगे वाला अर्थात् शब्द है। तब (यहाँ) तरप् (प्रत्यय) का प्रयोग (निदेशः) कैसे किया गया है? (ऋषि के) स्वतन्त्र प्रयोग (वितियोग) के सामर्थ्य से। उससे 'उत्तर' शब्द का 'पर' अर्थ का कथन जाना जाता है। वस्तुतः उद्देश सूत्र में स्पर्श तक से परे शब्द हैं (गन्धरसरूपस्पर्श शब्दः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः १/१/१४)। अथवा यह विवक्षित (तन्त्रम्) है, इससे स्पर्श ही विवक्षित (कहना अभीष्ट) होने से—स्पर्श पर्यन्तों का विनियोग कर देने पर जो अन्य अर्थात् उत्तर है शब्द (वह आकाश का गुण है)। ३।१।६३॥

स्पर्श पर्यन्त में विभक्ति का परिवर्तन करके (प्रथमा विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति करके) स्पर्शपर्यन्तानाम् ऐसा होगा। (प्रश्न) उससे क्या किया जाता है? (उत्तर) स्पर्श पर्यन्तों का विनियोग कर देने पर जो अग्रिम (उत्तर) है वह आकाश का (गुण) है इस प्रकार आकाश का उत्तर अर्थात् शब्द (गुण) है। (शङ्का) 'उतरः' यह तरप् प्रत्यय का प्रयोग युक्त नहीं, (तरप् प्रत्यय) तो दो में (एक की) प्रकृष्टता दिखलाने के लिये देखा गया है यहाँ तो बहुतों में (एक की) प्रकृष्टता दिखलाने के लिये देखा गया है यहाँ तो बहुतों में (एक की) प्रकृष्टता के अर्थ में उत्तमः (तमप् प्रत्यय) होगा। (समाधान) यह तरप् का प्रयोग नहीं अपितु 'पर' का कथन है, जो कहना है 'परः' वह कह दिया गया है 'उत्तरः'।

अथवा यह 'तन्त्र' (श्लिष्ट) है. स्पर्श कहना अभीष्ट होने से—अथवा यह तरप् का प्रयोग ही है। (आक्षेप) (हमने) कहा है कि उत्तम ऐसा प्राप्त होता है। (परिहार) नहीं, इसके द्वारा स्पर्श की विवक्षा होने से—गन्ध आदि से परे स्पर्श है। स्पर्श से यह (शब्द) परे है, यह जो कहना था वही उत्तर शब्द से कहा गया है।
३।१।६३॥

विभक्तिपरिणाम :—'स्पर्शपर्यन्ताः' यहाँ विभक्ति का परिवर्तन करके 'स्पर्शपर्यन्तानाम्' यह करना होगा।

तरप् निर्देश—यह तरप् प्रत्यय दो में से एक की विशेषता दिखलाने के लिये होता है। बहुतों में से एक की विशेषता दिखलाने के लिये 'तमप्' प्रत्यय होता है।

तन्त्र वा—गन्धादि से परे स्पर्श है स्पर्श से यह (शब्द) परे है। परा=उत्तर।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न, सर्वगुणानुपलब्धेः ।३।१।६४।।

नायं गुणनियमयोगः साधुः । कस्मात् ? यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मकेन इन्द्रियेण सर्वे उपलभ्यन्ते । पार्थिवेन हि घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते, गन्ध एवैको गृह्यते । एवं शेषेष्वपीति । ३।१।६४।।

कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ।

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनूपलब्धि।३।१।६५।

न्यायवार्त्तिकम्

न, सर्वगुणानुपलब्धेः । नायं गुणेषु विनियोग. साधुः । कस्मात् ? पार्थिवेन घ्राणेन पार्थिवानां गन्धादीनामुपलम्भप्रसङ्गात्, एवमाप्येन रसनेन त्रयाणाम्, तैजसेन चक्षुषा द्वयोरिति । ३।१ ६४ ।।

कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्याः ? एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ।

(गुणों का नियोग) ठीक नहीं सब गुणों की उपलब्धि न होने से । ३।१।६४ ।।

यह गुणों का नियोग ठीक नहीं । क्यों ? जिस भूत के जो गुण हैं वे तदात्मक इन्द्रियों से सब उपलब्ध नहीं होते । वस्तुतः पार्थिव घ्राण से स्पर्श पर्यन्तों का ग्रहण नहीं होता, अकेले गन्ध का ग्रहण होता है । इसीप्रकार शेष में भी । ३।१।६४ ।।

तब इन गुणों का कैसे विनियोग करना चाहिये ।

क्रमशः (पृथिवी आदि में) एक-एक गुण होने से अग्रिम-अग्रिम की उसमें उपलब्धि नहीं होती । ३।१।६५ ।।

'न सर्वगुणानुपलब्धेः' (यह सूत्र है) । यह गुणों का विनियोग ठीक नहीं । क्यों ? पार्थिव घ्राण से पृथिवी के गन्धादि (गुणों) की उपलब्धि का प्रसङ्ग होने से । इसीप्रकार जलीय रसना से तीन (गुणों) की, तैजस चक्षु से दो (गुणों) की । ३।१।६४ ।

तब इन गुणों का कैसे विनियोग करना चाहिये । एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुण-सद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ।

न सर्वगुणानुपलब्धेः—यह पूर्वपक्ष है । इसी प्रकार सूत्र ६५ तथा ६६ भी । यहाँ पूर्वपक्ष ने नियोग पक्ष का निराकरण किया ।

एवं शेषेष्वपि—रसना यद्यपि आप्य है टी० ५३२ । (जलीय) है तथापि इससे जल के सभी गुणों का ग्रहण नहीं होता, चक्षु तैजस है किन्तु इससे तेजस् के गुणों की उपलब्धि नहीं होती; इसीसे वार्त्तिककार ने कहा है, अप्येन रसनेन त्रयाणाम्, तैजसेन चक्षुषा द्वयोः (ऊपर वार्त्तिक) ।

एकैकश्येन—यह सूत्र सर्वत्र नहीं उपलब्ध होता टीका में यह नहीं है ।

विनियोगः—विशेष नियोगः (Application, Distribution of the qualities) म० गङ्गानाथ झा । 'विनियोग' शब्द का मीमांसा शास्त्र में अधिक प्रयोग हुआ है किसी कार्य को करने के लिये नियुक्ति (संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ) ।

न्यायभाष्यम्

गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनायेकैकस्य गुणः, अतस्तदनुपलब्धिः—तेषां तयोः तस्य चानुपलब्धिः, घ्राणेन रसरूपस्पर्शानाम्, रसनेन रूपस्पर्शयोः, चक्षुषा स्पर्शस्येति ।

कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्त इति ? संसर्गच्चानेकगुणग्रहणम् । अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसादयो गृह्यन्ते । एवं शेषेष्वपीति । ३।१।६५ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

यस्मादेकैकगुणानि भूतानि तस्मादेकगुणग्रहणमिति[1] । 'एकैकश्येनइति सौत्रो निर्देशः[2] ।

कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्ते' इति ? संसर्गास्त्वनेकगुणग्रहणमिति—संसृष्टाऽबादिभिः पृथिवी तस्मादनेकगुणा[3] गृह्यते इति । एवं शेषेषु संसर्गस्त्वप्रतिषिद्धो[4] मिथः पञ्चानां चेति । ३।१।६५ ॥

गन्ध इत्यादि में से क्रमशः एक-एक पृथिवी आदि एक-एक का गुण है, इसलिये उनकी उपलब्धि नहीं होती—उनकी, उन दोनों की तथा उसकी उपलब्धि नहीं होती, घ्राण से रस, रूप, स्पर्श की, रसना से रूप तथा स्पर्श की और चक्षु से स्पर्श की (उपलब्धि नहीं होती) ।

(प्रश्न) तब अनेक गुण वाले (पृथिवी आदि) भूतों का ग्रहण कैसे होता है ? (उत्तर) सम्बन्ध से अनेक गुणों का ग्रहण होता है, जल आदि के सम्बन्ध से पृथिवी में रसादि का ग्रहण होता है । इसीप्रकार शेष (भूतों) में भी । ३।१।६ ॥

क्योंकि एक-एक गुण वाले (पृथिवी आदि) भूत हैं, इसलिये एक-एक गुण का (घ्राण आदि इन्द्रिय से) ग्रहण होता है । 'एकैकश्येन' यह सौत्र प्रयोग है ।

(प्रश्न) तब अनेक गुण वाले (पृथिवी आदि) भूत कैसे गृहीत होते हैं ? (उत्तर) संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है पृथिवी जल आदि से संसृष्ट (सम्बद्ध) है। इसलिये वह अनेक गुण वाली गृहीत होती है । इसीप्रकार अन्य (शेष) भूतों में भी और पाँचों के आपस के संसर्ग का तो प्रतिषेध नहीं किया गया । ३।१।६५ ॥

तेषाम्—रूप, रस, स्पर्श की घ्राण से उपलब्धि नहीं होती । तयोः=रस और स्पर्श की । तस्य=उसकी, स्पर्श की ।

सौत्रो निर्देशः—सूत्र में किया गया निर्देश, वस्तुतः 'एकशः' प्रयोग ही बनता है, जो 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५ ३ ४३ से सिद्ध होता है । फिर 'एकैकश्येन' यह प्रयोग सूत्रकार का ही अपना है । यहां 'एकशः' कहने से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है । 'एकैकश्येन' की आवश्यकता नहीं । 'एकैकश्येन' पाठ ही प्रायः सर्वत्र मिलता है ।

---

१. तस्मादेकैकगुण ग्रहणमिति । २. सूत्रे निर्देशः, पा० । ३. भूतानि नास्ति, पा० । ४ सयोगः प ।

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति संसर्गस्यानियमाच्चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपो द्विगुणं तेज एकगुणो वायुरिति ?

नियमश्चोपपद्यते । कथम् ?

विष्टं ह्यपरं परेण । ३।१।६६।।

पृथिव्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टम् । अतः संसर्गनियम इति । तच्चैतद् भूतसृष्टौ वेदितव्यं नैतर्हीति । ।३।१।६६ ।।

न्यायवार्त्तिकम्

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति, पृथिव्यां चत्वारो नेतरेषु, संसर्गस्यानियमादिति ? न, न प्राप्नोति । कस्मात् ? 'विष्टं ह्यपरं परेण' । विष्टमबादिना परेणापरम्, नापरेण पृथिव्यादिना परमबादि । विष्टत्वं संयोगविशेषः । ३।१।६६ ।।

तब नियम नहीं प्राप्त होता, संसर्ग (सम्बन्ध) का कोई नियम न होने से पृथिवी चार गुण वाली है, जल तीन गुण वाला है, तेजस् दो गुण वाला है, वायु एक गुण वाली है ?

नियम भी बन जाता है । कैसे ?

पहिला अग्रिम से व्याप्त (विष्टम्) है ।३।१।६६ ।।

पृथिवी आदि का पहला-पहला (पूर्व-पूर्व) अग्रिम-अग्रिम से व्याप्त (विष्टम्) है । अतः संसर्ग (सम्बन्ध) का नियम है । वह यह भूतों की सृष्टि (के समय) में जाना जा सकता है, इस समय नहीं । ३।१।६६ ।।

(प्रश्न) तब नियम नहीं प्राप्त होता कि पृथिवी में चार (गुण) हैं, अन्यों में नहीं; क्योंकि संसर्ग (सम्बन्ध) में नियम नहीं होता । (उत्तर) नहीं प्राप्त होता, ऐसा नहीं । क्यों ? 'विष्टं ह्यपरं परेण' (यह सूत्र है) । जलं आदि अग्रिम से पहला (पृथिवी आदि) व्याप्त है, पहले अर्थात् पृथिवी आदि से अग्रिम अर्थात् जलादि व्याप्त नही । विष्टत्व का अभिप्राय है । विशेष प्रकार का संयोग । ३।१।६६ ।।

नियमः—पृथिवी में चार गुण है, जल में तीन, तेजस् में दो, वायु में एक, यह नियम है ।

विष्टम्—व्याप्त, संसर्ग से ही पृथिवी आदि में जलादि के गुण हो जाते हैं, यह भाव है । विष्टत्वम्= संयोगविशेषः (वार्तिक), व्याप्तिरित्यर्थः, टी० ५३२ ।

भूतसृष्टौ—भूतसृष्टि के प्रतिपादक जो पुराणादि ग्रन्थ हैं, भूतसृष्टिप्रतिपादकेषु पुराणेषु, टी० ५३२

नैतर्हि—इस समय नहीं, हमें तो यह अनुभव ही नहीं होता ।

संसर्गस्य अनियमात्—संसर्ग (सम्बन्ध) का नियम न होने से ।

नापरेण पृथिव्यादिना—जलादि का अपर पृथिवी आदि से संसर्ग नहीं होता अतः उसके गुण जलादि में नहीं होते. 'संसर्गस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि न द्वयोःसमानत्वम्; यथाऽग्निधूमयोः सम्बन्धः, टी० ५३२ ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न, पार्थिवाप्योः प्रत्यक्षत्वात् ।३।१।६७।

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे । कस्मात् ! पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात् । महत्वानेकद्रव्यवत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिरिति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात्, न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात् । तैजसवत्तु पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्, न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति । भूतान्तररूपकृतं च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते । नियमे वा कारणमुच्यतामिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

न. पार्थिवाप्योः प्रत्यक्षत्वात्' । नेति त्रिसूत्रीमनन्तरोक्तामनेन प्रत्याचष्टे । यस्यैकैकगुणानि भूतानि तस्य तैजसमेव द्रव्यं रूपवत्त्वात प्रत्यक्षं प्राप्नोति, न पार्थिवमाप्यं वा, अरूपवत्वात् । अस्य सूत्रस्य विकल्पतोऽनेकः सूत्रार्थः कल्प्यत इति भाष्ये वर्णितम् । ३।१।६७ ।।

यह (ठीक) नहीं, पार्थिव तथा जलीय (पदार्थ) के प्रत्यक्ष होने से ॥३।१।६७॥

न, इससे तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हैं। क्यों ? पार्थिव द्रव्य तथा जलीय द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के कारण । महत् (परिमाण वाला) होने से अनेक द्रव्यों वाला होने से (उद्भूत) रूप वाला होने से (किसी द्रव्य की) उपलब्धि (प्रत्यक्ष से ग्रहण) होता है । इसलिये तैजस द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होगा, पार्थिव या जलीय का नहीं, (उनमें) रूप न होने से । (क) किन्तु तैजस के समान पार्थिव तथा जलीय (द्रव्य) का प्रत्यक्ष होने के कारण, संसर्ग (सम्बन्ध) से भूतो में अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता और अन्य भूतों के रूप से की गई पार्थिव और जलीय (द्रव्यों) की प्रत्यक्षता बतलाने वाले के मत में वायु के प्रत्यक्ष होने का प्रसङ्ग होता है। अथवा नियम में कारण कहना होगा ।

'न, पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्' (यह सूत्र है) । न, इससे अभी कहे गये तीन सूत्रों (न सर्वगुणानुपलब्धेः, एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः विष्टं ह्यपरं परेण) का प्रत्याख्यान करते हैं। जिसके मत मे एक-एक गुण वाले भूत हैं उसके मत में रूप वाला होने से तैजस द्रव्य ही प्रत्यक्ष हो सकता है पार्थिव तथा जलीय नहीं, क्योंकि वे रूप वाले नहीं हैं। इस सूत्र के विकल्प से अनेक अर्थ कल्पित किये जाते हैं, जो भाष्य में वर्णित है । ३।१।६७ ॥

न पार्थिवाप्ययोः—यह सिद्धान्त सूत्र है, सिद्धान्ती विकल्पवाचेतद् दूषयति, टी० ५३२ ।

त्रिसूत्रीम्—सूत्र ६४, ६५, ६६ का यह सूत्र निराकरण करता है ।

महत्वानेकद्रव्यवत्वादरूपाच्चोपलब्धिः—'महत्यनेकद्रव्यवत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः' यह वैशेषिक का सूत्र (४.१.६) है । इससे यह विदित होता है कि वात्स्यायन से पूर्व ही इस सूत्र की रचना हो चुकी थी । इन तीनों के होने पर ही किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है ।

नियमे वा— तेजस् के रूप से पार्थिव तथा जलीय पदार्थ का प्रत्यक्ष से ग्रहण हो जाता है किन्तु आकाश तथा वायु का नहीं, इस नियम में कारण कहना होगा, द्र० टी० ५३३ ।

विकल्पेनानेकः सूत्रार्थः कल्पयते—भाष्यकार ने इस सूत्र के कई अर्थ किये हैं ।

(ख) रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्—पार्थिवो रसः षड्विधः, आप्यो मधुर एव। न चैतत्संसर्गाद् भवितुमर्हति।

(ग) रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुग्रहीतयोः संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपं न व्यङ्ग्यमस्तीति। एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् रूपयोः। पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपमाप्यं तु शुक्लमप्रकाशकम्। न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपपद्यते इति। उदाहरणमात्र चैतत्। अतः परं प्रपञ्चः।

(घ) स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात्—पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्शः, उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षः। न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गेणोपपद्यते इति।

(ङ) अथवा पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात्—चतुर्गुणं पार्थिवद्रव्यम्, त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम्। तेन तत्कारणमनुमीयते तथागुण्यमिति, तस्य कार्यं

(ख) अथवा पार्थिव एवं जलीय रसों के प्रत्यक्ष होने से—पार्थिव रस छः प्रकार का है, जलीय मधुर ही है। यह संसर्ग (सम्बन्ध) से नहीं हो सकता।

(ग) अथवा तैजस रूप की सहायता से पार्थिव एवं जलीय (द्रव्यों) के रूप का प्रत्यक्ष होने से—वस्तुतः संसर्ग होने पर तो रूप व्यञ्जक ही है व्यङ्ग्य नहीं। किन्तु पार्थिव तथा जलीय रूपों का एक एवं अनेक प्रकार से प्रत्यक्ष होता है। पार्थिव रूप हरित, लोहित (लाल), पीत आदि अनेक प्रकार का है जलीय रूप शुक्ल है जो प्रकाशक नहीं हैं। यह एक गुण वालों का संसर्ग (सम्बन्ध) होने पर नहीं बनता। यह तो केवल उदाहरण है, इससे आगे इसका विस्तार है (प्रपञ्चः)।

(घ) अथवा पार्थिव तथा तैजस स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से—पार्थिव स्पर्श अनुष्ण एवं अशीत है, तैजस (स्पर्श) उष्ण है जो प्रत्यक्ष है और यह एक गुण वालों (पार्थिव एवं तैजस द्रव्यों) का अनुष्ठान एवं अशीत वायु के संसर्ग (सम्बन्ध) से नहीं बनता।

(ङ) अथवा पार्थिव एवं जलीय द्रव्यों के, व्यवस्थित गुण वालों के, प्रत्यक्ष होने से पार्थिव द्रव्य चार गुणों वाला है, तीन गुणों वाला है, यह प्रत्यक्ष होता है। उससे उसके कारण का अनुमान होता है कि वह वैसे ही गुण वाला है। उसका कार्य ही इसका

रसयोः—भाष्यकार ने सूत्र की जो अनेक व्याख्याएँ की हैं उनमें प्रथम यह है, अथवा पार्थिव और जलीय रस और रूप का भेद प्रत्यक्ष होता है, अथवा पार्थिवाप्यसम्बन्धिनो रसभेदस्य रूपभेदस्य चैकानेकविधत्वेन त्वादित्याह भाष्यकारः, रसयोर्वेत्यादि, टी० ५३३।

स्पर्शयोर्वा—इस सूत्र की अन्य व्याख्या है, पुनरस्यैव व्याख्यानान्तरमाह, स्पर्शयोरिति टी० ५३३।

अथवा···व्यवस्थितगुणयोः—कार्य में व्यवस्थित गुण देखने से कारण के व्यवस्थित गुण वाला होने का अनुमान किया जाता है, क्योंकि कारण में होने से कार्य में कोई गुण होता है, टी० ५३३।

लिङ्गम्, कारणभावाद्धि कार्यभाव इति। एवं तैजसाप्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् गुणव्यवस्थायास्तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थाऽनुमानमिति।

(च) दृष्टश्च विवेकः पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवं द्रव्यमबादिभिर्वियुतं प्रत्यक्षतो गृह्यते, आप्यं च पराभ्याम्, तैजसं च वायुना। न चैकैकगुणं गृह्यते, इति। निरनुमानं तु 'विष्टं ह्यपरं परेण' इत्येतदिति। नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यते' इति येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि। यच्चोक्तं 'विष्टं ह्यपरं परेणेति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतम्' इति, नियमकारणस्यावादयुक्तम्। दृष्टं च साम्प्रतमपरं परेण विष्टमिति, वायुना च विष्टं तेज इति। विष्टत्वं संयोगः। स च द्वयोः समानः। वायुना च विष्टत्वात् स्पर्शवत्तेजा न तु तेजसा विष्टत्वाद् रूपवान् वायुरिति नियमकारणं नास्तीति। दृष्टं च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्थं स्पर्शस्याभिभवाद् अग्रहणमिति। न च तेनैव तस्याभिभव इति। ३।१।६७॥

बोधक (लिङ्ग) है, वस्तुतः कारण मे (कोई गुण) होने से कार्य में होता है। इसप्रकार तैजस एव जलीय द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से उनमें गुणों की व्यवस्था होने पर उनके कारण द्रव्य में भी व्यवस्था का अनुमान होता है।

और पार्थिव एवं जलीय (द्रव्य) का प्रत्यक्ष होने से भेद (विवेक) देखा गया है, पार्थिव द्रव्य जलादि से रहित होता हुआ प्रत्यक्ष से गृहीत होता है तथा जलीय द्रव्य परों (जलीय एवं वायव्य) से एवं तैजस (द्रव्य) वायु से किन्तु एक-एक गुण वाला नहीं गृहीत होता। इसका तो अनुमान नहीं किया जा सकता कि अपर (पृथिवी आदि) पर (जलादि) से व्याप्त है। यहाँ कोई अनुमापक (बोधक) लिङ्ग भी गृहीत नहीं होता जिससे यह ऐसा (ही) है यह स्वीकार लिया जाये। जो यह कहा है कि अपर पर से व्याप्त है, ऐसा भूतों (पृथिव्यादिकों) की सर्जना में जाना जा सकता है, इस समय नहीं. यह भी अयुक्त है क्योंकि नियम का कोई कारण नहीं है, इस समय भी अपर को पर से विष्ट (व्याप्त) देखा जाता है और वायु से तेजस् व्याप्त है। विष्टत्व (व्याप्त होना) एक प्रकार का सयोग है और वह दोनों में समान है। वायु से विष्ट होने के कारण तेजस् स्पर्श वाला है किन्तु तेजस् से विष्ट होने पर भी वायु रूप वाला नहीं, यहाँ नियम का कारण नहीं है। किञ्च तैजस् स्पर्श से वायु के स्पर्श का अभिभव होने के कारण ग्रहण नहीं होता, यह देखा गया है और उसीसे उसका अभिभव नहीं होता। ३।१।६७॥

कारणभावाद्धि कार्यभावः—यह वैशेपिक सूत्र ४·१·३ का भावानुवाद प्रतीत होता है।

दृष्टश्च—यह सूत्र की अन्य व्याख्या है, व्याख्यानान्तरमाह, दृष्टश्चेति, टी० ५३२।

निरनुमानं तु—नियम में कोई प्रमाण नहीं, नियम यह है, पृथिवी का गन्ध ही गुण है. नियमो गन्ध एव पृथिव्यामित्येवमादि, टी० ५३३।

कारणस्य—कारण का अभिप्राय है प्रमाण, कारणं प्रमाणं नास्ति, तद्बाधकस्यैव प्रमाणस्योक्तत्वात्, टी० ५३३।

भूतसृष्टौ वेदितव्यम—अतः भूतसृष्टि विषयक ग्रन्थ की उपचार से व्याख्या करनी होगी, तस्माद् भूतसृष्टिः कथंचिदुपचारतो व्याख्येति, टी० ५३३।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य 'न सर्वगुणानुपलब्धेः' इति चोदितं समाधीयते,

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् । ३।१।६८॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः । घ्राणादीनां पूर्वपूर्वगन्धादेर्गुणस्योत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् । का प्रधानता ? विषयग्राहकत्वम् । को गुणोत्कर्षः अभिव्यक्तौ समर्थत्वम् ।

न्यायवार्त्तिकम्

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य 'न सर्वगुणानुपलब्धेरिति यत् देशितं तत्समाधीयते, पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत् तत् प्रधानम् । तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः— घ्राणादीनामिन्द्रियाणां पूर्वं पूर्वमिन्द्रियं परस्मात् प्रधानम् । का प्रधानता ? चतुर्गुणत्वादिः । को गुणोत्कर्षः ? स्वगुणाभिव्यक्तिसामर्थ्यम्— येन गुणेन यद् द्रव्यमुत्कृष्यते स तज्जातीयाभिव्यञ्जकत्वाद् उत्कृष्टो भवति ।

तो इस प्रकार न्याय के विरुद्ध प्रवाद का प्रतिषेध करके 'न सर्वगुणानुपलब्धेः' इस शङ्का का समाधान किया जाता है,

पूर्व पूर्व गुण के उत्कर्ष से वह-वह प्रधान है । ३।१।६८॥

इसलिये सब गुणों की उपलब्धि नहीं होती । घ्राण आदि के पूर्व-पूर्व गन्धादि गुण का उत्कर्ष होने के कारण वह-वह प्रधान है । प्रधानता क्या है ? विषय का ग्रहण कराना । गुण का उत्कर्ष क्या है ? अपने गुण की अभिव्यक्ति में समर्थ होना ।

तो इसप्रकार न्याय के विरुद्ध होने वाले प्रवाद का प्रतिषेध करके जो 'न सर्वगुणानुपलब्धेः' यह शङ्का की गई है उसका समाधान किया जाता है, पूर्वं पूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम्' (यह सूत्र है) । इसलिये सब गुणों का ग्रहण नहीं होता क्योंकि घ्राण आदि इन्द्रियों में पूर्व-पूर्व इन्द्रिय पर से प्रधान है । (प्रश्न) क्या प्रधानता है ? (उत्तर) चार गुणों वाला होना इत्यादि । (प्रश्न) क्या गुणों का उत्कर्ष है ? (उत्तर) अपने गुण की अभिव्यक्ति का सामर्थ्यं— जिस गुण से जो द्रव्य उत्कृष्ट है वह उसके जाति वाले का अभिव्यञ्जक होने से उत्कृष्ट हो जाता है ।

न्यायविरुद्धम्—न्यायसम्प्रदाय के विरुद्ध या न्याय के विरुद्ध, प्रमाण के विपरीत, 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' यह न्याय का स्वरूप है ।

का प्रधानता—यह भाष्यकार का मत है । यदि विषयग्राहकता ही प्रधानता है तो सभी इन्द्रियाँ विषयग्राहक हैं अतः सभी में प्रधानता होगी । भाष्यकार की व्याख्या में अरुचि दिखलाकर वार्त्तिककार ने इसका उत्तर दिया है 'चतुर्गुणत्वादिः' । यदि भाष्य के वचन का अर्थ 'ससगुणप्रधानो यस्य तदेव पूर्वं पूर्वमिन्द्रियमिति' यह किया जाये तो भाष्य की व्याख्या में कोई दोष नहीं, मि० डा० गङ्गानाझा, पूना सं० १९३९ ।

चतुर्गुणत्वादिः—यह वार्त्तिक की अपनी व्याख्या है । घ्राण पार्थिव है अतः उसमें चार गुण है जिनमें गन्ध उत्कृष्ट है अतः गन्ध की ग्राहक है ।

न्यायभाष्यम्

यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणव्यञ्जकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रम गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम्, एवं घ्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणग्राहकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकत्वम् । तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति ।

यस्तु प्रतिजानीते 'गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमेवं रसनादिष्वपि' इति तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं प्रसज्यत इति । ३।१।६८।

न्यायवार्तिकम्

यथा बाह्यानां द्रव्याणामिति । अस्ति चेन्द्रियाणामपि स्वगुणाभिव्यक्तिनियमः, तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः ।

यः पुनर्न्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धग्राहकमिति प्रतिजानीते तस्य सर्वगुणोपलब्धिप्रसङ्गः । ३।१।६८॥

जैसे बाह्य पार्थिव, जलीय तथा तैजस द्रव्यों, जो चार गुण वाले, तीन गुण वाले तथा दो गुण वाले है उनके द्वारा सब गुणों की व्यञ्जना नहीं होती, किन्तु उनमें गन्ध रस तथा रूप के उत्कर्ष से क्रमशः गन्ध, रस तथा रूप की व्यञ्जकता होती है, इसीप्रकार घ्राण रसना तथा चक्षु की जो चार गुण वाली, तीन गुण वाली तथा दो गुण वाली हैं वे सब गुणों की ग्राहक नहीं होती अपितु गन्ध, रस तथा रूप के उत्कर्ष के कारण क्रमशः गन्ध, रस तथा रूप की ग्राहक होती है। इसलिये घ्राण आदि से सब गुणों की उपलब्धि नहीं होती ।

जो यह कहता है कि गन्ध गुण वाली होने से घ्राण गन्ध की ग्राहक है, इसीप्रकार रसना आदि भी। उसके (मत में) गुणों के सम्बन्ध के अनुसार घ्राण आदि से गुणों के ग्रहण का प्रसङ्ग होता है । ३।१।६८।

जैसे बाह्य द्रव्यों का । और इन्द्रियों का भी अपने गुणों की अभिव्यक्ति का नियम है । इसलिये सब गुणों की उपलब्धि नहीं होती । किन्तु जो यह कहता है कि गन्ध गुणवाली होने से घ्राण गन्ध की ग्राहक है, उसके (मत में) सब गुणों की उपलब्धि का प्रसङ्ग होता है (हमारे मत में नहीं) । ३।१।६८॥

गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु—को गुणोत्कर्षः ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने समान ही कहा है 'अभिव्यक्तौ समर्थत्वम्' (भा०), 'स्वगुणाभिव्यक्तिसामर्थ्यम्' (वा०) । अतः गन्ध के उत्कर्ष से घ्राण गन्ध गुण की अभिव्यञ्जक है । वार्त्तिक में अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है 'स तज्जातीयाभिव्यञ्जकत्वादुत्कृष्टो भवति' । घ्राण अपने गन्ध का तो ग्रहण नहीं करती किन्तु अपने सजातीय गन्ध का (चन्दनादि के गन्ध का) ग्रहण करती है । अपनेगन्ध का ग्रहण वह अदृष्टवशात् नहीं करती ।

यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणत्वात्—जो यह कहता है कि गन्ध गुण वाला होने से घ्राण गन्ध का ग्राहक है उसके मत में तो चारों गुणों का ग्राहक होगा । अतः गन्ध के उत्कर्ष से ही घ्राण गन्ध का ग्राहक है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

किं कृतं पुनर्व्यवस्थानम्, किञ्चित्पार्थिवमिन्द्रियं न सर्वाणि, कानिचिदाप्यतैजसवायव्यानि इन्द्रियाणि, न सर्वाणीति।

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात्। ३।१।६९

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितो भूयस्त्वम्। दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते। यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद् विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वं सर्वार्थम्, एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वविषयग्रहणसमर्थानि' इति। ३।१।६९।।

न्यायवार्त्तिकम्

कस्मात्पुनर्न सर्वं पार्थिवं घ्राणमिति ? व्यवस्थानियमज्ञापनार्थं 'तद् व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात्' इति सूत्रम्। किं पुनरिदं भूयस्त्वम् ?

फिर यह व्यवस्था कैसे की जाती है कि कोई इन्द्रिय पार्थिव है सब नहीं, कोई (इन्द्रिय) जलीय है, कोई तैजस है, कोई वायवीय है सब नहीं ?

उनकी व्यवस्था तो आधिक्य (भूयस्त्व) के कारण होती है। ३।१।६९।।

पदार्थ की उत्पत्ति (निर्वृत्ति) में समर्थ, विभक्त द्रव्य का संसर्ग (सम्बन्ध) जो व्यक्ति (पुरुष) के भावना नामक संस्कार से कराया जाता है वह आधिक्य कहलाता है। वस्तुतः प्रकर्ष (अर्थ) में 'भूयस्त्व' शब्द देखा गया है, जैसे प्रकर्षयुक्त विषय भूयान् कहलाता है। जैसे भिन्न अर्थक्रिया में समर्थ व्यक्ति के संस्कार (धर्म तथा अधर्म) से विष, औषधि, मणि आदि द्रव्य उत्पन्न होते हैं, किन्तु सब (ही) सब प्रयोजनों के लिये नहीं होते, इसीप्रकार भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रहण में समर्थ घ्राण आदि (इन्द्रिय) उत्पन्न किये जाते हैं जो सब विषयों के ग्रहण में समर्थ नहीं होते। ३।१।६९।।

फिर घ्राण सब पार्थिव (गुणों) का ग्राहक क्यों नहीं ? व्यवस्था का नियम प्रकट करने के लिये यह सूत्र है 'तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात्'। किन्तु यह

किं कृतं पुनर्व्यवस्थानम्—यह व्यवस्था किसके द्वारा की गई है, यह प्रश्न है।

भूयस्त्वम्—इसका उत्तर है 'भूयस्त्वात्'। भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संसर्ग भूयस्त्व है, व व्यक्ति के धर्माधर्म (संस्कार) से किया जाता है और पुरुषार्थ के निमित्त होता है। अर्थः—पुरुषार्थ, प्रविभक्तस्य—इतरेभ्यो विशिष्टस्य, संस्कारकारितः—अदृष्टकारितः, टी० ५३४, ५३५।

पुरुषसंस्कारवशात्—धर्माधर्म के कारण, सभी कुछ आत्मा के धर्माधर्म के कारण उत्पन्न होता है, विष, औषधि, मणि आदि भी अदृष्ट से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न कार्य करते है।

न हि सर्वं सर्वार्थम्—सभी पदार्थ सब प्रयोजनों के लिये नहीं होते, कोई किसी प्रयोजन को करता है, कोई किसी को। इसीप्रकार घ्राण आदि इन्द्रियाँ भी व्यक्ति के धर्माधर्म (संस्कार, अदृष्ट) से उत्पन्न होती हैं, कोई किसी विषय का ग्रहण करती है कोई किसी का।

न्यायसूत्र भाष्यं च

अर्थनिर्वृतिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितो भयस्त्वम्। दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः यथा लोके प्रकृष्टो विषयो भूयानित्युच्यते, यथा च पुरुषार्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारोपग्रहात् विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्त इति। ३।१।६९।

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि, कस्मादिति चेत् ?

सगुणानामिन्द्रियभावात्। ३।१।७०॥

स्वान् गन्धादीन् नोपलभन्ते घ्राणादीनि। केन कारणेनेति चेत ? स्वगुणैः सह घ्राणादीनामिन्द्रियभावात — घ्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिण सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति। तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिवैकल्यान्न भवति। एवं शेषाणामपि। ३ १।७०॥

न्यायवार्त्तिकम्

स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणि। कस्मादिति चेत् ?—केन कारणेन स्वानि गन्धादीनि इन्द्रियाणि नोपलभन्त इति ? सगुणानामिन्द्रियभावात्—सह गुणैरिन्द्रियं भवति, निर्गुणं तु नेन्द्रियम्। अतो न गृह्णाति। ३।१।७०।

पदार्थ की उत्पत्ति में समर्थ होने वाले विभक्त द्रव्य का संसर्ग (सम्बन्ध) जो व्यक्ति के धर्म-अधर्म संस्कार से कराया जाता है वह भूयस्त्व है। वस्तुतः भूयस्त्व शब्द प्रकर्ष अर्थ में देखा गया है, जैसे लोक में प्रकृष्ट विषय भूयान् कहा जाता है। और जैसे भिन्न-भिन्न अर्थक्रिया में समर्थ व्यक्ति के धर्म तथा अधर्म की सहायता से विष, औषधि तथा मणि आदि द्रव्य उत्पन्न होते है। ३।१ ६९।

अपने गुणों की (घ्राण आदि) इन्द्रिय उपलब्धि नहीं करती, यदि (कहो) क्यों ?

गुण सहितों के इन्द्रिय होने के कारण। ३।१।७०॥

घ्राण इत्यादि अपने गन्ध आदि को उपलब्ध नहीं करती। यदि (कहो) किस कारण से तो (उत्तर है) अपने गुणों के साथ घ्राण आदि के इन्द्रिय होने से—घ्राण समान कार्य करने वाले अपने गन्ध के साथ बाह्य गन्ध का ग्रहण करती है। सहायक के न होने से उसके द्वारा अपने गन्ध का ग्रहण नहीं होता। इसीप्रकार शेष (इन्द्रियों) के विषय में भी है। ३।१।७०॥

इन्द्रियाँ अपने गुणों की उपलब्धि नहीं करतीं। यदि (कहो) क्यों—किस कारण से अपने गन्धादि गुणों को इन्द्रियां उपलब्ध नहीं करतीं ? तो (उत्तर है) गुणों के साथ ये इन्द्रियाँ होती हैं— गुण के साथ (ही) इन्द्रिय होती है, गुण के बिना तो इन्द्रिय नहीं नहीं, इसलिये अपने गुण का ग्रहण नहीं करती। ३।१।७०॥

सगुणानामिन्द्रियभावात्—स्वगुणान् आदि प्रश्न का यह उत्तर है, अपने गुण सहित इन्द्रियाँ होने से। घ्राण अपने गन्ध सहित इन्द्रिय है, इसीप्रकार अन्य भी। वाचस्पति मिश्र ने घ्राण पार्थिव है, इसमें अनुमान दिया है 'घ्राणं पार्थिवम्, रूपरसगन्धस्पर्शेषु नियमेन गन्धस्य व्यञ्जकत्वात्, बाह्यपार्थिववदिति' टी० ५३०। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जाना जा सकता है। उत्तरकालीन आचार्यों ने वाचस्पति मिश्र का अनुसरण किया है। द्र० तर्कभाषा आदि।

निर्गुणं तु नेन्द्रियम्—बिना अपने गुण के कोई इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं, घ्राण भी बिना गन्ध के इन्द्रिय नहीं, अतः वह अपनी गन्ध का ग्रहण नहीं कर सकती।

यदि पुनर्गन्धः सहकारी च स्याद् घ्राणस्य ग्राह्यश्चेत्यत आह,

तेनैव तस्याग्रहणाच्च। ३।१।७१॥

न स्वगुणोपलब्धिरिन्द्रियाणाम् । यो ब्रूते 'यथा बाह्यं द्रव्यं चक्षुषा गृह्यते तथा तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्यतामिति' तादृगिदम् । तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति । ३।१।७१॥

न्यायवार्त्तिकम्

यदि पुनरिन्द्रियस्य सहकारी च गन्धः स्याद् ग्राह्यश्चेति ते नासाविन्द्रियगन्ध अथेन्द्रियगन्धो नेन्द्रियग्राह्यः स्यात् । गन्धञ्च गृह्णदिन्द्रियमात्मानं गृह्णीयात्, आत्मा ह्यस्य गन्ध इति ! न चात्मसाधनं करणमस्तीति दृष्टान्तविरोधः । न चैतत् प्रत्यक्षं यद् घ्राणगन्धो घ्राणग्राह्य इति ।

किन्तु यदि गन्ध घ्राण का सहायक भी हो और ग्राह्य भी हुआ करे ? इस पर कहते हैं,

उसी से उसका ग्रहण न होने के कारण भी । ३।१।७१॥

इन्द्रियों को अपने गुणों की उपलब्धि नहीं होती । जो कहता है कि जैसे बाह्य द्रव्य चक्षु के द्वारा गृहीत होता है उसी प्रकार उसी चक्षु से चक्षु का ग्रहण हो जाये, वैसा ही यह है । दोनों स्थानों में ज्ञान के हेतु का अभाव है । ३।१।७१॥

किन्तु यदि (तुम्हारे मत में) इन्द्रिय का सहकारी भी गन्ध हुआ करे तथा ग्राह्य भी ? तो वह इन्द्रिय की गन्ध न होगी । यदि इन्द्रिय की गन्ध होगी तो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य न होगी । (क्योंकि) गन्ध का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय अपने आपका ग्रहण करेगी, इसका स्वरूप (आत्मा) ही गन्ध है और करण (साधन) अपना साधन नहीं होता, अतः दृष्टान्त का विरोध है । यह प्रत्यक्ष भी नहीं कि घ्राण का गन्ध घ्राण द्वारा ग्राह्य होता है ।

यदि पुनः—शङ्का है कि यदि गन्ध आदि को घ्राणादि का सहकारी भी माना जाये और ग्राह्य भी । इसके समाधान के लिये सूत्र है ।

तेनैव तस्याग्रहणाच्च—वृत्तिकार ने इसका अर्थ अन्य प्रकार से किया है, (द्र० विश्वनाथवृत्ति) ।

अथेन्द्रियगन्धो नेन्द्रियग्राह्यः स्यात्—इन्द्रिय का गन्ध इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता, क्यों ?

गन्धञ्च गृह्णदिन्द्रियमात्मानं गृह्णीयात्—यहां च हेतु अर्थ में है, चो हेत्वर्थे, टी० ५३५ ।

चैतद्०—यह प्रत्यक्ष भी नहीं कि घ्राण का गन्ध घ्राण द्वारा गृहीत होता है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न शब्दगुणोपलब्धेः । ३।१।७२॥

'स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति' एतन्न भवति । उपलभ्यते हि स्वगुणः शब्दः श्रोत्रेणेति । ३।१।७२॥

न्यायवार्त्तिकम्

कस्मात् पुनरिदं न देश्यते घ्राणेन घ्राणं कस्मान्न गृह्यत इति ? न देश्यतेऽदृष्टत्वात्—न दृष्टं घ्राणेन घ्राणस्य ग्रहणमित्यतो न देश्यते' इति । तुल्यं घ्राणेन स्वस्य गन्धस्याग्रहणमित्येतदपि, अदेशनीयम् 'स्वगुणान्नोपलभन्त' इन्द्रियाणि कस्मादिति ? तुल्यो ह्युभयत्र हेत्वभावः । ३।१।७१॥

न शब्दगुणोपलब्धेः—स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणि, एतदयुक्तम् स्वगुण उपलभ्यते आकाशेन शब्द इति । ३।१।७२॥

(ठीक) नहीं, शब्द गुण की उपलब्धि होने से । ३।१।७२॥

इन्द्रियां अपने गुणों को उपलब्ध नहीं करतीं, ऐसा नहीं होता, वस्तुतः अपना गुण शब्द श्रोत्र के द्वारा उपलब्ध होता है ।३।१।७२॥

(सिद्धान्ती) किन्तु यह क्यों नहीं कहा जाता है कि घ्राण से घ्राण का ग्रहण क्यों नहीं होता ? (पूर्वपक्षी) यह नहीं कहा जाता अदृष्ट (न देखा गया) होने से—घ्राण से घ्राण का ग्रहण नहीं देखा गया, अतः (ऐसा) नहीं कहा गया । (सिद्धान्ती) यह भी समान ही है कि घ्राण से अपनी गन्ध का ग्रहण नहीं होता, यह भी न कहना चाहिये । अपने गुणों को इन्द्रियां नहीं उपलब्ध करतीं, दोनों स्थानों पर समान ही हेतु का अभाव है । ३।१७१॥

'न शब्दगुणोपलब्धेः' (यह सूत्र है) । इन्द्रियां अपने गुणों को उपलब्ध नहीं करतीं' यह (कथन) अयुक्त है, आकाश द्वारा अपने गुण शब्द की उपलब्धि होती है ।

न शब्दगुणोपलब्धेः—(सूत्र) पूर्वपक्ष का सूत्र है । भाव यह है कि श्रोत्र द्वारा अपने गुण शब्द की उपलब्धि होती है, यह ठीक नहीं कि इन्द्रियां अपने गुणों की उपलब्धि नहीं करती,

कस्मात् पुनरिदं न देश्यते—सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से पूछता है, टी० ५३५ ।

न देश्यते—पूर्वपक्षी उतर देता है, पूर्वपक्ष्याह न देश्यते, टी० ५३५।

तुल्यं घ्राणेन स्वस्य गन्धस्याग्रहणमित्येतदपि, अदेशनीयम्—यह सिद्धान्ती का कथन है, सिद्धान्तवाद्याह, टी० ५३५ । तुल्यतामेवापादयति, एतदप्यदेशनीयम्, टी० ५३५ ।

आकाशेन—वस्तुतः श्रोत्र आकाश ही है, उससे शब्द की उपलब्धि होती है, अतः अपने गुण की उपलब्धि होती ही है, यह शङ्का है ।

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् । ३।१।७३।।

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रिय भवति । न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः । न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षम्, नाप्यनुमीयते । अनुमीयते तु श्रोत्रेणाकाशेन शब्दस्य ग्रहणम्, शब्दगुणत्वं चाकाशस्य' इति । परिशेषश्चानुमानं वेदितव्यम् । आत्मा तावच्छ्रोता न करणम् । मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः । पृथिव्यादीनां घ्राणादिभावे सामर्थ्यं श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम् । अस्ति चेदं श्रोत्रम् आकाशं च शिष्यते । परिशेषादाकाशं श्रोत्रमिति । ३।१।७३।।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।।

न्यायवार्त्तिकम्

न पुनः श्रोत्रं सशब्दमिन्द्रियमिति—यथेतराणि सगुणानीन्द्रियाणि नैवमाकाशमिति । कस्मात् ? शब्दस्येतरगुणवैधर्म्यात आकाशस्येतरद्रव्यवैधर्म्यात् । अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं 'तदुपलब्धिरितरेतरधर्मवैधर्म्यात्' इति' सूत्रम ।

उस (शब्द) को उपलब्धि होती है परस्पर द्रव्यों के गुण भिन्न-भिन्न होने से। ३।१।७३।।

शब्द (गुण) से सगुण होकर आकाश इन्द्रिय (श्रोत्र इन्द्रिय) नहीं होता । अतः शब्द तो शब्द का व्यञ्जक नहीं । और घ्राण आदि का अपने गुण का ग्रहण न प्रत्यक्ष है, न अनुमान से जाना जाता है किन्तु श्रोत्र रूप आकाश से शब्द का ग्रहण होता है, यह अनुमान से जाना जाता है । (कैसे ?) आत्मा तो श्रोता है, वह करण (साधन) नहीं । मन को श्रोत्र मानने में कोई बहरा न होगा, पृथिवी आदि के घ्राणादि होने में सामर्थ्य है, श्रोत्र होने में नहीं । और यह श्रोत्र है तथा आकाश शेष है । (परिशेष) (अनुमान) से आकाश (ही) श्रोत्र है । ३।१।७३।

इसप्रकार श्रीवात्स्यायन के न्यायभाष्य में तृतीयाध्याय का आदिय आह्निक समाप्त ।

किन्तु श्रोत्र शब्द सहित इन्द्रिय नहीं—जैसे अन्य इन्द्रियां अपने गुणों सहित इन्द्रियां हैं, इसप्रकार आकाश नहीं । क्यों ? शब्द के अन्य गुणों से भिन्नता होने से तथा आकाश के दूसरे द्रव्यों से भिन्न होने से । इस भाव को सूचित करने के लिये यह सूत्र है 'तदुपलब्धिरितरेतरधर्मवैधर्म्यात्' (वार्त्तिक में यह सूत्र है ।)

स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षम्— न घ्राणादि का अपने गुण का ग्रहण प्रत्यक्ष है, न अनुमान से जाना जाता है।

अनुमीयते—श्रोत्र रूपी आकाश से शब्द का ग्रहण होता है, यह अनुमान किया जाता है ।

परिशेषश्च—द्र० परिशेषानुमान, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, (न्यायसूत्र तथा भाष्य १·५) ।

सशब्दम—शब्द सहित श्रोत्र इन्द्रिय नहीं जैसे घ्राणादि गन्धसहित इन्द्रिय है ।

आकाशस्येतरद्रव्यवैधर्म्यात्—अन्य द्रव्यों की अपेक्षा आकाश में पृथक् गुण होने से ।

तदुपलब्धिरितरधर्मवैधर्म्यात्—वार्त्तिक में ऐसा सूत्र है ।

न्यायवार्तिकम्

न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः, नाकाशं सगुणीमन्द्रियमिति । किं पुनरिदं श्रोत्रम् ? आकाशं परिशेषात् । तत्रात्मा तावन्न श्रोत्रम्, कर्तृत्वात्—श्रोता आत्मा न श्रोत्रम् । मनः श्रोत्रं भविष्यतीत्यपि न, मनसः श्रोत्रत्वेबधिराद्यभावः । सर्वविषयत्वाच्च मनसः, सर्वविषयं च श्रोत्रं प्राप्नोति । पृथिव्याद्यपि न श्रोत्रम्, घ्राणादिभावेन विनियोगात्—प्राघ्रादिविनियुक्ताः पृथिव्यादयः, श्रोत्रभावे च पृथिव्यादीनां तद्वैकल्पे शब्दानुपलब्धिप्रसङ्गः । त्वचः श्रोत्रभावे बधिराद्यभावः, सर्वो पद्यति च प्रायणम् । दिक्कालयोः श्रोत्रभावे च शब्दस्यान्यगुणत्वाद् । अग्रहणप्रसङ्गः । तद्गुणत्वमिति चेत ? नाम्नि विवादः—यस्य शब्दो गुणस्तदाकाशम्, भवता सञ्ज्ञामात्रं भिद्यते, 'तौ दिक्कालाविति' ।

शब्द (किसी) शब्द का व्यञ्जक नहीं ; आकाश अपने गुण सहित इन्द्रिय नहीं । किन्तु यह श्रोत्र क्या है ? आकाश (ही) परिशेष (अनुमान से श्रोत्र है) उनमें आत्मा तो श्रोत्र है नहीं, कर्ता होने से आत्मा श्रोता है, श्रोत्र (साधन) नहीं । मन श्रोत्र होगा, यह भी नहीं, मन के श्रोत्र होने पर (मानने पर) बधिर (बहरे), आदि का अभाव होता है ? और मन के सर्वविषयक होने से श्रोत्र भी सर्व विषयक प्राप्त होता है । पृथिवी आदि भी श्रोत्र नहीं, क्योंकि घ्राणादि की उत्पत्ति में इनका विनियोग ( ) किया जा चुका है—पृथिवी आदि का घ्राण आदि की उत्पत्ति में विनियोग किया जा चुका है, यदि श्रोत्र की उत्पत्ति में पृथिवी आदि कारण होंगे तो उनके अभाव में (वैकल्पे) शब्द की उपलब्धि न होगी । त्वचा के श्रोत्र रूप होने में बहरे (बधिर) आदि का अभाव होगा और सारी त्वचा का नाश होने पर मृत्यु होगी । दिशा और काल के श्रोत्र होने में शब्द अन्य (दिशा और काल से भिन्न) का गुण होगा अतः उसके ग्रहण न होने का प्रसङ्ग होगा । यदि उन (दिशा और काल) का गुण (शब्द को माना जाये) तो नाम में विवाद है—जिसका शब्द गुण है वह आकाश है आपके द्वारा नाममात्र का भेद किया जाता है (आप) उन्हें दिशा तथा काल कहते हैं—

घ्राणादीनाम्—प्रकाशित पुस्तक में घ्राणादीनां पाठ है, म० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के अनुसार पृथिव्यादीनां पाठ रखा गया है ।

न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः—जिसप्रकार गन्ध का व्यञ्जक गन्ध है, इसप्रकार शब्द का व्यञ्जक शब्द नहीं ।

नाकाश सगुणमिन्द्रियम्—श्रोत्र आकाश ही है, वह शब्दसहित इन्द्रिय नहीं ।

आकाशं परिशेषात्—आकाश ही श्रोत्र है, इसमें परिशेषानुमान है, परिशेष अनुमान आगे दिखलाया गया है ।

तद्गुणत्वमितिचेत्—शब्द को दिशा और काल का गुण ही मान लिया जाये, यदि ऐसा कहो ।

न्यायवार्तिकम्

आकाशप्रत्याख्यानं वाऽन्यगुणत्वाच्छब्दस्य—यदि शब्दो दिक्कालगुणो भवति, आकाशं तर्हि प्रत्याख्यातम् । न हि शब्दमन्तरेणाकाशास्तित्वे लिङ्गमिति[1], यथा दिक्कालयोः परापरादि[2] लिङ्गमिति । न च द्रव्यान्तरं शिष्यते । न च गुणानां श्रोत्रभावो युक्तः, न च कर्मणाम्, न च सामान्य विशेषसमवायानां सामर्थ्यानुपलब्धेः । न चेदं श्रोत्रं नास्ति शब्दोपलब्धिलिङ्गम् । शिस्यते चाकाशम् । तस्माद् आकाशं श्रोत्रमिति ।

३।१।७३॥

इति औद्द्योतके न्यायवार्त्तिके तृतीयस्याध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥

अथवा यह आकाश का प्रत्याख्यान है, शब्द के अन्य (दिशा और काल) का गुण होने से—यदि शब्द दिशा और काल का गुण होता है तो आकाश का प्रत्याख्यान कर दिया गया । वस्तुतः शब्द के विना आकाश की सता में कोई बोधक (लिङ्ग) नहीं, जैसे दिशा और काल की (सत्ता में) परापर आदि लिङ्ग है । और अन्य द्रव्य शेष नहीं तथा गुणों का श्रोत्र होना उचित नहीं, न ही कर्मों का और न सामान्य, विशेष एवं समवाय का; क्योंकि (उनमें श्रोत्र होने का) सामर्थ्य उपलब्ध नहीं होता । और यह श्रोत्र नहीं है, ऐसा भी नहीं, शब्द की उपलब्धि उसका लिङ्ग (बोधक) है । और आकाश ही शेष है, अतः आकाश ही श्रोत्र है । ३।१।७३॥

इस प्रकार उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में तृतीयाध्याय का प्रथम आह्निक है ।

तत्रात्मा तावन्न श्रालेम······आकाशप्रत्याख्यानं वा—यहाँ द्रव्य जो प्रसक्त (प्राप्त) थे, उनका प्रतिषेध किया गया है (प्रसक्तप्रतिषेधे) ।

आकाशप्रत्याख्यानं वाऽन्यगुणत्वाच्छब्दस्य—यदि शब्द दिशा और काल का गुण है तो आकाश का प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि शब्द के विना आकाश का बोधक (लिङ्ग) कोई नहीं हैं (न हि शब्द-मन्तरेणाकाशास्तित्वेलिङ्गमिति, ऊपरवार्त्तिक) ।

सामर्थ्यानुपलब्धेः—गुण, कर्म तथा सामान्यविशेषसमवाय में श्रोत्र होने का सामर्थ्य ही नही (अन्याप्रसक्तेः); क्योंकि इनमें श्रोत्र होने का सामर्थ्य उपलब्ध नहीं होता । रूपादिसाक्षात्कारे हि इन्द्रियाणामिन्द्रियत्वमेव स्वरूपसामर्थ्यं तच्चक्षुरादिद्रव्यस्य दृष्टं न गुणादीनामित्यर्थः, टी० ५३५ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

१. (बुद्धिनित्यतापरीक्षा)

परीक्षितानीन्द्रियाण्यर्थाश्च। बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः। सा किमनित्या नित्येवेति? कुतः संशयः?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ।३।२।१॥

अस्पर्शवत्वं ताभ्यां समानो धर्मनुपलभ्यते बुद्धौ। विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्ययश्च यथास्यमनित्ययास्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते। तेन संशय इति। ३।२।१॥

न्यायवार्त्तिकम्

परीक्षितानीन्द्रियाण्यर्थाश्च. बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः। सा किमनित्या नित्या वेति धर्मविचारः सत्वस्याधिगतत्वात्। तस्यां च संशयमुपपादयति[1]। कर्माकासाधर्म्यात् संशयः उभाभ्यां साधर्म्यमस्पर्शवत्वम्, विशेष उपजनापायधमकत्वं[2] विपर्ययश्च बुद्धौ नोपलभ्यते, ततः संशयः। ३।२।१॥

---

१. (बुद्धिनित्यतापरीक्षा)

इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) की परीक्षा की जा चुकी है। अब बुद्धि की परीक्षा का क्रम है। वह नित्य है या अनित्य। संशय क्यों है?

कर्म तथा आकाश से समानता के कारण संशय है। ३।२।१॥

स्पर्श का अभाव उन दोनों (कर्म तथा आकाश) के समान धर्म बुद्धि (ज्ञान) में उपलब्ध होता है और विशेष उत्पत्ति एवं विनाश के धर्म वाला होना अथवा उनका न होना (विपर्ययश्च) जो नित्य तथा अनित्य में होते है, उस बुद्धि में उपलब्ध नही होता। अतः सशय होता है। ३.२।१॥

इन्द्रियों तथा विषयों (अर्थों) की परीक्षा की गई, अब बुद्धि (ज्ञान) की परीक्षा का क्रम है। वह (बुद्धि) नित्य है अथवा अनित्य, यह धर्म का विचार हैं, क्योंकि उसकी सत्ता का ज्ञान हो चुका हैं। और उसमें संशय दिखलाते हैं, कर्माकाशसाध्यर्म्यात् संशयः (यह सूत्र है)। दोनों (कर्म तथा आकाश) से साधार्य है स्पर्श का अभाव होना और विशेष जो है उत्पत्ति एवं विनाश के धर्म वाला होना तथा उसके विपरीत होना (वह) बुद्धि (ज्ञान) में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये संशय है। ३।२।१॥

परीक्षाक्रमः—परीक्षा का क्रम (स्थान)। इन्द्रियपरीक्षा तथा अर्थपरीक्षा का बुद्धिपरोक्षा में उपयोग है अतः उनके पश्चात् यह की जाती है।

यथास्वम्—अनित्य में उत्पत्ति तथा विनाश होता है नित्य से नहीं।

सत्वस्याधिगतत्वात्—बुद्धि की सत्ता नैयायिक तथा प्रतिपक्षी ने भी मानी है।

कर्माकाशसाधर्म्यात्—स्पर्शरहित होना बुद्धि में कर्म (अनित्य) तथा आकाश (नित्य) की समानधर्मता है।

---

[1] उत्पादयति. पा०। [2] उपजननापायधर्मकत्वम्, पा०।

न्यायभाष्यम्

अनुपपन्नरूप:[1] खल्वयं संशयः। सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीया अनित्याबुद्धिः सुखादिवत्। भवति च संवित्तिः 'ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषायेति। न चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः। ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत् सिद्धम्। प्रमाणासिद्धं चेदं शास्त्रेऽप्युक्तम् 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इत्येवमादि, तस्मात्संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति।

न्यायवार्तिकम्

अनुपपन्न रूपः खल्वयं संशयः। सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेद नीयत्वात्—सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत् यद्नुता[2] नित्या बुद्धिरिति। त्रैकाल्यव्यक्तेश्च—बुद्धौ त्रैकाल्यं व्यज्यमानं दृष्टम्, जानामि ज्ञास्याम्यज्ञासिषमिति। न चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः। न ह्यनुपजनापायधर्मेषु आकाशादिषु त्रैकाल्य व्यज्यते। न च विशेषदर्शने सति युक्तः संशयः तस्मात् संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति। शेषं भाष्ये।

वस्तुतः यह संशय नही बनता (अनुपपन्नरूपः), क्योंकि सब शरीर धारियों की प्रत्येक आत्मा में यह जाना जाता है कि बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है, सुखादि के समान। और यह अनुभव (संवित्तिः—संवेदन) होता है कि जानूंगा, जानता हूँ, जान लिया और उत्पत्ति एवं विनाश के बिना तीनों कालों की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः तीनों कालों की अभिव्यक्ति होने से बुद्धि अनित्य है, यह निश्चित है। प्रमाण से सिद्ध यह शास्त्र में (न्यायशास्त्र में) भी कहा गया है, (प्रत्यक्ष) इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है' तथा 'एक साथ ज्ञानो की उत्पत्ति न होना मन का बोधक (लिङ्ग) हैं इत्यादि। अतः संशय की प्रक्रियाँ नहीं बनती।

वस्तुतः यह संशय नहीं बनता, सब शरीरधारियों की प्रत्येक आत्मा में जानने योग्य होने से—सब शरीरधारियों की प्रत्येक आत्मा में यह अनुभव होता है कि बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है। तीनों कालों की अभिव्यक्ति होने से भी—बुद्धि में तीनों कालों की अभिव्यक्ति होते हुए देखी गई है मैं जानता हूँ, जानूंगा मैंने जान लिया, इस प्रकार। और उत्पत्ति तथा विनाश के बिना तीनों कालों की व्यक्ति नहीं वस्तुतः उत्पत्ति तथा विनाश के धर्म से रहित आकाश आदि में तीनों कालों की व्यक्ति नहीं होती और विशेष का ज्ञान होने पर संशय होना युक्त नहीं। अतः संशय की प्रक्रिया नहीं बनती। शेष भाष्य में है।

अनुपपन्नरूपः—अनूपपन्न पाठान्तर है, रूपम् प्रत्यय है (प्रशंसायां रूपम् ५.३.६६)। प्राप्त ज्ञान के विषय में ही संशय होता है, वह यहाँ बनता नहीं, सांख्य भी बुद्धि को अनित्य मानता है: यदि सांख्य के अभिमत महत्व के विषय में संशय है तो उसकी सत्ता में भी सन्देह है, फिर उसके नित्यानित्य का सन्देह कैसे ? (द्र० टि० ५३६)।

शास्त्रेऽपि—न्यायशास्त्र में भी। इसके प्रमाण आगे दिये जा रहे हैं।

---

१. अनुपपन्नः, पा०। २. यद्वता, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं तु प्रकरणम् । एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिरिति, साधनं च प्रचक्षते,

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ।३।२।२ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम् ? यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति, ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । एतच्चावस्थितायाः बुद्धेरुपपन्नम् । नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः । नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिज्ञानातीति । ३।२।२ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं प्रकरणम् । न च बुद्धेरनित्यत्वं प्रतिपाद्यम्, अपि तु परस्य दर्शनं निवर्तनीयम्' इति । एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः 'नित्या बुद्धिरिति' । साधनं च प्रचक्षते 'विषयप्रत्यभिज्ञानादि'ति । यं पूर्वमज्ञासिषं तमिमं जानामि' इति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धानमवस्थितायाः बुद्धेरुपपन्नम्, बुद्धिनानात्वे प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः, यथा पुरुषान्तरबुद्धिषु । ३।२।२ ॥

यह प्रकरण तो दर्शन के प्रवाद को दूषित करने के लिये (उपालम्भार्थम्) है । वस्तुतः सांख्य के अनुयायी दर्शन (पश्यन्तः) ऐसा कहते हैं कि चेतन (पुरुष) का अन्तः करण होने वाली नित्य बुद्धि है और इसमें साधन (हेतु) कहते हैं ।

विषय के प्रत्यभिज्ञान से । ३।२।२ ॥

(प्रश्न) किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान क्या है ? (उत्तर) जिस अर्थ (विषय) को पहले जाना था उस इसको जान रहा हूँ, इस प्रकार दो ज्ञानों का समान विषय में प्रतिसन्धान ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान है और और यह स्थिर होने वाली बुद्धि का ही बन सकता है । बुद्धि-भेदों (प्रकारों) के भिन्न-भिन्न होने पर तथा उत्पन्न एवं नष्ट होने पर तो प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता । अन्य के जाने हुए को दूसरा प्रत्यभिज्ञात नहीं करता ॥३।२।२॥

दर्शन का प्रवाद दूषित करने के लिये यह प्रकरण है और यहाँ ज्ञान (बुद्धि) की अनित्यता नहीं बतलानी है अपि तु दूसरे का दर्शन (मत) निराकृत करना है । सांख्य दर्शन के अनुयायियों का प्रवाद है कि बुद्धि नित्य है और हेतु (साधनम्) बतलाते हैं 'विषयप्रत्यभिज्ञानात्' (यह सूत्र है) । 'जिस (पदार्थ) को पूर्व जाना था, उस इसको जान रहा हूँ', इस प्रकार दो ज्ञानों का समान विषय में प्रतिसन्धान स्थिर होने वाली बुद्धि में बन सकता है । बुद्धि के पृथक्-पृथक् होने पर प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता, जैसे दूसरे व्यक्ति की बुद्धियों में ॥३।२।२॥

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थम्—दर्शन के प्रवाद को दूषित करने के लिये (उपालम्भार्थम्) यह प्रकरण है । सांख्य दर्शन यह मानता है कि वृत्तियों से भिन्न बुद्धि है जो नित्य (परिणामिनित्य) है । बुद्धिमात्र की नित्यता तथा अनित्यता का विचार करके उसका निराकरण किया गया है । यहाँ दिखलाया गया है कि वृत्तियाँ ही बुद्धि हैं, उनसे भिन्न बुद्धितत्त्व नहीं है, अतः बुद्धि का जो लक्षण ऊपर किया गया है, वही ठीक है । टी० ५३६ ।

विषयप्रत्यभिज्ञानात्—विषय का प्रत्यभिज्ञान करके बुद्धि आत्मा का भी प्रत्यभिज्ञान करती है । पुरुष (आत्मा) तो वृत्तियों वाला (वृत्तिमान्) है नहीं, वह तो कूटस्थ नित्य है, टी० ५३६ ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

साध्यसमत्वादहेतुः । ३।२।३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यमेवं प्रत्यभिज्ञानमपि । किं कारणम् ? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः । पुरुषधर्मः खल्वयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति । चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति । तस्यैतस्माद् हेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति । करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयम् । नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं शक्यमस्तीति प्रतिपत्तुम् ।

न्यायवार्त्तिकम्

साध्यसमत्वादहेतुः । यथैव बुद्धेर्नित्यत्वं साध्यं तथैव बुद्धौ प्रत्यभिज्ञानमपि सार्मध्यम् । कस्मात् ? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तेः— पुरुषधर्मः खल्वयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धि बोध इति । चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानातीति तस्यैव तस्माद् हेतोर्नित्यत्वं युक्तम् ।

साध्य के समान होने से यह हेतु (ठीक) नहीं (अहेतुः) । ३।२।३ ॥

जिस प्रकार बुद्धि की नित्यता साधनीय है इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान की भी । क्या कारण है ? चेतन का धर्म कारण (साधन) में नहीं बनता । वस्तुतः यह चेतन (पुरुषः) का धर्म है ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, वोध, प्रत्यय एवं अध्यवसाय । चेतन ही पूर्व ज्ञात विषय (अर्थ) का प्रत्यभिज्ञान करता है, उसकी नित्यता इस हेतु से युक्ति-युक्त है । करण (बुद्धि) की चेतनता मान लेने पर तो चेतन का स्वरूप कहना होगा । जिसके स्वरूप का निर्देश न किया गया हो (ऐसा) बुद्धि से भिन्न आत्मा है, यह स्वीकृत नहीं किया जा सकता ।

'साध्यसमत्वादहेतुः' (यह सूत्र है) । जिस प्रकार बुद्धि की नित्यता साध्य है, उसी प्रकार बुद्धि में प्रत्यभिज्ञान होता है, यह भी साध्य है । क्यों ? चेतन (पुरुष) का धर्म करण (साधन) में न बनने से—वस्तुतः यह पुरुष (चेतन) का धर्म है ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, वोध । चेतन ही पहिले जाने अर्थ (विषय) का प्रत्यभिज्ञान करता है, उसकी ही उस हेतु से नित्यता (मानना) युक्त है ।

साध्यसमत्वादहेतुः—जैसे बुद्धि की नित्यता साध्य है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञान भी साध्य है, अतः यह हेतु ठीक नहीं है, अहेतु है । यह पूर्व सूत्र का दूषण सूत्र है ।

चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः— यह तो चेतन (पुरुष, आत्मा) का धर्म है कि वह पूर्वज्ञात अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करता है, यह अन्तःकरण (बुद्धि) में नहीं हो सकता । अतः प्रत्यभिज्ञात से पुरुष (आत्मा) की नित्यता साधी जा सकती है, (बुद्धि—अन्तःकरण) की नहीं । अन्तःकरण (बुद्धि) तो प्रत्यभिज्ञान में भासित ही नहीं होती । टी० ५३७ ।

न्यायवार्त्तिकम्

क्रियानाधारत्वाच्च करणस्य—न हि करणं क्रियाया आधारो भवति, उपलब्धिश्च क्रिया, सा च न करणे वर्त्तितुमर्हतीति । **स्वक्रियाधारत्वादयुक्तमिति चेत्**—अथ मन्यसे 'सर्वं कारकं स्वक्रियाया आधारो भवतीत्यतोऽयुक्तं क्रियानाधार इति ? सत्यम्, भवति स्वक्रियाधारो न पुनः स्वक्रियातः करणव्यपदेशः। स्वक्रियासु सर्वं कारकं कर्तृ भवति । करणभावं चाश्रित्य बुद्धौ विचारः, तस्मादयुक्तमेतत् । **सर्वकर्तृत्वप्रसङ्ग इति चेत्**—यदि पुनः स्वक्रियानिमित्तकः कर्तृव्यपदेशः, सर्वं कारकं कर्तृ प्राप्तम् ? सत्यमेतत् नाभ्युपगमा एव दोषत्वेन देश्यन्ते' इति । कर्तृकरणादिव्यपदेशश्च कथम् ? **प्रधानक्रियापेक्षः कर्तृकरणादिव्यपदेशः**—यदर्थं करणमुपादीयते सा प्रधानक्रिया, तस्यां च साधनभावे विवक्षिते, भेदे वाऽविवक्षिते कारकमित्यनेन—

और करण के क्रिया का आधार न होने से भी—(ऐसा मानने में) करण क्रिया का आधार नहीं होता, उपलब्धि ही (च) क्रिया है और वह करण में नहीं हो सकती, (शङ्का) यदि (करण के) अपनी क्रिया का आधार होने से यह अयुक्त है—यदि मानते हो कि सभी कारक अपनी क्रिया का आधार होते हैं, अतः यह अयुक्त है कि करण क्रिया का आधार नहीं। (समाधान) ठीक है, (करण) अपनी क्रिया का आधार होता है किन्तु (वह) अपनी क्रिया से करण नहीं कहलाता। अपनी क्रियाओं में तो सभी कारक कर्ता होते हैं, बुद्धि में करणत्व का आधार लेकर विचार किया जा रहा है, अतः यह युक्त नहीं। (शङ्का) यदि सभी (कारक) कर्ता होने लगेंगे किन्तु यदि अपनी क्रिया के निमित्त से कर्ता कहलाता है तो सब कारक कर्ता होंगे, यह प्राप्त होता है। (समाधान) यह ठीक है (किन्तु) किसी स्वीकृति को ही दोष रूप में नहीं कहा जाता। (शङ्का) (यदि अपनी क्रिया के प्रति सभी कर्ता हैं) तो कर्ता और करण आदि का व्यवहार कैसे होता है ? (समाधान) प्रधान क्रिया की अपेक्षा से कर्ता और करण आदि का व्यवहार होता है—जिसके लिये करण को लिया जाता है वह प्रधान क्रिया है और उसमें साधनत्व (करणत्व) की विवक्षा होने पर (कारण कहलाता है) अथवा भेद अविवक्षित होने पर—

क्रियानाधारत्वाच्च—करण प्रधान क्रिया का आधार नहीं होता। यहाँ प्रधान क्रिया उपलब्धि है वह जिसमें रहती है वह कर्ता है, करण नहीं। प्रत्यभिज्ञान से उसके आधार (आत्मा) की नित्यता सिद्ध की जा सकती है, करण (बुद्धि) की नहीं। टी० ५३७।

सर्वं कारकं क्रियाया आधारो भवति—यह पूर्वपक्ष की शङ्का है। इसका समाधान 'सत्यं भवति इत्यादि में दिया गया है।

प्रधानक्रियापेक्षः कर्तृकरणादिव्यपदेशः—प्रधान क्रिया के निमित्त से कर्ता करण आदि कहलाते हैं।

न्यायवार्त्तिकम्

शब्देनाभिलप्यन्ते कर्त्रादयः ? यदा तु भेदो विवक्षितस्तदा कर्तृकरणकर्मशब्दवाच्यानीति। कारकशब्देनापि सामान्येनाभिधीयमनिषु कारकेषु यः स्वगतो विशेषः इतरेतरव्यावृत्तः सोऽभिधीयतेऽन्यस्याभावात्। प्रधानक्रियापेक्षं तु कारकाणां कर्त्राद्यभिधानमिति[1]—तत्र यदितराप्रयोज्यमितरकारकप्रयोक्तृ च तत् कर्तृ, एवं शषेषु कारकशब्दाः पूर्ववद्-वक्तव्याः[2]। यद्यन्यकारकाप्रयोज्यत्वं कर्तृत्वं नन्वयमपि कारकोपादानेन प्रयुज्यते ? न प्रयुज्यते फलस्य प्रयोजकत्वात्—फलं कर्त्तारं प्रयोजयति, न कारकं करणादि, न च फलं कारकमिति तेषां तन्नान्तरीयकमुपादानम्—न हि करणादिकारकोपादानमन्तरेण क्रिया सम्भवतीति तन्नान्तरीयकत्वात् कारकाण्युपादीयन्त इति। तस्माच्चेतनधर्मः करणे न सम्भवतीति।

कारक शब्द से कर्ता आदि कहे जाते हैं ? किन्तु जब भेद करना इष्ट होता है, तब (वे) कर्ता, करण और कर्म शब्द के वाच्य होने हैं ? यद्यपि (अपि) सामान्यतः कारक शब्द से कहे जाते हैं तथापि जो उनका अपने में स्थित भेद है जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करता है वह (कर्ता आदि शब्द से) कहा जाता है क्योंकि अन्य कोई (भेदक) नहीं है। प्रधान क्रिया की अपेक्षा से तो कारकों का कर्ता आदि कथन होता है—उनमें जो दूसरे के द्वारा प्रयोज्य नहीं होता अन्य कारकों का प्रयोक्ता होता है वह कर्ता है, इसी प्रकार शेषों में भी कारक शब्द पूर्व के समान ही कहा जा सकता है। (शङ्का) यदि अन्य कारकों द्वारा प्रयोज्य (प्रयुक्त) न होना कर्तृत्व है, तब तो यह (कर्ता) भी कारकों के ग्रहण से प्रयोज्य होता है ? (समाधान) नहीं प्रयुक्त होता, फल के प्रयोजक होने से—कर्ता को फल प्रयुक्त करता है, करण आदि कारक नहीं और फल तो कारक नहीं, उन (करण आदि कारकों) का उसके लिये अनिवार्य होने से (नान्तरीमकम्) ग्रहण होता है—वस्तुतः करण आदि कारक के ग्रहण के बिना क्रिया नहीं हो सकती, अतः उस (कर्ता) के लिये अनिवार्य होने से (करणादि) कारकों का ग्रहण किया जाता है। इस-लिये चेतन का धर्म (प्रत्यभिज्ञान) करण (साधन, बुद्धि) में नहीं हो सकता।

कारकशब्देनापि—शङ्का है यदि भेदविवक्षा से कर्ता आदि शब्द की प्रवृत्ति होती है और भेद की विवक्षा न होने पर कारक शब्द की तो कर्ता कारक है करण कारक है यहाँ कारक शब्द का सामानाधिकरण्य कैसे हो जाता है। इसके समाधान के लिये कहा गया है कि सामान्य शब्द से कहा गया ही भेद कहने की इच्छा से कर्ता कारक आदि कहा जाता है। द्र० टी० ५३७।

अन्यस्याभावात्—अन्य कारकविशेष का कारक शब्द से सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, अतः कर्ता आदि शब्द से ही सामानाधिकरण्य बतलाया जाता है, टी० ५३७।

पूर्ववद्—द्वितीय अध्याय में कहे गये कारकविशेष के लक्षण का स्मरण कराया गया है, टी० ५३७।

यद्यन्यकारकाप्रयोज्यत्वम्—यह शङ्का है, इसका समाधान है 'न प्रयुज्यते', टी० ५३७।

न्यायवार्त्तिकम्

उपेत्य प्रत्यभिज्ञानमन्तःकरणे तस्यानेकव्यावृत्तेरसाधारणता। न हि प्रत्यभिज्ञानमेकत्वे दृष्टं न नानात्व इति, प्रत्यभिज्ञानेन स्वरूपावधारणे च सति विरुद्धः। यदा चेदं प्रत्यभिज्ञानं निरूप्यते तदा बुद्धिभेदं प्रतिपादयति। प्रत्यभिज्ञानं हि नामाद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम। न च बुद्ध्यभेदवादिनो द्वितीयमपि तावद्दर्शनमस्ति, कुतस्तृतीयमिति। प्रत्ययभेद इति चेत्—अथ मन्यसे अवस्थितायाः बुद्धेः प्रत्ययास्तिरोभवन्ति व्यज्यन्ते च, तत्राद्यदर्शनतिरोभावे च प्रत्ययान्तराविर्भावे प्रत्यभिज्ञानमिति। तन्न युक्तम्, तद्व्यतिरेकेण बुद्धिस्वभावानवधारणात् यां तां प्रत्ययव्यतिरिक्तां बुद्धिं भवन्तः कल्पयन्ति, तस्याः कः स्वभाव इति वक्तव्यम्। अस्माकं तु प्रत्ययमात्रं बुद्धिः—अर्थग्रहणं हि बुद्धिरिति। दर्शनदृष्टस्य स्पर्शनेन प्रत्यभिज्ञानात् नानात्वे प्रत्यभिज्ञानमिति विरुद्धः, प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेणेति।

प्रत्यभिज्ञान को अन्तःकरण (बुद्धि) में मानकर (भी) उसकी अनेकों से व्यावृत्ति होने के कारण असाधारणता होगी। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान न तो एक में देखा गया है न भिन्न-भिन्न होने पर। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान से स्वरूप को निश्चित करने में विरुद्ध (हेत्वाभास) होगा। जब भी यह प्रत्यभिज्ञान दिखलाया जाता है तब बुद्धि (ज्ञान) का भेद प्रतिपादित करता है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान है, प्रथम (आद्य) प्रत्यक्ष का नाश हो जाने पर द्वितीय दर्शन होने पर पूर्व प्रत्यक्ष से उत्पादित संस्कारों के अभिव्यक्त होने पर स्मृतिपूर्वक तृतीय दर्शन। और बुद्धि का अभेद मानने वाले (सांख्य के अनुयायी) के मत में दूसरा भी दर्शन नहीं है, फिर तृतीय दर्शन कहाँ? (शङ्का) यदि (कहो) बुद्धि की वृत्तियों का भेद है यदि मानते हो कि स्थिर बुद्धि की वृत्तियाँ तिरोभूत होती हैं और आविर्भूत हो जाती हैं (व्यज्यन्ते)? तब प्रथम दर्शन का तिरोभाव होने पर और अन्य वृत्ति का आविर्भाव होता हो तो प्रत्यभिज्ञान होता है? (समाधान) वह (ठीक) नहीं, उससे भिन्न बुद्धि का स्वभाव निश्चित न होने से—जो वह वृत्ति से भिन्न बुद्धि आप मानते हैं उसका क्या स्वभाव है, यह कहना होगा। हमारे (नैयायिक के) मत में तो वृत्ति (ज्ञान) मात्र ही बुद्धि है—वस्तुतः पदार्थ का ग्रहण ही बुद्धि है। चक्षु से देखे गये का स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञान हो जाने से (प्रत्यभिज्ञान बनता है)। नाना होने पर प्रत्यभिज्ञान होता है, यह विरुद्ध (हेत्वाभास) है, एक प्रदीप से देखे गये का अन्य प्रदीप से (प्रत्यभिज्ञान होता है)।

उपेत्य—स्वीकार करके, शास्त्र में यह अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। किसी मत का दोष दिखलाने के लिये उसे स्वीकार कर लिया जाता है।

प्रत्यभिज्ञानं हि—यहाँ प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप दिखलाया गया है।

तद्व्यतिरेकेण—ज्ञान या प्रत्यय से भिन्न बुद्धि का स्वरूप निश्चित नहीं।

अर्थग्रहणं हि बुद्धिः—पदार्थ का ग्रहण ही ज्ञान या बुद्धि है। यही मत आगे भी अपनाया गया है, द्र० तर्कभाषा।

न्यायभाष्यम

ज्ञानं चेद् बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते, चेतनस्येदानीं किं स्वरूपं को धर्मः किं तत्त्वम् ? ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनाय चेतनः किं करोतीति ? चेतयते इति चेत् ? न, ज्ञानादर्थान्तरवचनम्—पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानाति' इति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते। चेतयते जानीते बुध्यते पश्यति उपलभते इत्येकोऽयमर्थ इति। बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्–अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति। सत्यमेतत्, एवं चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरेषस्येति सिद्धं भवति, न बुद्धेरन्तःकरणस्येति।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि बुद्धिरध्यवस्यति ? अथ बुद्धौ वर्तमानेन ज्ञानेन चेतनः किं करोति, चेतयते इति ? कश्चेतयते ? यदि यस्याध्यवसायः स चेतयते, विरुद्धमेतत्। अथात्मा चेतयते ? कथं बुद्धौ वर्तमानेन प्रत्ययेनात्मा चेतयते—न ह्यन्यत्र वर्तमानया क्रिययाऽन्यस्य तद्वत्ता भवति।

ज्ञान यदि बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण का माना जाता है तो चेतन (पुरुष) का अब क्या स्वरूप है ? क्या धर्म है ? क्या तत्त्व है ? और बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से यह चेतन क्या करता है ? यदि (कहो) चेतना है (चेतयते) तो ज्ञान से अन्य (भिन्न) कुछ नहीं कहा जाता—पुरुष चेतना है, बुद्धि जानती है, यह ज्ञान से भिन्न बात नहीं कही जाती। चेतना (अनुभव करता) है, जानता है, बोध करता है, देखता है, उपलब्ध करता है, यह एक (ही) बात है। (शङ्का) यदि बुद्धि (पुरुष को) बोध कराती है ? अच्छा यदि पुरुष अनुभव करता है, बुद्धि बोध कराती है ? (समाधान) यह ठीक है, किन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान पुरुष को होता है, यह सिद्ध हो जाता है, बुद्धि अथवा अन्तःकरण का नहीं।

यदि बुद्धि अध्यवसाय करती है ? तब बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से चेतन क्या करता है ? यदि (कहो) चेतन (पुरुष) चेतता है, कौन चेतता है ? यदि जिसके अध्यवसाय है वह चेतता है तो यह विरुद्ध है। यदि आत्मा (पुरुष) चेतता है ? तो बुद्धि में विद्यमान ज्ञान (प्रत्यय) से पुरुष (आत्मा) कैसे चेतता है—क्योंकि अन्य स्थान में विद्यमान क्रिया द्वारा अन्य की तद्वत्ता नहीं होती।

चेतनः किं करोतीति—यह प्रश्न है जो सिद्धान्ती की ओर से किया गया है, इसका उत्तर है 'चेतयते' जो पूर्वपक्षी का है।

न ज्ञानादर्थान्तरवचनम्—जो ज्ञान है, वही चेतना है। बोध और उपलब्धि का भी वही अर्थ है। चेतना और अध्यवसाय का अभेद है, यह बुद्धि के लक्षण में कह दिया गया है, चेतनाऽध्वसायाभेदो बुद्धिलक्षणेऽस्माभिर्विचारितः, टी० ५३८।

बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्—यह सांख्य का सिद्धान्त कहा गया है।

जानीते पुरुषः—सांख्य का उपर्युक्त मत स्वीकार करने पर ज्ञान पुरुष (आत्मा) को ही होता है, यह सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार बुद्धि या अन्तःकरण को ज्ञान नहीं होता।

न्यायभाष्यम्

प्रतिपुरुषं च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम्—यश्च प्रतिजानीते 'कश्चित्पुरुषश्चेतयते कश्चिद् बुध्यते कश्चिदुपलभते कश्चित्पश्यतीति'। पुरुषान्तारानि खल्विमानि 'चेतनो बोद्धोपलब्धा द्रष्टेति नैकस्यैते धर्मा' इति। अत्र कः प्रतिषेधहेतुरिति। अर्थस्याभेद इति चेत्? समानम्—अभिन्नार्था एते शब्दा इति तत्र व्यवस्थानुपपत्तिः इत्येवं चेन्मन्यसे, समानं भवति, पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते। तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते' इति? नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते यावदुक्तं भवति चेतयते तावदुक्तं भवति आनीत[1] इति। बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्?—अथ मन्यसे बुद्धिर्ज्ञापयत्यात्मा जानीत' इति? अद्धा जानीते च पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति, अध्यवसायचेतनयोश्च स्वभावभेदो वक्तव्यः।

प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष) में भिन्न-भिन्न शब्दों की व्यवस्था मानने पर प्रतिषेध का हेतु कहना होगा—जो यह कहता है कि कोई व्यक्ति चेतता है, कोई समझता है (बुध्यते), कोई उपलब्ध करता है, कोई देखता है। वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं चेतन, बोद्धा उपलब्ध और द्रष्टा। ये एक के धर्म नहीं। इसमें प्रतिषेध का हेतु क्या है? यदि (कहो) कि अर्थ का अभेद (ही) प्रतिषेध का हेतु है तो समान है—ये शब्द अभिन्न अर्थ वाले हैं, अतः वहाँ व्यवस्था नहीं बनती, यदि ऐसा मानते हो तो समान (ही) है, आत्मा (पुरुष) चेतता है, बुद्धि जाननी है, यहाँ भी अर्थ भिन्न नहीं हैं। वहाँ दोनों (बुद्धि और पुरुष) के चेतन होने से किसी एक का लोप होगा (आवश्यकता नहीं)।

(शङ्का) यदि आत्मा (पुषष) अनुभव करता है, बुद्धि जानती है तो (समाधान) यह ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं कहा जाता, जो कहना या अनुभव करता है (चेतयते) वही कह दिया गया है जानता है (जानीते)। (शङ्का) यदि बुद्धि बोध कराती है—यदि मानते हो कि बुद्धि बोध कराती है, आत्मा (पुरुष) जानता है। (समाधान) यदि यह स्वीकार कर लें (अद्धा) कि आत्मा (पुरुष) जानता है बुद्धि बोध कराती है। तो अध्यवसाय तथा चेतना के स्वरूप का भेद कहना होगा।

प्रतिपुरुषं च—यह सिद्ध कर दिया कि ज्ञान पुरुष (आत्मा) को होता है, बुद्धि या अन्तःकरण को नहीं। अब दिखलाते हैं कि चेतयते बुध्यते आदि में भेद है।

तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोपः—यदि बुद्धि और पुरुष (आत्मा) दोनों ही चेतन होंगे तो एक को चेतन मानने से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा।

अध्यवसायचेतनयोश्च स्वभावभेदो वक्तव्यः—वाचस्पति मिश्र ने इनका भेद बुद्धि के लक्षण में दिखलाया है, टी० ५३८।

---

१. जानाति, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

भवताप्येकत्वं वक्तव्यम देशकालस्वभावाभेदात्—यस्मादविदेशमविकालं च बुद्धयाध्यवसितमात्माप्यध्यवस्यति। स्वभावाभेदोऽसिद्ध इति चेत्—अथ मन्यसे 'सत्यमभिन्नदेशमभिन्नकालं च बुद्धयाऽध्यवसितमात्माप्यध्यवस्यति, न पुन(र्यै)रचेतनात्मैवाध्यवसाय इति। न प्रतिशरीरमनेकपुरुषप्रसङ्गात्—यदि अन्यश्चेतयिता, अन्यश्चाध्यवसाता भवति, अन्यः प्रतिजानीते, अन्यः पश्यति, अन्यः शृणोति मन्तेत्येवमादिषु, पुरुषान्तराणि खल्विमानि द्रष्टा श्रोता मन्तेति, नैकस्यैते धर्मा इति। अत्र भवता किं वक्तव्यम्? अभिन्नार्था एते शब्दाः इत्येद् वक्तव्यम्, अभिन्नार्थास्तदेते शब्दा भवन्ति। नन्वत्राप्यर्थो न भिद्यते चेतनोऽध्यवसाता मन्ता बोद्धेति। तस्माद अयुक्तमेतद् बुद्धिरध्यवस्यत्यात्मा चेतयते' इति।

(शङ्का) आप (नैयायिक) को भी (दोषों की) एकता कहनी होगी? (समाधान) देश, काल तथा स्वभाव के अभेद से—क्योंकि देश के अभेद से तथा काल के अभेद से बुद्धि द्वारा जाने गये को आत्मा (पुरुष) अध्यवसित करता है (शङ्का)। यदि (कहा) स्वभाव का अभेद सिद्ध नहीं होता—यदि मानते हो कि ठीक है, बुद्धि से अध्यवसित को आत्मा (पुरुष) भी उसी देश तथा उसी काल में अध्यवसित कर लेता है किन्तु जिन्होंने अचेतन आत्मा ही अध्यवसाय (माना है) यह नहीं है। (समाधान) यह ठीक नहीं, प्रत्येक शरीर में अनेक पुरुषों (आत्माओं) का प्रसङ्ग होने से—यदि चेतयिता अन्य है, अध्यवसाता दूसरा है, अन्य जानता है, दूसरा देखता है, अन्य सुनता है और मानता है, इत्यादि वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न आत्मा (पुरुष) है, देखने वाला, सुनने वाला तथा मानने वाला, ये एक के धर्म नहीं। इसमें आप (सांख्य) को क्या कहना है? (उत्तर) ये शब्द समानार्थक हैं, यही कहना है। (सिद्धान्ती) निश्चय ही यहाँ भी अर्थ भिन्न नहीं, चेतन (चेतयिता), अध्यवसाता, मन्ता, बोद्धा (सब एक हैं)। इसलिये यह अयुक्त है कि बुद्धि अध्यवसाय करती है और पुरुष (आत्मा) चेतता है।

भवताप्येकत्वं वक्तव्यम्—यह सांख्य की शङ्का है जिसका समाधान 'देशकाल' आदि में किया गया है।

स्वभावभेदोऽसिद्ध इति—यह भी सांख्य की शङ्का है। इसका समाधान है 'प्रतिशरीमनेकपुरुषप्रसङ्गात्'।

पुनर्यैरचेतनात्मैवाध्यवसायः—बनारस सं० तथा पुरी संस्करण दोनों में एक ही पाठ है, म० गङ्गानाथ झा ने 'पुनश्चेतन' इत्यादि पाठ रक्खा है (पृ० १२७८)। यहाँ यथोपलब्ध पाठ लेकर ही अनुवाद किया गया है। जिन्होंने अचेतन आत्मा (को) ही अध्यवसाय (माना है) वह नहीं है। नैयायिक मत में आत्मा अचेतन है, उसमें मन के योग से चेतनता आती है।

न्यायभाष्यम्

यदि पुनर्बुध्यतेऽनयेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते, तच्च नित्यम्' अस्त्येतद् एवम्, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वम्। दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानम्, 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' इति चक्षुवत्, प्रदीपवच्च—प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति। तस्माज् ज्ञातुरय नित्यत्वे हेतुरिति। ३।२।३॥

न्यायवार्त्तिकम्

यदि पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानं मनसो नित्यत्वसाधकम्[1], स्यात्? न युक्तमेवं भवितुम्। मनसो नित्यत्वाभ्युपगमात्[2]—अभ्युपगम्यते मनसो नित्यत्वमिति, तत्र साधनमनर्थकम्। अनेकान्ताच्च—न प्रत्यभिज्ञानात् करणैकत्वं सिध्यति दृष्टं करणभेदेऽपि प्रत्यभिज्ञानं ज्ञातुरेकत्वात्—दर्शनदृष्टस्य स्पर्शनेन प्रत्यभिज्ञानात्, प्रदीपदृष्टस्य प्रदीपान्तरेणेति ॥३।२।३॥

(शङ्का) किन्तु यदि जिससे जाना जाता है वह बोधन है (यहाँ) बुद्धि मन को ही कहा जाता है और वह नित्य है। (समाधान) यह ऐसा है, किन्तु विषय के प्रत्यभिज्ञान से मन की नित्यता नहीं। वस्तुतः करण (साधन) का भेद होने पर ज्ञाता के एक होने से प्रत्यभिज्ञान देखा गया है, बाँयें नेत्र (सव्य) देखे गये का दाँयें से (इतरेण =अन्य से) प्रत्यभिज्ञान होने से, इस प्रकार नेत्र के समान तथा प्रदीप के समान—अन्य प्रदीप से देखे गये का दूसरे प्रदीप से प्रत्यभिज्ञान होता है। इसलिये यह ज्ञाता (आत्मा) की नित्यता में हेतु है। ३।२।३॥

(शङ्का) किन्तु यदि यह प्रत्यभिज्ञान मन की नित्यता का साधक हो (समाधान) ऐसा होना युक्त नहीं, मन की नित्यता स्वीकार कर लेने से—मन की नित्यता मानी गई है, उसमें साधन (हेतु) अनर्थक है। अनेकान्त भी (सव्यभिचार) है—प्रत्यभिज्ञान से करणों की एकता सिद्ध नहीं होती, करणों का भेद होने पर भी प्रत्यभिज्ञान देखा गया है, ज्ञाता के एक होन से—चक्षु से देखे गये का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञान होने से तथा अन्य प्रदीप से देखे गये का दूसरे प्रदीप से प्रत्यभिज्ञान होने से ॥३।२।३॥

अस्त्येतत्—मन नित्य है किन्तु मन की नित्यता में प्रत्यभिज्ञान हेतु नहीं है।

करणभेदे—करण का भेद होने पर भी ज्ञाता के अभेद से उसकी नित्यता जानी जाती है, जैसे एक नेत्र से देखे गये का दूसरे नेत्र से प्रत्यभिज्ञान होता है, एक दीपक से देखे गये का अन्य दीपक से। वस्तुतः ज्ञाता के एक होने पर ही यह सम्भव है।

मनसो नित्यत्वसाधकम्—मन की नित्यता का साधक, यह पूर्वपक्ष है, इसका समाधान 'न युक्तमेव भवितुम्' आदि में किया गया है।

साधनमनर्थकम्—मन की नित्यता मानी ही गई है, उसके लिये साधन देना अनर्थक है।

---

१. साधनं, पा०। २. नित्यस्याभ्युपगमात्, पा०।

न्यायसूत्र भाष्य च

यच्च मन्यते 'बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति, तच्च,

न, युगपदग्रहणात् । ३।२।४ ।।

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद वृत्तीनामवस्थानमिति, यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्ते' इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यते' इति । ३।२।४ ।।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः । ३।२।५ ।।

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते, विपर्यये च नानात्वमिति । ३।२।५ ।।

न्यायवार्त्तिकम्

यन्त्विदं मन्यते बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयः प्रादुर्भवन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति[1] । तच्च 'न युगपदग्रहणात्', वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तिरवस्थानमिति सूत्रार्थः ।।३।२ ४।।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः । वृत्तीनामपगमे वृत्तिमतोऽप्यपगम इति सूत्रार्थः ।।३।२।५।।

जो (सांख्य) यह मानता है कि स्थित बुद्धि की प्रत्येक विषय में वृत्ति अथवा ज्ञान होते हैं और वृत्ति वृत्तिमान् (बुद्धि) से भिन्न नहीं है वह नहीं,

एक साथ (पदार्थों का) ग्रहण न होने से । ३।२।४ ।।

वृत्ति (ज्ञान) के वृत्तिमान् (बुद्धि) से अभेद होने पर वृत्तिमान् के स्थित रहने से वृत्तियों की भी स्थिति होगी—जो विषय के ज्ञान (ग्रहणानि) है, वे (भी) स्थित रहेंगे, अतः एक साथ विषयों का ग्रहण होगा ।।३।२।४।।

प्रत्यभिज्ञान के न होने पर (बुद्धि का) विनाश होने लगेगा । ३।२।५ ।।

प्रत्यभिज्ञान के समाप्त होने पर वृत्तिमान् (बुद्धि) भी समाप्त होगी, इस प्रकार बुद्धि का (अन्तःकरणस्य) विनाश होने लगेगा । यदि ऐसा नहीं है (विपर्यये च) तो वृत्ति तथा वृत्तिमान् मे भेद होना है ।।३ २।५।।

जो यह माना जाता है कि बुद्धि अवस्थित है उसकी वृत्तियाँ प्रत्येक विषय में प्रादुर्भूत होती हैं और वृत्ति एवं वृत्तिमान् में भेद नहीं । वह (ठीक) नहीं । 'न युगपदग्रहणात्' (यह सूत्र है) सूत्रार्थ है वृत्तिमान् के स्थित रहने से वृत्तियों की स्थिति होगी (अतः एक साथ पदार्थों का ग्रहण होगा, जो होता नहीं) ।।३।२।५।।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः' (यह सूत्र है) । वृत्तियों का विनाश होने पर वृत्तिमान् का (बुद्धि का) भी विनाश होगा, यह सूत्रार्थ है ।।३।२।४।।

न युगपदग्रहणात्—यह पूर्वपक्ष का निराकरण है, 'वृत्तिमतोऽवस्थानात् वृत्त्यवस्थानप्रसङ्ग इति सूत्रार्थः, टी० ५३८ ।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः—यह भी पूर्वपक्ष का निराकरण है, प्रत्यभिज्ञान का विनाश होने पर बुद्धि का भी विनाश होने लगेगा, वृत्तीनामपगमे · · · सूत्रार्थः (वार्त्तिक) ।

---

[1] अनन्येति, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अविभु चैकं मनःपर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यते' इति ।

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ।३।२।१६ ।।

इन्द्रियार्थानाम् । वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वाद् इति । एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति । ३।२।१६ ।।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् । ३।२।१७ ।।

अप्रत्यभिज्ञानमनुपलब्धिः । अनुपलब्धिश्च कस्यचिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनसि उपपद्यते, वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वात्, एकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति । ३।२।१७ ।।

न्यायवार्तिकम्

अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः सम्बध्यते' इति । क्रमवृत्तित्वादयुगपदग्रहणम् वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वाद्' इति सूत्रार्थः । वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वे प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति ।।३।२।१६।।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात्' इति वृत्तिवृत्तिमतोर्भेदे सत्युपपद्यते । एकत्वे सत्यनर्थको व्यासङ्ग इति ।

व्यापक न होने वाला (अविभु) एक मन है, वह क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग करता है,

क्रमशः मन को वृत्ति होने से एक साथ दो ज्ञान नहीं होते । ३।२।१६ ।।

इन्द्रियों के विषयों (अर्थों) का । वृत्ति तथा वृत्तिमान् के भिन्न-भिन्न होने से । इनके एक होने पर तो (वृत्तियों का) आविर्भाव एवं तिरोभाव नहीं होगा ।।३।२।१६।।

(विषय की) अनुपलब्धि तो (मन के) अन्य विषय में व्यस्त होने से होती है । ३।२।१७ ।।

अप्रत्यभिज्ञान=अनुपलब्धि । किसी पदार्थ की अनुपलब्धि अन्य विषय मे मन के व्यस्त होने पर हो सकती है; क्योंकि वृत्ति (व्यापार) वृत्तिमान् (मन) भिन्न-भिन्न हैं । वस्तुतः एक होने पर (मन का) व्यस्त होना अनर्थक हो जाये ।।३।२।१७।।

मन व्यापक नहीं (अणु), एक है, वह क्रमशः इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होता है । क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् (यह सूत्र है), सूत्र का अर्थ है वृत्ति तथा वृत्तिमान् (मन) भिन्न-भिन्न हैं । वृत्ति तथा वृत्तिमान् के एक होने पर (वृत्तियों का) प्रादुर्भाव एवं तिरोभाव नहीं होगा ।।३।२।१६।।

'अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात्' (यह सूत्र है) । (यह) वृत्ति एवं वृत्तिमान् का भेद होने पर बन सकता है । एक होने पर व्यस्त होना (व्यासङ्गः) अनर्थक होगा ।

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम्—अपने (नैयायिक के) मत में अयुगपद् ग्रहण कैसे होता है ? यह बतलाते हैं, मन अणु है, वह किसी इन्द्रिय से क्रमशः ही मिलता है, तभी उस इन्द्रिय से ज्ञान होता है ।

अप्रत्यभिज्ञानं च—यहाँ अप्रत्यभिज्ञान का कारण बतलाया गया है, अप्रत्यभिज्ञान का अर्थ भाष्यकर ने अनुपलब्धि किया है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः,

न, गत्यभावात् । ३।२।८ ॥

प्राप्तानीन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः । तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद्ग्रहणानुपपत्तिरिति । गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद्ग्रहणम् न लिङ्गान्तरेणानुमीयते' इति । यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात् पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानेन प्रतीघाते सानुमीयते' इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

विभुत्वे चान्त.करणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः 'न, गत्यभावात् । प्राप्तान्यन्तःकरणेनेन्द्रियाणि' इति सूत्रार्थः । व्यापित्वे च युगपद् अनेकेन्द्रियसम्बन्धाद् युगपद्ग्रहणप्रसङ्गश्च दोषः ।।३।२।८।।

अन्तःकरण के व्यापक होने पर क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग,

न होगा, गति न होने के कारण । ३।२।८ ॥

अन्त.करण के द्वारा इन्द्रियाँ प्राप्त ही हैं, अतः प्राप्ति के लिये गमन का अभाव होगा । वहाँ क्रमशः व्यापार (वृत्ति) न होने के कारण ज्ञान का एक साथ न होना नहीं बनता । गति के न होने से प्रतिषेध किया गया व्यापक अन्तःकरण का एक साथ दो (पदार्थों का) ग्रहण करना अन्य लिङ्ग (बोधक) से अनुमान नहीं किया जाता; जैसे चक्षु की गति का प्रतिषेध होने पर समीप के तथा दूर के (पदार्थों का) समान काल में ग्रहण होने से हाथ और चन्द्रमा के व्यवधान से प्रतिघात होने पर उस (गति) का अनुमान कर लिया जाता है ।

अन्तःकरण के व्यापक होने पर क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग होता है ऐसा नहीं 'न गत्यभावात्' (यह सूत्र है) । तब अन्तःकरण के द्वारा इन्द्रियाँ प्राप्त ही हैं, यह सूत्र का अर्थ है । और (अन्तःकरण के) व्यापक होने पर एक साथ अनेक इन्द्रियों से सम्बन्ध होने के कारण (दो पदार्थों का) एक साथ ग्रहण (ज्ञान) होने का प्रसङ्ग, यह दोष होता है ।

न गत्यभावात्—यह सिद्धान्ती का सूत्र है । इसका अभिप्राय है यदि मन या बुद्धि (अन्तःकरण) को व्यापक माना जायेगा तो उसका गमन (गति) न होने के कारण उससे सभी इन्द्रियों का सम्बन्ध होगा, 'प्राप्तान्यतःकरणेनेन्द्रियाणि' इति सूत्रार्थः (ऊपर वार्तिक) ।

न लिङ्गान्तरेणानुमीयते— अन्य किसी बोधक (लिङ्ग) से उसका अनुमान नहीं किया जाता ।

साऽनुमीयते—आगे यह स्पष्ट होगा ।

युगपदनेकेन्द्रियसम्बन्धात्— जब अन्तःकरण व्यापक (विभु) होगा तो उसका एक साथ अनेक इन्द्रियों से सम्बन्ध होगा, अतः एक साथ अनेक इन्द्रियों का ज्ञान होने लगेगा ।

न्यायवार्तिकम्

अणावपि मनस्येकेन्द्रियग्राह्येषु युगपदुपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत् ? करणत्वान्न युगपद् ग्रहणम् । ममाप्येवं कस्मान्न परिहारः ? न, कारणभेदे दृष्टत्वात्—यानि खल्व-भिन्नानि (खलु भिन्नानि) कारणानि तान्येकेनैवाधिष्ठायकेनाधिष्ठितानि युगपत् प्रवर्तमानानि दृष्टानि, यथोभयहस्ताधिष्ठिते वास्यौ प्रवर्तेते, तथेन्द्रियाणि व्यापकेनान्तः-करणेनाधिष्ठीयन्त इति युगपत् प्रवृत्तिः प्रसक्ता, तत्प्रसक्तौ च युगपद्ग्रहणप्रसङ्ग इति ।

गत्यभावाच्च—विभुनोऽन्तःकरणस्य प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावात् । न चायुग-पत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रमाणमस्ति, येन प्रमाणेन प्रतिषिद्धमपि प्रत्ययायौगपद्यं प्रतिपद्येत यथा किञ्चित् प्रतिषिद्धमपि प्रतिपद्यते, यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा केनचित् सन्निकर्ष-विप्रकर्षयोस्तुल्यकालग्रहणात् यस्मात् सन्निकृष्टं पाणिं विप्रकृष्टं चन्द्रमसमेकस्मिन् काले चक्षुषा प्रतिपद्यते तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति विप्रतिषिद्धापि सती गतिर्व्यवधानप्रतिघाते-नानुमीयते' इति । न च युगपत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रमाणमस्ति ।

(शङ्का) यदि मन के अणु होने पर भी एक इन्द्रिय के ग्राह्यों (विषयों) में एक साथ उपलब्धि का प्रसङ्ग होता है ? (समाधान) करण होने से एक साथ ग्रहण नहीं होता। (शङ्का, सांख्य) मेरे मत भी में यह परिहार क्यों नहीं है। (समाधान) नहीं, कारण का भेद होने पर (युगपत्प्रवृत्ति) देखी जाने से—जो ये भिन्न-भिन्न कारण होते हैं वे एक ही अधिष्ठायक से अधिष्ठित होकर एक साथ प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, जैसे दोनों हाथों से अधिष्ठित वसूले (वास्यौ) प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ (भी) एक व्यापक अन्तःकरण से अधिष्ठित होती हैं, अतः एक साथ प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और उसके प्राप्त होने पर एक साथ दो पदार्थों का ग्रहण होने लगेगा।

गमन के अभाव से भी (च)—व्यापक अन्तःकरण का (इन्द्रियों की) प्राप्ति के लिये गमन नहीं होता और (व्यापक अन्तःकरण का) एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण नहीं है जिससे प्रतिषिद्ध भी ज्ञानों के एक साथ न होने को स्वीकार लिया जाये, जैसे प्रतिषिद्ध भी कुछ स्वीकार लिया जाता है, जिस प्रकार किसी (बौद्ध) से प्रतिषिद्ध चक्ष की गति समीप तथा दूर के (पदार्थों के) समान काल में ग्रहण से—क्योंकि समीप के हाथ को और दूर के चन्द्रमा को चक्ष द्वारा एक काल में जान लिया जाता है, अतः प्रतिषेध की गई भी (चक्षु की) गति ओट (व्यवधान) से रुकने के कारण (प्रतिघातेन) अनुमान से जान ली जाती है। और इस प्रकार एक साथ ज्ञान उत्पन्न होने में तो प्रमाण नहीं है।

अणावपि—यह पूर्वपक्षी की शङ्का है, इसका समाधान है 'करणत्वाद्' इत्यादि।

ममाप्येवं कस्मान्न—यह सांख्य की शङ्का है, इसका समाधान है 'न कारणभेदे दृष्टत्वात्'। टी० ५३८।

खल्वभिन्नानि—यहाँ खलु भिन्नानि पाठ शुद्ध है (म० गङ्गानाथ झा, १२८५)।

केनचित्—बौद्ध ने चक्षु की गति का प्रतिषेध किया है।

न्यायभाष्यम्

सोऽयं नान्तःकरणे विवादो न तस्य नित्यत्वे। सिद्धं हि मनोऽन्तःकरणं नित्यं चेति। क्व तर्हि विवादः? तस्य विभुत्वे। तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः प्रतिषिद्धमिति।

एकं चान्तःकरणं नाना चैता ज्ञानात्मिका वृत्तयः, चक्षुर्विज्ञानं घ्राणविज्ञानं रूपविज्ञानं गन्धविज्ञानम्। एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वेऽनुपपन्नमिति। पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति।

न्यायवार्तिकम्

सोऽयं नान्तःकरणे विवादो न तस्य नित्यत्वे। कुतस्तर्हि विवादः? तस्य विभुत्वे। तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेर्नास्ति—न ह्यन्तःकरणस्य विभुप्रतिपादकं प्रमाणमस्ति।

एकमन्तःकरणं नाना चेमाश्चक्षुर्विज्ञानाद्यात्मिका वृत्तय इति, एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वेऽनुपपन्नम्—यस्य पुनर्वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वं तस्यान्तःकरणसाधनश्चक्षुरादिसाधनश्चात्मा अर्थानुपलभते' इति युक्तम्।

वह यह अन्तःकरण (की सत्ता) में विवाद नहीं, न उसकी नित्यता में (ही)। वस्तुतः यह निश्चित है कि मन अन्तःकरण है और वह नित्य है। तब विवाद कहाँ है? उस (अन्तःकरण) की व्यापकता में। और वह प्रमाण से उपलब्ध नहीं होती, अतः उसका प्रतिषेध किया है।

अन्तःकरण एक है और उसकी ज्ञानरूप वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं (जैसे) चाक्षुष ज्ञान, घ्राण का विज्ञान, रूपविज्ञान तथा गन्धविज्ञान। यह वृत्ति (व्यापार) तथा वृत्तिमान् (बुद्धि) के एक होने में नहीं बनता, अतः पुरुष (आत्मा) जानता है, अन्तःकरण (बुद्धि) नहीं।

वह यह न तो अन्तःकरण में विवाद है न उसकी नित्यता में। तब विवाद क्यों है? उस (अन्तःकरण) के व्यापक होने में और वह (व्यापकता) प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण नहीं है—अन्तःकरण की व्यापकता को सिद्ध करने वाला प्रमाण नहीं है।

अन्तःकरण एक है तथा ये चक्षुविज्ञान आदि के रूप में वृत्तियाँ अनेक है। यह वृत्ति तथा वृत्तिमान् (अन्तःकरण, बुद्धि) के एक होने में नहीं बनता—किन्तु जिसके (मत में) वृत्ति तथा वृत्तिमान् में भेद है उसके (मत में) अन्तःकरण से सिद्ध होने वाला तथा चक्षुरादि से सिद्ध होने वाला आत्मा विषयों (अर्थान्) को उपलब्ध करता है, यह युक्त है।

पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति—यह अपने मत को बतलाने वाला भाष्य है, टी० ५३६।

यस्य पुनर्वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वम्—यह व्यासङ्ग भी वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद में ही बन सकता है। न्यायमत में आत्मा मन के साधन से तथा इन्द्रियों के साधन से अर्थों की उपलब्धि करता है। मन (अन्तःकरण) की वृत्तियाँ मानने पर ही यह सब संभव है।

न्यायभाष्यम्

एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः। विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य नान्तःकरणस्येति। केनचिदिन्द्रियेण सन्निधिः केनचिदसन्निधिरित्ययं तु व्यासङ्गोऽनुज्ञायते मनस इति। ३।२।८॥

न्यायवार्त्तिकम्

एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः, पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति। कः पुनरयं व्यासङ्गः? अभीष्टविषयोऽनेकविज्ञानोत्पादः, स च पुरुषस्य नान्तःकरणस्य यः पुनरयं सन्निधानासन्निधानलक्षणोऽन्तःकरणस्य व्यासङ्गः सोऽनुज्ञात इति। ३।२।८॥

इस (कथन) से (अन्तःकरण की) अन्य विषय में व्यस्तता का भी निराकरण हो गया—अन्य विषय का ग्रहण है स्वरूप लक्षण) जिसका वह अन्य विषय में व्यस्तता भी पुरुष की होती है, अन्तःकरण (बुद्धि) की नहीं। किसी इन्द्रिय के समीप स्थिति किसी के समीप न स्थिति यह व्यस्तता तो मन की (भी) मानी जाती है (अनुमत है) ॥३।२।८॥

इस (कथन) से (अन्तःकरण की) अन्य विषय में व्यस्तता का निराकरण हो गया। पुरुष (आत्मा) जानता है, अन्तःकरण (बुद्धि) नहीं। (प्रश्न) किन्तु यह व्यस्तता क्या है? (उत्तर) अभीष्ट (पसन्द आने वाले) विषय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति ही व्यस्तता है, और वह (व्यस्तता) पुरुष को होती है, अन्तःकरण को नहीं, किन्तु जो यह किसी इन्द्रिय के समीप स्थित होना तथा (किसी के) समीप न स्थित होना रूप व्यस्तता है वह मन (अन्तःकरण) की भी अनुमत है ॥३।२।८॥

एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः—सांख्य के मत का निराकरण करने के लिये यह भाष्य है वार्त्तिककार उसको उद्धृत करते हुए उसकी व्याख्या करते हैं, एतेनेति, टी० ५३९।

पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति—यह जो भाष्य में कहा गया है कि पुरुष जानता है, अन्तःकरण (बुद्धि या मन) नहीं, जब यह निश्चित है कि पुरुष (आत्मा) जानता है अन्तःकरण नहीं तो व्यासक्ति (व्यासङ्ग) भी पुरुष को ही होता है, व्यासक्तो हि स भवति यो जानीते। न चान्तःकरणं जानीते किं तु पुरुष इति, टी० ५३९।

कः पुनरयं व्यासङ्गः?—यह प्रश्न है, भाष्यकार ने इसका उत्तर बिना प्रश्न किये ही दे दिया है, 'विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः' किन्तु वार्त्तिककार ने प्रश्न करके उत्तर दिया है 'अभीष्टविषयोऽनेकविज्ञानोत्पादः'। यह तो आत्मा का व्यासङ्ग है।

केनचिदिन्द्रियेण सन्निधिः—इस भाष्य की व्याख्या है 'यः पुनरयम' इत्यादि। अस्मादृशस्त्वन्तःकरणस्य व्यासङ्गो न निषिध्यत इत्यर्थः। टी०, ५३९।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

एकमन्तःकरणं नाना वृत्तय इति। सत्यभेदे वृत्तेरिदमुच्यते,

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः। ३।२।६॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानः; यथा द्रव्यन्तरोपहितस्फटिकद्रव्येऽन्यत्वाभिमानो नीलो लोहित इति, एवं विषयान्तरोपधानाद्' इति।

न्यायवार्तिकम्

एकमन्तःकरणं नाना वृत्तय इति, नैतन्न्यायवित्संचक्षाणकः प्रतिपत्तुमर्हति, यथैवान्तःकरणमेकं तथा वृत्तिरिति दृष्टविरोध इति चेत्—अथ मन्यसे यदि चान्तःकरणान्न वृत्तिर्भिद्यते ननु दृष्टं विरुद्ध्यते, रूपं रसो गन्धः स्पर्श इति दृष्टः प्रत्ययभेदो न स्यात ? न, न स्यात् विषयभेदानुविधानात्—वृत्तिरभिन्नापि विषयभेदमनुविधीयमाना भिन्ने वख्याति, यथोपधानभेदमनुविधीयमानं स्फटिकादिद्रव्यं भिन्नमिव प्रकाशते। अस्य चार्थस्य ज्ञापनार्थं 'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः' इति सूत्रम्।

अन्तःकरण एक है, वृत्तियाँ अनेक हैं। वृत्ति का अभेद होने पर यह कहा जाता है,

स्फटिक मणि के अन्यत्व के भ्रम के समान उसमें अन्यत्व का भ्रम होता है। ३।२।६॥

उस वृत्ति में भिन्नता की भ्रान्ति है जैसे अन्य द्रव्य की उपाधि से युक्त स्फटिक द्रव्य में भिन्न होने की भ्रान्ति हो जाती है कि यह नील है, लाल (लोहित) है, इसी प्रकार अन्य विषय की उपाधि से (वृत्ति में भेद हो जाता है)।

अन्तःकरण एक है, वृत्तियाँ अनेक हैं इसे न्यायवादी व्याख्याता (संचक्षाणक) स्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रकार अन्तःकरण एक है उसी प्रकार वृत्ति भी। यदि इसमें दृष्ट का विरोध है—यदि मानते हो कि अन्तःकरण से वृत्ति का भेद नहीं तो (इसमें) देखे गये का विरोध होता है रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, यह देखा गया ज्ञान का भेद न होगा। नहीं होगा, ऐसा नहीं, विषय-भेद का अनुसरण करने से—वृत्ति (ज्ञान) अभिन्न होती हुई भी विषयों के भेद का अनुसरण करने से भिन्न-भिन्न-सी प्रकट होती है जिस प्रकार उपाधि के भेद से स्फटिक आदि द्रव्य भिन्न-सा प्रतीत होता है, और इस अर्थ को सूचित करने के लिये 'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः' यह सूत्र है।

एकमन्तःकरणम्—अन्तःकरण (बुद्धि) एक है, वृत्तियाँ अनेक हैं, वृत्ति तथा वृत्तिमान् का अभेद है, इसमें यद्यपि दृष्टविरोध प्रतीत होता है, तथापि जिसप्रकार स्फटिक में औपाधिक भेद से भेद प्रतिभासित होता है इसीप्रकार यहाँ भी हो जाता है।

नैतत् संचक्षाणकः···(सांख्य)—जो भली-भाँति जानता है, न्यायवित् है, वह सांख्य कहा गया है, सम्यगाचष्टे, जानीते संचक्षाणकः सांख्यः। संख्या हि समीचीना बुद्धिस्तया वर्तते' इति सांख्याः। एतदुक्तं भवति···, टी० ५३६।

दृष्टविरोध इति चेत्—यदि एक अन्तःकरण की नाना वृत्तियाँ हैं तो इसमें दृष्टविरोध है। इसीप्रकार अन्य भी दोष दिये गये हैं जिनका समाधान है 'विषयभेदानुविधानात्' जो सूत्र का ही अनुवाद कहा जा सकता है।

न्यायभाष्यम्

न हेत्वभावात्—स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणो न पुनर्गन्धत्वाद्यन्यत्वाभिमानवदिति हेतुर्नास्ति, हेत्वभावादनुपपन्न इति।

समानो हेत्वभाव इति चेत् ? न, ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनात्—क्रमेण हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते। तस्मात् गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमान इति। ३।२।६॥

न्यायवार्त्तिकम्

यथाश्रुतिसूत्रे हेत्वभावो दृष्टान्तमात्रत्वात्— दृष्टान्तमात्रमेतत् नात्र हेतुरस्ति' इति। विकल्पानुपपत्तेश्च— योऽयं दृष्टान्तः स्फटिकवदिति, विकल्पोऽत्र, किमयं स्फटिक उपधानभेदेन भिद्यते उत न ? किं चातः ? यदि भिद्यते ? न दृष्टान्तः। अथ न भिद्यते ? नानात्वाभिमानः कथम ? यद्युपधानभेदाद् भिन्नमुपधानमिति कथं प्रतिपद्यसे ? यदि प्रत्ययभेदाद् ?

यह (ठीक) नहीं, हेतु न होने से—स्फटिक की अन्यत्व की भ्रान्ति के समान यह ज्ञानों में भिन्नता की भ्रान्ति गौण है, किन्तु गन्धादि की भिन्नता के भ्रम के समान नहीं, इसमें हेतु नहीं है, हेतु के न होने से यह नहीं बनता।

(पूर्वपक्षी) यदि हेतु का अभाव है तो समान (ही) है ? (समाधान) नहीं, ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति तथा विनाश देखने से—क्रम से इन्द्रिय के विषयों में ज्ञान उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, यह देखा जाता है, अतः गन्धादि की भिन्नता के ज्ञान (अभिमान=भ्रान्ति) के समान यह ज्ञानों में भिन्नता का ज्ञान है ॥३।२।६॥

(क) सूत्र के शब्दानुसार (यथाश्रुति) होने पर यहाँ हेतु का अभाव है, दृष्टान्तमात्र होने से—यह दृष्टान्तमात्र है, यहाँ हेतु नहीं है। (ख) विकल्प न बनने से भी—जो यह दृष्टान्त है, स्फटिक के समान इसमें विकल्प होता है, क्या यह स्फटिक उपाधि के भेद से भिन्न होता है अथवा नहीं। (प्रश्न) इससे क्या ? (उत्तर) यदि भिन्न होता है तो यह दृष्टान्त नहीं है। यदि भिन्न नहीं होता तो भिन्नता का अभिमान (भ्रान्ति) कैसे ? यदि उपाधि के भेद से भिन्नता की भ्रान्ति (अभिमान) हो जाती है तो उपाधि भिन्न-भिन्न हैं ? यह कैसे जाना जाता है। यदि प्रतीति के भेद से ?

न हेत्वभावात्— यह भाष्य है, सूत्र नहीं, न हेत्वभावादिति भाष्यं व्याचष्टे, टी० ५४६, इसमें सूत्र का खण्डन है।

समानो हेत्वभाव इति चेत्—यह पूर्वपक्षी का कथन है इसका समाधान है 'न ज्ञानानाम्' इत्यादि।

यथाश्रुतिसूत्रे—यहाँ सूत्र में केवल दृष्टान्त है, हेतु नहीं, अतः यह साधक नहीं।

विकल्पानुपपत्तेश्च—इस हेतु के द्वारा बाधक दिखलाया गया है। पूर्व हेतु तो केवल हेतु का अभाव बतलाता है। वार्त्तिककार ने दो विकल्प किये हैं—१. स्फटिक उपाधि के भेद से भिन्न होता है २. या नहीं। दोनों विकल्पों की अनुपपत्ति दिखलाई है।

न्यायवार्त्तिकम्

व्याघातः—अभिन्ना वृत्तिः प्रत्ययश्च भिन्न इति व्याघातः, प्रत्ययपर्यायत्वाद् वृत्तेः। अथ भवतां वृत्तीनां भेदे किं प्रमाणम् ? ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनम्—क्रमेण ज्ञानान्युपजायन्ते, अपयन्ति चेति दृश्यते। एकानेकविषयत्वाच्च प्रत्ययनानात्वाभिमानस्य, एकानेकविषयाधिगतिः कथम् ? एकस्मिंश्च विषये नानात्वाभिमानः स्फटिके दृष्टः[1], नानाभूतेषु च गन्धादिषु नानात्वाभिमानो दृष्टः। तेन नानात्वाभिमानस्योभयथा दृष्टत्वादिदमेकमिदमनेकमिति न युक्तः प्रत्यय इति। यश्चायमभिन्ने स्फटिके भेदप्रत्ययः सोऽपि प्रत्ययभेदमन्तरेण न युक्तः—न हि प्रत्ययाभेदवादिनः स्फटिके नीलादिप्रत्ययभेदो युक्त इति। स्फटिके नीलादिप्रत्ययोऽसम्बन्धान्न युक्तः—न हि नीलं द्रव्यं चक्षुःसन्निकृष्टमिति।

तो व्याघात होता है, वृत्ति भिन्न नहीं, किन्तु (च) प्रत्यय भिन्न है, यह व्याघात है ? क्योंकि वृत्ति (भी) प्रत्यय का समानार्थक (शब्द) है। (प्रश्न) तब आप (नैयायिक) के (मत में) वृत्तियों के भेद में क्या प्रमाण है ? (उत्तर) (क) ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति तथा नाश ही (प्रमाण) है—क्रम से ज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं, यह देखा जाता है। ज्ञानों की भिन्नता (नानात्व) का अभिमान (भ्रम) एक विषय में होता है तथा अनेक विषयों में भी। (प्रश्न) एक विषय और अनेक विषय का ज्ञान कैसे होता है ? एक विषय में भिन्नता की भ्रान्ति स्फटिक में देखी गई है और भिन्न-भिन्न होते हुए गन्धादि में भिन्नता का भान देखा गया है। इसलिये भिन्नता का दोनों प्रकार से देखा जाने से 'यह एक है' यह अनेक, ऐसा ज्ञान उचित नहीं। और जो एक स्फटिक में भिन्नता का ज्ञान है वह भी ज्ञानों में भेद के बिना युक्त नहीं—वस्तुतः ज्ञानों का अभेद मानने वाले के (मत में) स्फटिक में नीलादि ज्ञानों का भेद युक्त नहीं। किञ्च, स्फटिक में नील आदि की प्रतीति सम्बन्ध न होने से (भी) युक्त नहीं—वस्तुतः (वहाँ) नील द्रव्य चक्षुः से सन्निकृष्ट नहीं—

प्रत्ययप्रयोयत्वाद् वृत्तेः—वृत्ति और प्रत्यय समानार्थक हैं, अतः वृत्ति एक होने पर प्रत्यय भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।

एकानेकविषयत्वाच्च प्रत्ययनानात्वाभिमानस्य—पूर्वपक्षी का कथन है कि वृत्तियों के एकत्व में प्रतीति के नानात्व की भ्रान्ति (अभिमान) हेतु है, अनुमान का प्रकार यह है 'एकत्व वृत्तीनाम्, नानात्वाभिमानविषयत्वात्, स्फटिकवत्, इसप्रकार हेतु का अभाव यहाँ नहीं है, टी० ५४०।

यश्चायमभिन्ने स्फटिके—यदि स्फटिक में भेदप्रतीति होती है तो प्रतीति का भेद मानना होगा, टी० ५४०।

स्फटिके नीलादिप्रत्ययोऽसम्बन्धान्न युक्तः—यह किसी का आक्षेप है, टी० कश्चिद् शयति, टी० ५४, (किसका ?) इसका परिहार है, नैरन्तर्यदर्शनात्, टी० ५४०। यह परिहार भी पूर्वपक्ष का हा है (?)।

---

१. दृष्टान्तः, पा०।

न्यायवार्तिकम्

अथ सन्निकृष्टं तदेव नीलं न स्फटिक इति स्फटिकसमानाधिकरणः स्फटिके नीलप्रत्ययो न युक्तः, न, नैरन्तर्यदर्शनात्—नैरन्तर्येणावस्थिते स्फटिकनीलद्रव्ये चक्षुषा सन्निकृष्येते तत्सन्निकर्षान्नीलगुणाध्यारोपेण स्फटिके मिथ्याप्रत्ययो नील इति, यथा सान्तरेष्वन्तरालादर्शनात् संयुक्तप्रत्यय इति।

यस्य च प्रत्ययो न भिद्यते तस्य 'त्रीणि प्रमाणानि' इति शास्त्रं व्याहन्यते'—न हि प्रत्ययाभेदे प्रमाणभेदः सम्भवति। विषयभेदात् त्रित्वमिति चेत्—अथ मन्यसे, विषयस्त्रेधा भिन्नस्तेनानुरञ्जितः प्रत्ययस्त्रेधैव भवति ? तन्न युक्तम्, प्रमाणभेदे विषयभेदानधिगतेः—न हि प्रमाणभेदमन्तरेण विषयभेदोऽधिगन्तुं शक्यते इति।

यदि सन्निकृष्ट है तो वही नील है, स्फटिक नहीं, अतः स्फटिक समानाधिकरण (नीलः स्फटिकः) स्फटिक में नील का ज्ञान युक्त नहीं। (पूर्वपक्षी) यह ठीक नहीं निरन्तर देखा जाने से—निरन्तर अवस्थित स्फटिक तथा नील द्रव्य चक्षुः से सन्निकृष्ट होते हैं. उनके सन्निकर्ष से नील गुण का अध्यारोप करके स्फटिक मे 'यह नील है' ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाता है जैसे व्यवधान युक्तों में व्यवधान न दिखाई देने से ये संयुक्त हैं, ऐमी प्रतीति हो जाती है।

जिसके (मत में) ज्ञान का भेद नहीं उसके (मत में) 'तीन प्रमाण है' यह शास्त्र विरुद्ध होता है—वस्तुतः ज्ञान का भेद न होने पर प्रमाणों का भेद नहीं हो सकता। (शङ्का) यदि विषय के भेद से प्रमाणों की तीन संख्या है—यदि मानते हो कि विषय तीन प्रकार से भिन्न-भिन्न है उससे युक्त (अनुरञ्जितः) ज्ञान (भी) तीन प्रकार का ही होता है। (समाधान) वह ठीक नहीं, प्रमाण का भेद न होने पर विषय का भेद नहीं जाना जाता—वस्तुतः प्रमाण के भेद के विना विषय का भेद नहीं जाना जा सकता।

न हि नीलं द्रव्यं चक्षुःसन्निकृष्टम्...अथ सन्निकृष्टम्—यहाँ नीलद्रव्य चक्षुः से असम्बन्ध दिखलाया है।

यस्य च प्रत्ययो न भिद्यते-टीका में 'यस्य च प्रत्ययाभेदः' यह पाठ है। प्रमाणों का भेद प्रतीति के भेद से अनुमित किया जाता है, प्रतीति के भेद के विना अनुमित नहीं किया जा सकता, टी० ५४०।

विषयभेदात्—यह पूर्वपक्षी (सांख्य) की शङ्का है कि विषयों के भेद से प्रमाणों की तीन संख्या मानी गई है, इसका निराकरण 'तन्न युक्तम्' इत्यादि में है।

प्रमाणाभेदे—यहाँ वाचस्पति मिश्र ने 'प्रमाणाभेदे' का अभिप्राय 'सामग्रीत्रयाभेदे' दिखलाया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रमाण=प्रमाणसामग्री।

---

१. भिद्यते, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

विषयतादात्म्याद् इति चेत्—अथ मन्यसे 'विषय एवासौ तथा व्यवस्थितः, तादात्म्यात् तथा ख्यातिः' इति ? तन्न, प्रमाणवैयर्थ्यात्[२]—एवं सति व्यर्थं प्रमाणं, न विषयभेदं प्रमाणभेदोऽवगमयति, विषयस्तु तादात्म्यात् तथा व्यवतिष्ठते' इति ।

यथाध्यवस्यति तथा चेतयते' इति च व्याघातः, अप्रकारवत्त्वात्—प्रकारवत्येतद् युक्तम्, अप्रकारे न युक्तम् ।

बुद्धिस्तं प्रत्ययमुपलभते' इति च विरोधोऽधिकरणाधेययोरभेदात्—यः प्रत्ययः स बुद्धिरिति, अधिकरणाधेययोरभेदः । एवं च सति बुद्धिस्थं प्रत्ययमुपलभते' इति व्याहतम् ॥३।२।९॥

इति बुद्धिनित्यतापरीक्षा

(शङ्का) यदि विषय तादात्म्य से (विषयों के भेद से प्रमाणों में भेद हो जाता है)—यदि मानते हो कि विषय ही यह उसप्रकार व्यवस्थित है, तद्रूप होने से उसीप्रकार (प्रमाण) प्रकट हो जाता है ? (समाधान) वह (ठीक) नहीं, प्रमाणों के व्यर्थ हो जाने से—ऐसा होने पर प्रमाण व्यर्थ होंगे, प्रमाणों का भेद विषय के भेद का बोध नहीं कराता, किन्तु विषय (ही) तादात्म्य से वैसा व्यवस्थित हो जाता है ।

जैसा (बुद्धि) अध्यवसाय करती है वैसा ही चेतन (पुरुष) बोध करता है, यह भी (च) विरोध है, अप्रकार वाला होने से—प्रकार (विशेषण) वाले में ही यह युक्त है, प्रकार रहित में यह युक्त नहीं ।

बुद्धि उस ज्ञान को उपलब्ध करती है, यह भी विरोध है, क्योंकि आधार तथा आधेय में अभेद किया गया है—वस्तुतः जो ज्ञान है वही बुद्धि है, इसप्रकार आधार तथा आधेय में अभेद कर दिया गया है । ऐसा होने पर बुद्धि में स्थित ज्ञान को (पुरुष) उपलब्ध करता है, यह भी विरोध है ॥३।२।९॥

विषयतादात्म्यादिति चेत्—यह पूर्वपक्षी (सांख्य) की शङ्का है, इसका समाधान 'तन्न प्रमाणवैयर्थ्यात्' में किया गया है ।

तन्न, प्रमाणवैयर्थ्यात्—विषय ही तादात्म्य के कारण तीन रूपों में व्यवस्थित हो जाता है फिर प्रमाण की क्या आवश्यकता है ।

अप्रकारवत्त्वात्—प्रकार वाला ही भिन्न होता है, बिना प्रकार का नहीं, भिन्नो हि प्रकारवान् भवति नाभिन्न इत्यर्थः, टी० ५४१ ।

बुद्धिस्तं प्रत्ययमुपलभते—यहाँ भी सांख्यमत में विरोध दिखलाया है, यह विरोध है क्योंकि बुद्धि और प्रत्यय में भेद नहीं है, बुद्धेः प्रत्ययानामभेदे बुद्धिस्तं प्रत्ययमुपलभते' इति विरोध इति, टी० ५४१

न्यायसूत्रं भाष्यं च

२. (क्षणभङ्गपरीक्षा)

'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्' इत्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह,

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ।३।२।१० ॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदाद् नानात्वाभिमानः; इत्यविद्यमानहेतुकः पक्षः। कस्मात् ? स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः—स्फटिकेऽप्यन्या व्यक्त्य उत्पद्यन्ते, अन्या निरुद्ध्यन्ते' इति कथम् ? क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम्। क्षणश्चाल्पीयान कालः, क्षणस्थितिकाः क्षणिकाः ।

न्यायवार्त्तिकम्

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमान इत्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह, 'स्फटिकेऽप्यरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद व्यक्तीनामहेतुः' । स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्यान्यत्वाभिमान इत्ययुक्तम्, क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम् ।

---

२. (क्षणभङ्गपरीक्षा)

'स्फटिक की भिन्नता-भ्रान्ति के समान' इसे न सहता हुआ क्षणिकवादी (बौद्ध) कहता है,

व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी दूसरी-दूसरी उत्पन्न होने के कारण यह हेतु ठीक नहीं । ३।२।१० ॥

अभेद से स्थित (अभिन्न होने वाले) स्फटिक में उपाधि के भेद से भिन्नता की प्रतीति हो जाती है, यहां पक्ष में हेतु नहीं है। क्यों ? स्फटिक मे भी दूसरी की उत्पत्ति होने से—स्फटिक में भी अन्य व्यक्तियां उत्पन्न होती हैं, अन्य नष्ट हो जाती हैं। कैसे ? व्यक्तियों के क्षणिक होने से। क्षण छोटा (सबसे छोटा) काल है, क्षणभर स्थिति वाले क्षणिक हैं।

स्फटिक की भिन्नता की भ्रान्ति के समान उसमें भिन्नता की भ्रान्ति होती है (अभिमानः), यह न सहन करता हुआ क्षणिकवादी (बौद्ध) कहता है 'स्फटिवेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः' (यह सूत्र है), अभेद से रहने वाले स्फटिक में भिन्नता की भ्रान्ति होती है, यह अयुक्त है, व्यक्तियों के क्षणिक होने से—

क्षणिकवाद्याह—उपर्युक्त प्रकार से अपने मतानुसार सांख्यमत में दोष दिखलाकर बौद्धों ने सांख्यमत में जो दोष दिखलाये हैं, उन्हें प्रस्तुत करके उनका खण्डन करने के लिये क्षणिकवाद को प्रस्तुत करते है, टी० ५४१।

नानात्वाभिमानः—स्फटिक एक ही है किन्तु उसमें उपाधिभेद से नानात्व की प्रतीति होती है।

क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनाम्—काल परिपाक से शरीर की स्थूलता कम होती देखी जाती है, इससे अनुमान होता है कि प्रतिक्षण शरीर में परिणाम होता है वह वस्तुतः विनाश ही है। शरीर के समान ही स्फटिकादि में भी प्रतिक्षण विनाश तथा उत्पत्ति अनुमान से जानी जाती है, यद्यपि स्फटिकादि में उसप्रकार स्थूलता तथा ह्रास नहीं दिखाई देता। इसीके आधार पर बौद्धों ने यह अनुमान का स्वरूप बनाया है यत्सत् तत्क्षणिकं यथा शरीरम्। टी० ५४१।

न्यायभाष्यम्

कथं पुनर्गम्यते क्षणिका व्यक्तय इति ? उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु—पक्तिनिर्वृत्तस्याहारस्य शरीरे रुधिरादिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्तते। उपचयाद् व्यक्तीनामुत्पादः, अपचयाद् व्यक्तिनिरोधः। एवं च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते। सोऽयं व्यक्तिविशेषधर्मो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति। ३।२।१०॥

न्यायवार्तिकम्

क्षणिकत्वमुपचयापचयप्रबन्धदर्शनात्-यस्माच्छरीरादिषु पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यं[1] प्रतिक्षणमुपचीयते चापचीयते च। उपचयाद् व्यक्तीनामुत्पादः, अपचयाद् व्यक्तिनिरोधः। तौ चोत्पादनिरोधौ तस्य कालान्तरेण दृष्टौ, अतोऽवगम्यते प्रतिक्षणमुपचीयते चापचीयते च शरीरमिति। यस्य खलु प्रतिक्षणमुपचयापचयौ न दृष्टौ तस्य कालान्तरेणापि न भवतः[2], यथा भूमेरपच्यमानायाः पाकजानामिति। पच्यमानभूमिपाकजवच्च प्रतिक्षणं विशेष इति। अस्य प्रयोगः प्रतिक्षणं शरीरमन्यच्चान्यच्च भवति; बाह्यप्रत्ययाभेदे सत्यन्ते विशेषदर्शनात्, पच्यमानभूमिपाकजवत्—अपच्यमानभूमिपाकजवच्चेति ।३।२।१०॥

(प्रश्न) किन्तु यह कैसे जाना जाता है कि व्यक्तियाँ क्षणिक हैं ? (उत्तर) शरीर आदि में उपचय (वृद्धि) अपचय (ह्रास) देखने से—पक्ति (पाक) को प्राप्त हुए आहार का शरीर में रक्त आदि के रूप में उपचय तथा अपचय निरन्तर होता रहता है। उपचय से व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है और अपचय से विरोध (विनाश) होता है। और ऐसा होने पर अवयवों के परिणाम में भेद होने से शरीर की वृद्धि कुछ समय बाद गृहीत होती है। वह यह विशेष व्यक्ति का धर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति में जाना जा सकता है ॥३।२।१०॥

क्षणिकत्व (सिद्ध होता है) वृद्धि तथा ह्रास की परम्परा देखने से—क्योंकि शरीरादि में पाक से उत्पन्न रसद्रव्य प्रतिक्षण बढ़ता है और क्षीण होता है। बढ़ने से व्यक्तियों की उत्पत्ति और क्षीण होने से विनाश होता है। वे उत्पत्ति और विनाश उस (वस्तु) में अन्य काल में देखे गये हैं, इससे जाना जाता है कि शरीर प्रतिक्षण वृद्धि तथा ह्रास को प्राप्त होता है। वस्तुतः जिसके प्रतिक्षण वृद्धि तथा ह्रास नहीं देखे गये उसके अन्य समय में (भी) नहीं होते जैसे पाक को प्राप्त न होती हुई भूमि के पाकज गुणों का। पाक को प्राप्त हुई भूमि के पाकज (गुणों) के समान प्रतिक्षण में भेद होता है (विशेष)। इसका (अनुमान) प्रयोग है, प्रतिक्षण शरीर अन्य तथा अन्य हो जाता है, बाह्य प्रतीति का भेद न होने पर (भी) अन्त में भेद दिखाई देने से, पाक को प्राप्त भूमि के पाकज गुणों के समान और पाक को प्राप्त न हुई भूमि के पाकज गुणों के समान ॥३।२।१०॥

गम्यते—प्रतीयते, जाना जाता है, प्रतीत होता है। कथं पुनर्गम्यते ? इस प्रश्न से बौद्ध मत को प्रस्तुत करते हैं। इसका उत्तर है, 'उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु'।

यस्य खलु—शरीर में जब उपचय तथा उपचय देखा जाता है तब उत्पत्ति तथा विनाश होते हैं। इनका प्रबन्ध (नैरन्तर्य) कल्पना में क्या प्रमाण है, इससे कहा है, टी० ५४१।

बाह्यप्रत्ययाभेदे--पाकज परिणाम में बाह्य प्रत्यय (कारण) अग्नि का संयोग है। यहाँ शरीर में बाह्य कारण का भेद नहीं दिखलाई देता। वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यय का अर्थ कारण दिया है (ऊपर प्रत्यय=प्रतीति किया गया है)। टी ५४२।

---

१. रसवद् द्रव्यं, पा०। २. न भवंति, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा । ३।२।११ ॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवद्' इति नायं नियमः। कस्मात् ? हेत्वभावात् - नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति। तस्माद् 'यथादर्शनमभ्यनुज्ञा' । यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरूपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते; यथा शरीरादिषु। यत्र तत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते; यथा ग्रावप्रभृतिषु। स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते । तस्माद् अयुक्तं 'स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्ते'-रिति । यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानपादयेत्, तादृग् एतद् इति । ३।२।११ ।

न्यायवार्त्तिकम्

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा, तदिदमुपचयापचयप्रबन्धदर्शनं शरीरे दृष्टत्वात् शरीरस्यान्यत्वं साधयतु । न पुनरनुपलभ्यमानोपचयापचयविशेषाणां

नियम के हेतु का अभाव होने से वैसा देखा जैसा माना जाता है । ३।२।११ ॥

सब व्यक्तियों में वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह चलता है शरीर के समान, यह नियम नहीं; क्यों ? हेतु का अभाव होने से—इस विषय में न प्रत्यक्ष प्रतिपादक है न अनुमान, अतः जैसा देखा जाता है वैसा स्वीकारा जाता है —जहाँ-जहाँ वृद्धि तथा ह्रास देखा जाता है वहाँ-वहाँ व्यक्तियों की दूसरी-दूसरी की उत्पत्ति वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह देखने से मानी जाती है, जैसे शरीर आदि में। (किन्तु) जहाँ-जहाँ नहीं दिखाई देता वहाँ-वहाँ निराकरण किया जाता है, जैसे प्रस्तर (पत्थर) आदि में। स्फटिक में भी वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह नहीं देखा जाता अतएव स्फटिक में दूसरी दूसरी की उत्पत्ति होने से यह अयुक्त है । जैसे आक (अर्क=आँखा) की कड़वाहट से अन्य द्रव्यों की कड़वाहट सिद्ध की जाये यह तो वैसा ही है ।।३।२।११।।

'नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा' (यह सूत्र है)। यह जो वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह देखा जाता है, यह शरीर में देखा जाने से शरीर की अन्यता को सिद्ध कर देवे, किन्तु जहाँ वृद्धि तथा ह्रास नहीं उपलब्ध होते उन स्फटिक

नियमहेत्वभावात्—यह सिद्धान्त सूत्र है, सिद्धान्त सूत्रम्, टी० ५४२ ।

यथादर्शनम्०—जैसा देखा जाता है, वैसा स्वीकार लिया जाता है, शरीरादि में उपचयापचय देखा जाता है वहाँ 'उपचयापचयप्रबन्धदर्शन' से वृद्धि तथा ह्रास माना जाता है, प्रस्तर आदि में नहीं, स्फटिक में भी नहीं । (ऊपर भाष्य) ।

अभ्यनुज्ञा—अनुमति, शरीरं दृष्टत्वात् शरीरस्यान्यत्वं साधयतु, न पुनः अनुपलभ्यमानोपचयापचयविशेषाणां स्फटिकादीनाम्' (ऊपर वार्त्तिक) ।

तादृगेतद् इति—यह वैसा ही है जैसे कोई आक के कड़वेपन से सब द्रव्यों का कड़वापन सिद्ध करे, (ऊपर भाष्य) ।

न्यायवार्त्तिकम्

स्फटिकादीनामेतस्माद अन्यत्वं सिध्यतीत्यहेतुः । यत्रोपलब्धिस्तस्यान्यत्वमिति चेत्—अथ मन्यसे नैवास्माभिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेन सर्वभावानां क्षणिकत्वं साध्यते, अपितु यत्र तदस्ति तस्मिन् क्षणिकत्वम्' इति ? सत्यम्, यस्य यस्योपचयापचयप्रबन्ध उपलभ्यते तस्य तस्यान्यत्वम्' इति, न तु क्षणिकत्वम् । उपचयापचयप्रबन्धदर्शनं चान्यथाभवदहेतुः क्षणिकत्वे । कथमन्यथा ? पूर्वावयवा[1] आहारावयवसहिताः पूर्वव्यूहपरित्यागेन व्यूहान्तरमापद्यमानाः शरीरान्तरमुत्पादयन्ति' इति युक्तो भेद इत्यहेतुरेषः । तुल्यं पक्षप्रतिज्ञानमिति चेत्—अथ मन्यसे पूर्वाहारावयवोपचययोगे[3] सति शरीरावयवाः शरीरान्तरमारभन्ते पूर्वव्यूहपरित्यागेन, न पुनः क्षणिकत्वादन्यज्जातमित्यत्र को हेतुरिति ?

स्फटिक आदि में अन्यता मिद्ध होती है, अतः यह ठीक हेतु नहीं (अहेतुः) ।
(शङ्का) यदि जहाँ (वृद्धि तथा ह्रास की) उपलब्धि होती है उसकी अन्यता है—यदि मानते हो कि हमारे द्वारा वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह देखने से सब द्रव्यों की क्षणिकता नहीं सिद्ध की जाती अपितु जहाँ वह (वृद्धि तथा ह्रास) है उसमें क्षणिकता है ? (समाधान) ठीक है, जिसके वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह उपलब्ध होता है उस उसकी अन्यता होती है किन्तु क्षणिकता नहीं । वृद्धि तथा ह्रास का दिखाई देना अन्य प्रकार से होना है (वह) क्षणिकता में हेतु नहीं । (प्रश्न) अन्य प्रकार से कैसे होता है । पूर्व अवयव भोजन के अवयवों सहित पहली रचना का त्याग करके अन्य रचना को प्राप्त कर लेते हैं तथा अन्य शरीर का उत्पादन करते हैं, अतः पहले शरीर से भेद होना युक्त है, इसप्रकार यह हेतु नहीं । (शङ्का) यदि पक्ष वचन समान है—यदि मानते हो कि पूर्व भोजन के अवयवों की वृद्धि होने पर शरीर के अवयव पूर्व रचना को छोड़कर अन्य शरीर को उत्पन्न करते हैं, किन्तु क्षणिक होने से (शरीर) अन्य नहीं होता, इसमें क्या हेतु है ? [समाधान]

यत्रोपलब्धिः—यह शङ्का है । इसका आशय है, जहाँ उपचय-अपचय देखा जाता है वहाँ क्षणिकता मानी जाती है, टी० ५४२ ।

क्षणिकत्वम्—क्षणभर रहने वाला, नैयायिक को यह इष्ट नहीं, उसके मत में जो कम से कम तीन क्षण रहता है, वह क्षणिक है, अतः सिद्ध साधन नहीं, क्षणिकत्वं पूर्वापरभागविकलकालकलामात्रावस्थायित्वम् । न च तादृशं क्षणिकत्वं नैयायिकानां क्वचिदपि संमतमिति न सिद्धसाधनमित्यर्थः, टी० ५४२ ।

सत्यम्—यहाँ से पूर्व शङ्का का समाधान है, उपचयापचय से अन्यता सिद्ध होती है, क्षणिकता नहीं, यह हेतु क्षणिकता में अन्यथासिद्ध है ।

उपचयापचयप्रबन्धदर्शनं चान्यथाभवदहेतुः क्षणिकत्वे—(वार्त्तिक ऊपर) ।

तुल्यम्—यह शङ्का है, इसका समाधान है, 'नासाधनात्' (अग्रिम पृ० पर) ।

---

१. तत्र, पा० । २. पूर्वशरीरावयवाः, पा० । ३. पूर्वपरावयवोपचययोगे, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्य च

यश्च 'अशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकतां मन्यते, तस्यैतत्,

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः । ३।२।१२।।

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते अवयवोपचयो वल्मीकादीनाम् । विनाश कारणं चोपलभ्यते घटादीनामवयवविभागः यस्य । तु अनुपचित.वयवं

न्यायवार्त्तिकम्

नामाधनात्—न मयाऽऽहारोपचयापचययोगात् शरीरस्यान्यता साध्यते, अपितु भवता विशेषदर्शनात् शरीरस्यान्यत्वमभ्यधायि ततश्च क्षणिकत्वमिति विशेषदर्शन क्षणिकत्व-साधयनम् । तदस्माभिर्विशेषदर्शनमन्यथाभवत् क्षणिकत्वे न साधनम्' इत्येतावन्मात्र-मुच्यते न साधनमभिधीयते' इति । ३।२।११।।

अथावश्य साधनं वक्तव्यम् इद ब्रूमः 'नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः उत्पत्ति-कारणं विनाशकारणं चोपचयापचयौ वल्मीकघटादीनां

और जो (बौद्ध) सबका नाश हो जाने से बिना अन्वय के अपूर्व उत्पत्ति हो जाती है, इसप्रकार द्रव्यों की परम्परा में क्षणिकता मानता है, उसके (मत में) यह

नहीं, उत्पत्ति और विनाश का कारण उपलब्ध होने से । ३।२।१२।।

प्रथमतः उत्पत्ति का कारण उपलब्ध होता है (जैसे) दीमक के बिलों की अवयवों की वृद्धि और विनाश का कारण (भी) उपलब्ध होता है (जैसे) घटादि के अवयवों का विभाग होता है । जिसके (मत में) अवयवों का ह्रास न होकर वस्तु का

× × × ×

(समाधान) ठीक नही, सिद्ध न करने से—मेरे द्वारा आहार रस की वृद्धि और ह्रास के सम्बन्ध से शरीर की अन्यता सिद्ध नहीं की जाती, अपितु आपके द्वारा भेद दर्शन से शरीर की अन्यता कही गई थी और उससे क्षणिकता, इसप्रकार भेददर्शन क्षणिकता का हेतु (कहा गया था) । वह भेद-दर्शन अन्य प्रकार से हो जाना है अतः क्षणिकता का हेतु नहीं, हमारे द्वारा इतना मात्र कहा जाता है । साधन नहीं कहा जाता । ३।२। १ ।

यदि अवश्य ही साधन (हेतु) कहना है तो हम यह कहते हैं 'नोत्पत्तिविनाश-कारणोपलब्धेः । उत्पत्ति का कारण तथा विनाश का कारण वृद्धि तथा ह्रास होते हैं यह वल्मीक (दीमक के बिल) तथा घटादि में देखा गया है

नासाधानत्—एकान्त निश्चय के बिना साधन नहीं होता, दूषण तो, सन्देहापादन से भी हो जाता है, एकान्तनिश्चयं विना न साधनम्, दूषणं तु सन्देहापादनेनापि इति, ? सोय साधनदूषणयोर्विशेषः । टी० ५४२।।

अथ ावश्यं साधनं वक्तव्यम्—यदि साधन अवश्य ही कहना है, यहाँ अग्रिम सूत्र का अवतरण किया गया है, टी० ५४२ ।। अग्रिम सूत्र है, नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः। ३।२।१२।।

न्यायभाष्यम्

निरुध्यते, अनुपचितावयवं चोत्पद्यते, तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वाऽपूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यते' इति । ३।२।१२॥

न्यायवार्त्तिकम्

वृद्धाविति, तदुभयं क्षणिकत्वे न स्यात् । उपचय इति च वृद्धिः उपचितो गौरिति, अपचय इति ह्रासः, 'अपचितो गौरिति । उभयं चैतदवस्थितवस्तुविषयम् । न ह्यपूर्वं जायमानं वर्द्धत इत्युच्यते नापि विनश्यदपचितमित्युच्यते'। उपचयापचयोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेरिति सूत्रार्थः ।

अथवा कारणमित्याधारोऽभिधीयते कार्यमित्याधेयम् । न च क्षणिकत्वे आधाराधेयभावः सम्भवति, न चाधाराधेयभावमन्तरेण कार्यंकारणभावः, तस्मात् कार्यकारणभावोपलब्धेरक्षणिकत्वम्' इति ।

विनाश हो जाता है और अवयवों की वृद्धि न होकर (वस्तु की) उत्पत्ति हो जाती है। उसके (मत में वस्तु का) पूर्ण नाश हो जाने में अथवा निरन्वय अपूर्व की उत्पत्ति में दोनों में ही कोई कारण उपलब्ध नहीं होता । ३।२।१२॥

× × ×

ये दोनों ही (वस्तु की) क्षणिकता में न होंगे । उपचय का अभिप्राय है वृद्धि जैसे गौ बढ़ गई, अपचय का अभिप्राय है ह्रास जैसे गौ ह्रमित हो गई (हार गई) । ये दोनों (ही) अवस्थित वस्तु के विषय में होते हैं । वस्तुतः अपूर्व उत्पन्न होने वाली (वस्तु) बढ़ती है, इस प्रकार नहीं कही जाती और होती हुई अपचित (हार गई, दुबली हो गई) कही जाती है । वृद्धि तथा ह्रास उत्पत्ति तथा विनाश के कारण (रूप में) उपलब्ध होते हैं, यह सूत्र का अभिप्राय है ।

अथवा 'कारण' (इस शब्द से) आधार कहा जाता है, 'कार्य' (इससे) आधेय । किन्तु (च) क्षणिकता में तो आधार-आधेय-भाव हो नहीं सकता और आधार-आधेय भाव के विना कार्यकारणभाव नहीं होता, इसलिये कार्यकारणभाव की उपलब्धि होने से क्षणिकता नहीं ।

उपचयापचयोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः—यह कर्मधारय समास है, उपचयापचयौ च तावुत्पत्तिविनाशकारणे चेति कर्मधारयः, टी० ५४२ ।

अथवा कारणमिति—यह उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः की दूसरी व्याख्या है, उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेरित्यस्य व्याख्यानान्तरमाह, अथवा कारणमिति, टी० ५४२ । समवायीकारण कार्य के पूर्व होता है और कार्यकाल में भी, यह लोकसिद्ध है जो क्षणिकता में नहीं बनता (द्र० टी० ५४२–५४३) ।

तस्मात्—यह दूसरी व्याख्या का उपसंहार किया गया है, कार्यकारणभाव आधार आधेय-भाव के विना नहीं बनता जो क्षणिकता में संभव नहीं, वस्तुओं में कार्यकारणभाव दिखाई देता है अतः क्षणिकता नहीं, अक्षणिकता है, (ऊपर वार्तिक) ।

न्यायवार्त्तिकम्

अस्य प्रयोगः 'कार्यकारणे एककालानुभाविनी, आधाराधेयभावात्, क्षीरकुण्डवदिति ? क्षीरं कुण्डे वर्तते तच्च कुण्डकालमनुभवति तथा च कार्यं कारणे वर्तते, तस्मात् तदपि कारणकालमनुभवति । नाधाराधेयभावस्यासिद्धत्वादिति चेत्—अथ मन्यसे 'असिद्धः कार्यकारणयोराधाराधेयभावः कार्यस्यानाधारत्वात नैव हि नः किञ्चित् कार्यमाधारवद् दृष्टमिति ? अनेकान्तात्—नायमेकान्तः, सर्वं कार्यमनाधारमिति । यथोभयपक्षसम्प्रतिपत्त्या रूपं कार्यं चाधारवच्च । स्पर्शस्तदाश्रय इति च व्याघातः, यदि च रूपमनाश्रित भवति स्पर्शस्तदाश्रय इति व्याहतम् । अनेन च रूपदृष्टान्तेन यावद् यावत् समानकालतया साध्यते, सर्वं तदेककालानुभावि भवति' इति ।

इसका (अनुमान) प्रयोग है, कार्य तथा कारण एक काल में अनुभव होते हैं, आधार-आधेय-भाव होने से, क्षीर और कुण्डे के समान । क्षीर (दूध) कुण्डे में है और वह कुण्डे के काल का अनुभव करता है, उसीप्रकार कार्य कारण में है, इसलिये वह (कार्य) भी कारण के काल का अनुभव करता है (अर्थात् कार्य कारण के काल में रहता है) । (शङ्का) नहीं, (कार्य और कारण में) आधार तथा आधेय-भाव असिद्ध होने से—यदि मानते हो कि कार्य तथा कारण में आधार-आधेय-भाव सिद्ध है । नहीं, कार्य के बिना आधार के होने से—वस्तुतः कोई कार्य आधार वाला नहीं देखा गया ? (समाधान) ठीक नहीं, व्यभिचारी होने से—यह एकान्त (निश्चित) नहीं कि सभी कार्य बिना आधार के होता है, जैसे दोनों पक्षों की सम्मति से रूप कार्य है और आधार वाला है । किञ्च, स्पर्श रूप का (तद्) आश्रय है यह व्याघात (विरोध) है, और यदि रूप बिना आधार के होता है तो स्पर्श उस (रूप) का आधार है, यह व्याघात है । इस रूप के दृष्टान्त से जो भी (आपके द्वारा) समान काल में सिद्ध किया जाता है, वह सब एक काल (आधाराधेयभाव) का अनुभव करने वाला होता है ।

प्रयोगः—अनुमानप्रयोगः, अनुमान का प्रयोग जो आगे दिखलाया जा रहा है ।

एककालानुभाविनी —अनुभव का अभिप्राय है प्राप्ति, एक काल को प्राप्त होने वाले, अनुभवः प्राप्तिः, एककालप्राप्ते, इत्यर्थः, टी, ५४३।।

आधाराधेयभावस्यासिद्धत्वात्—यह बौद्ध की शङ्का है, इसका समाधान 'अनेकान्तात्' में किया गया है ।

रूपं कार्यं चाधारवच्च—टी० (५४३ में 'रूपं सप्रतिघं कार्यमाधारवच्च' यह पाठ है, सम्भवतः बौद्ध—ग्रन्थ में यही है । सप्रतिघ का अभिप्राय है बाधा (रुकावट) सहित । अभिधर्मकोश में 'सप्रतिघा दश रूपेणः' १।१।२९ (के० पी० जायसवाल १९५७) यह आया यहाँ है रूप को आधार वाला माना गया है अतः बौद्ध का अपने सिद्धान्त से विरोध होता है, टी० ५४३ ।

स्पर्शस्तदाश्रयः—इससे अपने सिद्धान्त का व्याघात होता है ।

न्यायवार्त्तिकम्

सिद्धः कार्यकारणभावः क्षणिकेष्वपि, नाशोत्पादयोरेककालत्वात् तुलान्तयोरुन्नमनावनमनवत् इति चेत्—अथ मन्यसे कार्यकारणभावः क्षणिकेस्वपि सम्भवति' इति, कारणविनाशसमकाले कार्यभावात्—सदा कारणं विनश्यति तदा कार्यमुत्पद्यते। विनश्यच्च कारणमस्ति कारणविनाशेनाभिन्नकालः कार्योत्पादः, यथा तुलान्तयोर्नामोन्नामाविति ? न, हेत्वर्थापरिज्ञानात्—न ब्रूमः क्षणिकत्वे[1] कार्यकारणभावो नास्ति, अपितु आधाराधेयभावो भिन्नकालत्वात् कार्यकारणोर्न युक्त इति। कार्यं चानाधारमिति न दृष्टान्तोऽस्ति, अस्मत्पक्षे तु कार्यमाधारवदित्यस्ति दृष्टान्तो रूपादिरिति। तु ाधारस्य च व्यापारे[2] नामोन्नामभावाननभ्युपगमात्[3], युगपद्भावा[4]नुपपत्तिरेकत्वात्।

(शङ्का) यदि (कहो) क्षणिकों में भी कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है, नाश तथा उत्पत्ति के एक काल में होने से, तराजू की डण्डी के छोरों के ऊपर आने तथा (दूसरे के) नीचे जाने के समान ?—यदि मानते हो कि क्षणिकों में भी कार्यकारणभाव हो सकता है, कारण विनाश के समय ही कार्य के ही जाने से—जब कारण नष्ट होता है, तब कार्य उत्पन्न हो जाता है। नष्ट होता हुआ कारण होता है, कारण के विनाश के समय (ही) कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे तुला के छोरों का नमना एवं ऊपर उठना होता है ? (समाधान) यह (ठीक) नहीं हेतु का अभिप्राय न समझने से—हम यह नहीं कहते कि क्षणिकत्व में कार्य-कारणभाव नहीं होता अपितु (क्षणिकता में) कार्य एवं कारण के भिन्न-भिन्न काल में होने के कारण आधार-आधेय-भाव नहीं होता (युक्त नहीं)। और, कार्य विना आधार के होता है ऐसा दृष्टान्त नहीं है। हमारे मत में तो कार्य आधार वाला (ही) होता है इसका दृष्टान्त रूपादि है। तुला के आधार के कार्य में (कार्य के समय) नीचे झुकना (नाम) और ऊपर (उठना उन्नाम) न स्वीकार करने से एक साथ होना नही बनता, एक होने से

सिद्धः कार्यकाणभावः क्षणिकेष्वदि—कारण-विनाश के समय ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, कारणविनाशसमकालत्वेन कार्योत्पादस्य कार्यकारणयोः समानकालत्वादित्यर्थः टी० ५७३॥ यह बौद्ध की शङ्का है, इसका समाधान 'न हेत्वर्थपरिज्ञानात्'

युगपद्भावानुपपत्तिरेकत्वात्—जो अवयवों के कर्म हैं नाम तथा उन्नाम उनमें कार्यकारणभाव नहीं, जो अवयवी का कर्म है वहाँ युगपद् होना नहीं और कार्य-कारण-भाव भी नहीं, क्योंकि वह एक है। ये अवयवकर्मणी ····· एकत्वादित्यर्थः, टी० ५७३॥

---

१. क्षणिके, पा०। २. कर्मणः, पा०।
३. भावेनानभ्युपगमात्, पा०। ४. भावानुत्पत्तिः, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि तुलामधिकृत्य ब्रवीषि ? तदेकं कर्म भ्रमणाख्यम्, एकत्वाद् युगपद्भावो न युक्तः, न ह्येकं युगपद्भवति' इति अथावयवकर्मणो ? तयोरपि कार्यकारणभावेनानभ्युपगमात्, किं केन सम्बध्यते ? अथ युगपद्भावमात्रं विवक्षितम् इति ? युगपद्भावः कारणयौगपद्यात्—यावतामर्थानां कारणानि युगपद् भवन्ति तावतामेकस्मिन् काले भाव इति ? नामोन्नामात्रसम्बद्धौ। कारणयौगपद्यं तु गुरुत्वप्रयत्नसंयोगाऽऽन्नतेः, अवनतेरपि गुरुत्ववदद्रव्यसंयोगानुगृहीतो रज्जुतुलासंयोगः। अथापि न कर्मार्थान्तरं संयोगं वा परः प्रतिपद्यते ? तस्यापि उक्तमुत्तरं सयोगोऽप्यर्थान्तरमिति, संयोगकारणत्वेन कर्माप्यर्थान्तरमिति। यथा च भावानामुत्पत्तिविनाशकारणमुपलभ्यते नैवं स्फटिकस्य, न चानुपलभ्यमानं शक्यमभ्यनुज्ञातुमिति। ३.२ १२॥

यदि तुला के विषय में कहते हो तो वहाँ भ्रमण नामक एक कर्म है, एक होने से एक साथ होना युक्त नहीं (एक ही एक साथ नहीं होता)। (शङ्का) यदि (वहाँ) अवयवों के कर्म हैं ? (समाधान) उन (अवयव तथा अवयवी के) कर्म को भी कार्य-कारण-भाव से नहीं माना जाता, फिर क्या किससे सम्बद्ध है ? (शङ्का) यदि एक साथ होना मात्र विवक्षित है ? (समाधान) एक साथ होना कारणों के एक साथ होने से होता है—जितने पदार्थों के कारण एक साथ होते हैं उतनों की एक काल में सत्ता (भाव) होती है, नीचे झुकना तथा ऊपर उठना (तो) सम्बद्ध नहीं हैं। कारणों के एक साथ होना तो यह है जैसे गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग ऊपर उठने के कारण होते हैं और गुरुत्व वाले द्रव्य के संयोग से उपकृत रज्जु तथा तुला का संयोग नीचे झुकने का भी (कारण) होता है। (शङ्का) यदि (कहो) कर्म अथवा संयोग को पर (बौद्ध) अन्य पदार्थ (अर्थ) नहीं स्वीकारता ? (समाधान) उसका भी उत्तर कहा जा चुका है, कि संयोग भी पदार्थान्तर है और संयोग का कारण होने से कर्म भी पदार्थान्तर है। और जिसप्रकार (घट आदि) पदार्थों का उत्पत्ति तथा विनाश का कारण उपलब्ध होता है इसप्रकार स्फटिक का नहीं, और जो उपलब्ध नहीं होता उसे स्वीकारा नहीं जा सकता। ३।२।१२॥

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगा उन्नतेः अवनतेरपि—यहाँ उन्नति तथा अवनति के कारणों का भेद दिखलाया गया है, टी० ५४३-५४४।

अथापि न कर्मार्थान्तरं संयोगं वा परः प्रतिपद्यते—यह शङ्का है। इसका समाधान किया जा चुका है कि संयोग पदार्थान्तर है और कर्म भी संयोग का कारण होने से पदार्थान्तर है। यद्यपि पर (बौद्ध) संयोग और कर्म को अर्थान्तर नहीं मानता तथापि यह सिद्ध किया जा चुका है कि संयोग अर्थान्तर और कर्म संयोग का कारण होता है, वह भी पदार्थान्तर है।

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ।
३।२।१३।।

यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञायते तथा स्फटिकेऽप्यपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पादकारणं चाभ्यनुज्ञेयम्' इति । ३। ।१३।।

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ३।२।१४।।

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यतेऽतो नानुपलब्धिः । विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु द्रव्येषु, अपरापरोत्पत्तौ ।

न्यायवार्त्तिकम्

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः । यथा क्षीरस्य विनाशकारणमनुपलभ्यमानमभ्यनुज्ञायते दध्नश्चोत्पत्तिकारणम्, एवं स्फटिकादिव्यक्तीना मनुपलभ्यमानम् उत्पत्तिविनाशकारणं अभ्यनुज्ञेये इति । ३ २।१३।।

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः । यल्लिङ्गत उपलभ्यते न तन्नास्तीति ।

दूध का विनाश होने के कारण की अनुपलब्धि के समान तथा दही की उत्पत्ति (कारण) के समान उस (स्फटिक) की उत्पत्ति हो जाती है ।
३।२।१३।।

जिसप्रकार उपलब्ध न होता हुआ दूध के विनाश का कारण तथा दही की उत्पत्ति का कारण माना जाता है उसीप्रकार स्फटिक में भी अन्य-अन्य व्यक्तियों में विनाश का कारण तथा उत्पत्ति का कारण मानना होगा । ३।२।१३।।

बोधक (लिङ्ग) से ग्रहण हो जाने के कारण अनुपलब्धि नहीं होती । ३।१।१४।

दूध के विनाश लिङ्ग से दूध के विनाश का कारण और दही की उत्पत्ति लिङ्ग से दही की उत्पत्ति का कारण गृहीत होता है, अतः अनुपलब्धि नहीं । स्फटिकादि द्रव्यों में इसके विपरीत अन्य-अन्य व्यक्तियों की क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः । (यह सूत्र है) जिसप्रकार दूध के विनाश का कारण उपलब्ध न होते हुए (भी) मान लिया जाता है और दही की उत्पत्ति का कारण भी। इसीप्रकार स्फटिक आदि व्यक्तियों के उपलब्ध न होते हुए (भी, उत्पत्ति तथा विनाश के कारण मानने चाहिये । ३।२।१३।

'लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः' (यह सूत्र है) । जो बोधक (लिङ्ग) से उपलब्ध होता है वह नहीं है, ऐसा नहीं । स्फटिक आदि में इसके विपरीत है । वस्तुतः

क्षीरविनाशे—यह पूर्वपक्षी का सूत्र है । इसका आशय है कि जिसप्रकार दूध का विनाश होने पर कारण उपलब्ध नहीं होता तथा दही का कारण उपलब्ध नहीं होता इसीप्रकार स्फटिक के नाश और उत्पत्ति में भी कारण उपलब्ध नहीं होता ।

---

१. स्फटिकादीनाम्, पा० ।

न्यायभाष्यम्

व्यक्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति । ३।२।१४।।

न्यायवार्त्तिकम्

त्रिवर्णपश्च स्फटिकादौ, न हि स्फटिकादिव्यक्तीनामपरापरोत्पत्तौ लिङ्गमस्तीति ।

न नास्ति शीतोष्ण स्पर्शभेदस्य नानात्वे साधनत्वात्[1]—शीतोष्णस्पर्शभेदो नानात्वे दृष्टो यथाग्नो उदके च, अस्त्ययं शीतोष्णस्पर्शभेदः स्फटिके सत्यमस्ति । स तु निमित्तान्तराद भवति । किं पुर्ननिमित्तम् ? अप्तेजोऽवयवानुप्रवेशाच्छीतः, तेजोऽवयवानुप्रवेशाच्चोष्ण इति । अप्तेजोऽवयवानुप्रवेशो न युक्तः, अल्पतरबहुतरानुप्रवेशे हेत्वभावात्—हेमन्ते ह्याकाशे पर्युषितानां काष्ठभूम्यश्मलोहानां शैत्यस्योत्तरोत्तरो विशेषो दृष्टः, तथा पुनर्ग्रीष्मातपसन्तापितानां तेषामौष्ण्यस्य । न हि तेष्वल्पतरबहुतरप्रवेशे कारणं पश्यामः । तस्मात् स्वगतमहाभूतविशेषापेक्षाण्यासादितबाह्यनिमित्तानि भूतान्येव ।

उत्पत्ति में कोई बोधक (लिङ्ग) नहीं होता, अतः उनकी उत्पत्ति नहीं होती । ३।२।१४।।

× × × ×

स्फटिक आदि व्यक्तियों की अन्य-अन्य की उत्पत्ति में कोई बोधक लिङ्ग नहीं है । (शङ्का) नहीं है, ऐसा नहीं शीत तथा उष्ण स्पर्श (जो स्फटिक में प्रतीत होता है वह) स्फटिक की भिन्नता में साधक होने से—शीत तथा उष्ण स्पर्श का भेद भिन्न-भिन्न होने पर देखा गया है जैसे अग्नि में तथा जल में, यह शीत तथा उष्ण स्पर्श का भेद स्फटिक में (भी) है ? (समाधान) ठीक है कि है । किन्तु वह अन्य निमित्त से होता है । (प्रश्न) किन्तु क्या निमित्त है ? (उत्तर) जल तथा तेज के अवयवों के अनुप्रवेश से शीत और तेजस् के अवयवों के अनुप्रवेश से उष्ण (कासित होता है) । (शङ्का) जल तथा तेजस् के अवयवों का अनुप्रवेश युक्त नहीं, थोड़े (अल्पतर) तथा बहुतो (बहुतर) के अनुप्रवेश में हेतु न होने से—हेमन्त (ऋतु) में आकाश में रहने वाले (पर्युषितानां) काष्ठ, भूमि, शिला, तथा लोहे के शैत्य मे अधिकाधिक (उत्तरोत्तर) विशेषता देखी गई है तथा फिर ग्रीष्म की गर्मी से सन्तप्त उनमें उष्णता की (वृद्धि होती है) । वस्तुतः उनमें अल्प तथा बहुतों के प्रवेश का कारण (हम) नहीं देखते । इसलिये अपने में स्थित महाभूत विशेष की अपेक्षा करते हुए बाह्य निमित्त को प्राप्त करने वाले भूत (पृथिवी आदि) ही भिन्न—

न नास्ति…साधनत्वात—यह आक्षेप है इसका परिहार है स तु निमित्तान्तराद् टी० ५४४ ।
अप्तेजोऽवयवानुप्रवेशो न युक्तः—यह आक्षेप है, परिहार है, न युक्तम्' पृ० ६१२ टी० ४४४ ।

---

१. साधनात्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

तथा तथोत्पद्यन्ते' इति युक्तम् ? न युक्तम्—न ह्यप्तेजोऽवयवानुप्रवेशेन भूतस्वभावो निवार्यते' इति । भूतस्वभावस्योभयपक्षसाम्यादसाधनं भूतस्वभाव इति । विरुद्धश्चायं हेतुः[1]—यद्यवयवानुप्रवेशं न प्रतिपद्यसे, खरस्नेहोष्णेरणात्मकानि भूतानीति व्याहन्यते । कथमिति ? यत् कठिनं तदेकस्मिन् काले उष्णमपि भवति' इति, यच्चोष्णं तत कठिनं गच्छतीति । तदेकस्वभावकं वस्तु द्विस्वभावकं त्रिस्वभावकं च प्राप्नोति । यस्य पुनरवयवानुप्रवेशस्तस्यैष दोषो नास्ति, अन्यत्रावस्थितस्य संयुक्तसमवेतस्योष्णस्य ग्रहणाद्' इति । विरुद्धश्चायं हेतुः । कथम् ? एकस्य विशेषाभ्युपगमात—एकं वस्त्वेकस्मिन् काले कठिनमुष्णं गच्छति चेति त्रिस्वभावकम्, ततश्च विशेषदर्शनादित्ययं हेतुः सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधो विरुद्ध इति विरुद्धो भवति ।

भिन्न प्रकार से (तथा-तथा) उत्पन्न हो जाते हैं, यही युक्त है ? (समाधान) यह युक्त नहीं—वस्तुतः जल तथा तेजस् के अवयवों के अनुप्रवेश से भूतों (पृथिवी आदि) के स्वभाव का निवारण नहीं किया जाता । अतः भूतों के स्वभाव की दोनों पक्षों में समानता होने के कारण भूतों का स्वभाव साधक नहीं । यह हेतु विरुद्ध भी है—यदि अवयवों का अनुप्रवेश नहीं मानते तो खर (कठिन), स्नेह, उष्ण, ईरण (प्रेरण) स्वभाव वाले भूत हैं, इस मन्तव्य का विरोध होता है (व्याहन्यते) । कैसे ? जो कठिन है वह उसी समय उष्ण भी होता है, जो उष्ण है वह काठिन्य को प्राप्त होता है । इसप्रकार एक स्वभाव वाली वस्तु दो स्वभाव वाली और तीन स्वभावों वाली हो जाती है । किन्तु जिसके मत में अवयवों का अनुप्रवेश होता है, उसके मत में यह दोष नहीं होता, क्योंकि अन्य में स्थित संयुक्तसमवेत उष्णता का ग्रहण हो जाता है । यह हेतु विरुद्ध भी है । कैसे ? एक वस्तु (विशेष) मानने से—एक ही वस्तु एक काल में कठिन होती है, उष्ण होती है और जाती है, इसप्रकार तीन स्वभाववाली होती है, इसलिये विशेषदर्शन से यह हेतु 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इसके अनुसार विरुद्ध होता है ।

न युक्तम्—यह पूर्वपक्ष के आक्षेप का परिहार है, परिहरति, टी० ५४४ ।

असाधनं भूतस्वभावः—क्षणिकता की सिद्धि में भूतों के स्वभाव को हेतु नहीं माना जा सकता । असाधनं भूतस्वभावः, क्षणिकत्वसिद्धाविरयर्थः, टी० ५४४ ।

विरुद्धश्चायं हेतुः—यह एक विरोध दिखलाया गया है, यदि अवयवों का अनुप्रवेश नहीं मानते तो एक ही वस्तु दो स्वभाववाली तथा तीन स्वभाववाली होगी, टी० ५४४ ।

विरुद्धश्चायं हेतुः—यह अन्य विरोध दिखलाया गया है, 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः, जिस विशेष उष्णता आदि से स्फटिक में भेद माना था, उसीसे एकता मानी जा रही है । टी० ५४४-५४५ ।

---

[1] स्वभावहेतुः, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ मन्यसे 'न विशेषमात्रं नानात्वं प्रतिपादयति, अपि तु विरोधी विशेषो नानात्वे साधनमिति । न, अभिप्रायापरिज्ञानात्—वयमपि न ब्रूमो विशेषमात्रं नानात्वसाधनम्, अपि तु विरोधी विशेषः, इतरेतरव्यावृत्तो लक्षणत्वेनोपपन्नः स विरुद्धः, यद्यविरुद्धः स्यान्न लक्षणं स्यात् । एकवृत्तित्वे वा लक्षणत्रयस्य तत्तद्वस्तु किमभिधीयते ? यदि तावत् पृथिवी ? तन्न युक्तमौष्ण्यस्य दर्शनात अथ तेजः । तदपि न युक्तम्, काठिन्य-दर्शनात् । एतेन वायुर्व्याख्यातः । सोऽयं हेतुर्भूतलक्षणं बाधते, नानात्वसाधनं वा न भवति । एतेन जले तापग्रहणं प्रत्युक्तम् । तत्राप्यौष्ण्यस्निग्धतेरणता च युगपद् भवतीति । जलेऽग्निरूपग्रहणप्रसङ्गस्तु न युक्तोऽभिभवात् ? तन्न सिद्धान्तापरिज्ञानात्—नायं सिद्धान्तो जलरूपेणाग्निरूपमभिभूयते' इति, अपि तु तेजसश्चातुर्विध्यात् तत्र न रूप-ग्रहणम्, चतुर्विधं तेज इत्येतत प्रसाधित[1]मिन्द्रियप्रकरणे इति ।

(शङ्का) यदि मानते हो कि विशेष मात्र भिन्नता को सिद्ध नहीं करता, अपितु विरोधी विशेष भिन्नता को सिद्ध करता है ? (समाधान) नहीं, अभिप्राय न समझने से—हम भी यह नहीं कहते कि विशेषमात्र भिन्नता को सिद्ध करता हैं, अपितु विरोधी विशेष, जो एक दूसरे से व्यावृत्त होता है लक्षण रूप से युक्त मान लिया जाता है, वह विरोधी (भिन्नता को सिद्ध करता है) यदि वह अविरुद्ध होवे तो लक्षण (से युक्त) न होगा ? अथवा तीन लक्षणों के एक में रहने पर उस-उस वस्तु को क्या कहा जायेगा ? यदि तो उसे पृथिवी (कहा जाये) तो युक्त नहीं, क्योंकि (उसमें) उष्णता देखी जाती है । यदि तेजस् कहा जाये, वह भी युक्त नहीं, उसमें काठिन्य देखा जाता है । इससे वायु की व्याख्या हो गई । वह यह हेतु भूत (पृथिवी आदि) के लक्षण को बाधित करता है अथवा भिन्नता का साधन नहीं होता । इस (कथन) से जल में ताप के ग्रहण का निराकरण हो गया । वहाँ भी उष्णता, स्निग्धता तथा ईरणता एक साथ होती है । (शङ्का) जल में अग्नि के रूप ग्रहण का प्रसङ्ग तो युक्त नहीं, (एकदेशी) क्योंकि (उसका, अभिभव हो जाता है । (समाधान) वह (ठीक) नहीं, सिद्धान्त को भलीभांति न समझने से—यह सिद्धान्त नहीं कि जल के रूप से अग्नि का रूप अभिभूत हो जाता है, अपितु (सिद्धान्त यह है)—कि तेजस् के चार प्रकार का होने से उसमें रूप का ग्रहण नहीं होता । तेजस् चार प्रकार का है यह इन्द्रिय प्रकरण में सिद्ध किया गया है ।

अथ मन्यसे—यह शङ्का है। इसका समाधान 'न' अभिप्रायापरिज्ञानात्' में किया गया है ।
जलेऽग्निरूपप्रसङ्गस्तु न युक्तः—यह नैयायिक एकदेशी है, एकदेशिमतेन परिहारमाह, टी० ५४५ ।
अपितु तेजसश्चातुर्विध्यात्—यह वास्तविक परिहार है, परमार्थपरिहारमाह, अपितु तेजसश्चा-तुर्विध्यात्, टी० ५४५ यहाँ टीका में चार प्रकार का तेजस् दिखलाया गया है ।
प्रसाधितमिन्द्रियप्रकरणे—यह भाष्य या वार्त्तिक में न मिल सका हाँ, प्रशस्तपादभाष्य में तेजो-वैधर्म्य के (पृ० ३७ साहित्यभण्डार मेरठ १९४८ विषयसञ्ज्ञकं चतुर्विधम्, यह कहा गया है ।

1. प्रतिपादितम्, पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

या चेयं प्रतिज्ञा 'अन्यश्चान्यश्च स्फटिकः' इति, अस्याश्च कोऽर्थः ? यदि तावदन्यत्वमात्रं तदा सिद्धसाधनं भवति कुम्भादिभ्योऽन्यः[1] स्फटिक इति । अथ स्फटिकान्तरादन्य इति ? तदपि तादृगेव । अथ पूर्वस्फटिकादन्य इति ? कतमोऽसौ पूर्वस्फटिको यतोऽयमन्य इति ? व्यवच्छेदस्याशक्यत्वादनभिधानम्— यथोभयपक्षसम्प्रतिपन्ना रूपादयः, तेभ्योऽन्यानन्यविचारो घटादेर्युक्तः, न पुनरिह पूर्वस्फटिकान्तरमुभयपक्षसम्प्रतिपन्नं यतो वर्तमानमन्यत्वेन साध्यते । अथोभयपक्षसम्प्रतिपन्नं पूर्वस्फटिकान्तरं, व्यर्थं साधनम् । अथ वर्तमानं स्फटिकमभ्युपगम्य यदतीतं स्फटिकान्तरं तदन्यदिति साध्यते ? एवं सति शीतोष्णस्पर्शभेदो न तद्धर्मः, वर्तमानस्फटिकधर्मत्वात् । वर्तमानाच्च स्फटिकादन्यदतीतमिति केनैतन्न प्रतिपन्नम् ? अथ तदेवान्यदिति ? व्याघातः तदेवान्यच्चेति । एवं यथायथमन्यत्वं विचार्यते तथा तथा सिद्धसाधनं भवति, सिद्धान्तं च बाधते ।

और जो यह प्रतिज्ञा है, 'दूसरा-दूसरा ही स्फटिक (उत्पन्न) होता है, इसका क्या अभिप्राय है ? यदि अन्यता (दूसरा होगा) मात्र है तब तो सिद्धसाधन होता है । क्योंकि स्फटिक घटादि से अन्य ही होता है । यदि (यह अभिप्राय है कि) अन्य स्फटिक से अन्य है ? यह भी वैसा ही है । यदि पूर्व स्फटिक से अन्य है ? तो कौन सा यह पूर्व स्फटिक हैं जिससे यह (दूसरा) अन्य है ? भेद न किया जा सकने से यह नहीं कहा जा सकता—जैसे दोनों (वादी, प्रतिवादी) पक्षों द्वारा माने गये रूप आदि हैं, उनसे घट आदि का अन्य एवं अनन्य होने का विचार युक्त है किन्तु यहाँ पूर्व अन्य स्फटिक दोनों पक्षों का माना हुआ नहीं जिससे वर्तमान स्फटिक को अन्य रूप से सिद्ध किया जाये । यदि दोनों पक्षों का माना हुआ पूर्व स्फटिक अन्य है तो सिद्ध करना व्यर्थ है। (शङ्का) यदि वर्तमान स्फटिक को मान कर जो भूतकाल का स्फटिक है वह अन्य है, यह सिद्ध किया जाता है । (समाधान) ऐसा होने पर शीत, उष्ण स्पर्श का भेद उसका धर्म नहीं, क्योंकि यह वर्तमान स्फटिक का धर्म है । वर्तमान स्फटिक से भूतकाल का स्फटिक अन्य है, इसे कौन नहीं मानता । (शङ्का) यदि वही स्फटिक दूसरा हो जाता है तो विरोध है—वही है और अन्य भी । इस प्रकार जैसे जैसे (हम) अन्यता पर विचार किया जाता है, वैसे वैसे सिद्ध साधन होता है और सिद्धान्त का बाध करता है ।

याचेयं प्रतिज्ञा—प्रतिज्ञानार्थ को यथासंभव विकल्प करके दूषित करते हैं, टी० ५४५ । यदि तावद् यहाँ से एक-एक विकल्प दिखलाकर उसका दोष दिखलाया है । यहाँ दो दोष दिखलाये गये हैं, १. सिद्धसाधन, २. सिद्धान्तबाध ।

एवं सति— यदि वर्तमान स्फटिक को स्वीकार कर भूतकाल के स्फटिक से उसका भेद दिखलाया जा रहा है तो वर्तमान स्फटिक का भूत के स्फटिक से भेद करना अशक्य है, टी० ५४५ ।

व्यवच्छेदस्याशक्यत्वादनभिधानम्—दोनों का भेद नहीं किया जा सकता अतः यह नहीं कहा जा सकता ।

वर्तमानाच्च— वर्तमान स्फटिक से भूतकाल का अन्य है, यह कौन नहीं मानता ?

न्यायवार्त्तिकम्

अथायुगपत्कालप्रत्ययानामालम्बनं स्फटिको न भवतीति प्रतिज्ञार्थः । एतस्मिन्नपि प्रतिज्ञार्थे न दृष्टान्तोऽस्ति । प्रदीपो दृष्टान्तः—प्रदीपोऽयुगपत्कालः प्रत्ययानामालम्बनं सदादिधर्मा चेति विद्यते दृष्टान्तः ? नासिद्धत्वात्—असिद्धमेतद् अयुगपत्काल प्रत्ययानालम्बनाः प्रदीपादयः, तेषामनेकक्षणावस्थानात्—प्रदीपस्य तावत् स्वकारणसत्तासम्बन्धकालः, सामान्याभिव्यक्तिकालः, अवयवकर्मकालः तदनन्तरं विभागकालः, तदनन्तरं तत्संयोगविनाशकालः, ततो द्रव्यनाश इति । यथा प्रदीप एवं सर्वे भावाः स्वकारणसत्तासम्बन्धा[1] भिव्यक्तितद्विरोध्याश्रयविनाशानुविधानेन विनश्यन्ति, अकारणस्य विनाशानभ्युपगमात् । न हि नः किञ्चित् निष्कारणं विनश्यति । विनश्यदवस्थद्रव्यकर्मवदेतत् स्यात् ? न कर्मणोऽभ्युपगमे विरोधात्, अनभ्युपगमाच्च ।

(शङ्का) यदि (प्रतिज्ञा का अभिप्राय है) कि एक काल में न होने वाले ज्ञानों का विषय स्फटिक नहीं होता । (समाधान) इस प्रतिज्ञा के अभिप्राय में भी दृष्टान्त नहीं है । (शङ्का) प्रदीप दृष्टान्त है—प्रदीप एक काल में न होने वाले ज्ञानों का विषय नहीं होता तथा सद् आदि धर्म वाला होता है, अतः दृष्टान्त है (ही) । (समाधान) नहीं, असिद्ध होने से—यह असिद्ध है कि प्रदीप आदि एक काल में न होने वाले ज्ञानों के विषय नही होत, उनके अनेक क्षणों में अवस्थित होने से—प्रदीप (ही देखिये) अपने कारण की सत्ता से सम्बन्ध का समय (क्षण) सामान्य (जाति) की अभिव्यक्ति का समय, अवयवों के कर्म का समय, उसके पश्चात् (अवयवों के) विभाग का समय, उसके पश्चात् उनके संयोग के विनाश का समय, तब द्रव्य का नाश । जैसे प्रदीप है इसीप्रकार सब भाव पदार्थ हैं जो अपने कारण की सत्ता से सम्बन्ध, (सामान्य की) अभिव्यक्ति, उसके विरोधी के आश्रय के नाश के अनुविधान से नष्ट होते है, क्योंकि विना कारण की वस्तु का विनाश नहीं स्वीकारा जाता । वस्तुतः हमारे मत में कोई भी बिना कारण मष्ट नही होता । (शङ्का) यदि नष्ट होने वाले द्रव्य के कर्म के समान यह हो जाये ? (समाधान) नही, कर्म की स्वीकृति में विरोध होने से और हमारे द्वारा न स्वीकारने से भी ।

तद्विरोध्याश्रयविनाशानुविधानेन विनश्यन्ति—टीका में 'विनश्यति' पाठ है । यहाँ विरोधी गुण के अभिप्राय से कहा गया है, गुण विरोधी गुण से नष्ट हो जाता है । अथवा आश्रय के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है, आश्रय का अभिप्राय है समवायी, कारण, यह उपलक्षण है कभी-कभी निमित्त कारण के नष्ट हो जाने पर भी गुण नष्ट हो जाता है, टी० ५४५-५४६ ।

विनश्यदवस्थद्रव्यकर्मवदेतत् स्यात्—यह पूर्वपक्ष की शङ्का है, प्रदीप दृष्टान्त न भी हो किन्तु विनश्यद् अवस्था वाले द्रव्य में जो कर्म उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है ।

न कर्मणः—क्षणिक वादी ने कर्म को स्वीकारा नहीं, टी० ५४६ ॥

अनभ्युगमाच्च—उस कर्म को क्षणिक हम नहीं मानते, टी० ५४६॥

---

१. सम्बन्ध, नास्ति पा० ।

न्यायवार्त्तिकम्

विनाशहेत्वभावादिति चेत्—अथ मन्यसे 'न विनाशकारणमस्ति, तस्माद् उत्पन्नमात्र एवायं भावो विनश्यति' इति ? न विकल्पानुपपत्तेः—विनाशहेतुर्नास्तीति, ब्रुवाणः पर्यनुयोक्तव्यः[1] किमकारणत्वाद्विनाशो नास्ति, उताकारणत्वान्नित्य इति। भवतां पक्षेऽकारणं द्वेधा नित्यमसच्च अस्माकं तु नित्यमेव। यद्यकारणत्वान्नित्यो विनाशः, कार्यस्योत्पादो न प्राप्नोति, उत्पन्नस्य च भावस्य विनाशेन सहावस्थानमिति च दोषः। ततश्च भावानामभावाविरोधादत्यन्तमवस्थानमिति। अथासन् विनाशः ? एवमपि सर्वनित्यत्वं विनाशाभावाद्--यदि चाऽसन् विनाशो विनश्यतीत्यसति विनाशे प्रत्ययो न प्राप्नोति, नासत्यां गतौ गच्छतीति भवति।

(शङ्का) यदि विनाश के हेतु के अभाव से—यदि मानते हो कि विनाश का कारण नहीं होता इसलिये यह भाव (सत्पदार्थ) उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है ? (समाधान) नहीं, विकल्प न बनने से—विनाश हेतु नहीं है, यह कहने वाले से पूछना है, क्या कारण न होने से विनाश नहीं होता अथवा (विनाश का) कारण न होने से नित्य है। आपके मत में कारण न होना दो प्रकार का है नित्य और असत्, हमारे (मत में) तो नित्य ही है। यदि कारण न होने से विनाश नित्य है तो कार्य की उत्पत्ति नहीं प्राप्त होती और उत्पन्न होने वाले सत्य पदार्थ की विनाश के साथ अव स्थिति होगी, यह दोष आता है, और तब भावों का अभाव से विरोध न होने के कारण अत्यन्त अवस्थान होगा। यदि विनाश असत् है ? (समाधान) इसप्रकार भी सब नित्य होंगे विनाश का अभाव होने से। (शङ्का) और यदि विनाश असत् है ? (समाधान) तो असत् विनाश में नष्ट होता है, यह प्रतीति नहीं प्राप्त होती। गति न होने पर तो गच्छति यह नहीं होता।—

विनाशहेत्वभावादिति चेत्—वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका में कितने ही विकल्प किये हैं सम्भवतः वे विकल्प आगे के ग्रन्थों के आधार पर हैं। न्यायवार्त्तिक में केवल इतना कहा गया है कि "न विनाशकारणमस्ति तस्माद् उत्पन्नमात्र एवायं भावो विनश्यति टी० ४४६। इसका परिहार 'न विकल्पानुपपत्तेः' इस ग्रन्थ में किया गया है, टी० ५४७-५४८।

भवतां पक्षे—बौद्ध के मत में 'अकारणं द्वेधा नित्यम् असच्च', (वार्त्तिक ऊपर)।

ततश्च भावानाम्—भाव तथा अभाव का सहावस्थान होगा तो इसमें क्या दोष है ? इस पर कहा गया है ततश्च भावानामितिः टी० ५४८।

अथासन् विनाशः—यदि विनाश को असत् (तुच्छ) माना जाये तो सभी नित्य होंगे क्योंकि किसी का विनाश न होगा।

यदि चाऽसन् विनाशो—यदि विनाश को असत् माना जाये तो असत् विनाश में नष्ट होता है ऐसा ज्ञान न होगा।

---

१. पर्यनुयोज्यः, पा०। २: अकारणं द्विधा भवति नित्यमसच्च, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

अथाविनाशित्वादकारणे विनाश इति मन्यसे ? विनाशो न विनश्यतीति कुत एतत् ? विनष्टानां पुनरनुत्पत्तेरिति चेत्—अथ मन्यसे यदि विनाशो विनश्येत विनष्टः पुनरुत्पद्येत ? न युक्तमेतत्—न हि विनाशो (भावा) भावो यतोऽस्य विनाशाद् भवेत्[1], अपितु कारणवान् भावस्तस्य यदा कारणं भवति तदोत्पाद इति। अपि च विनाशः कारणवान् च न विनश्यत्यभावत्वात्, भावधर्मः एष०[2] यत् कारणवत् तद्विनश्यति' इति। अभावस्त्वकारणोऽपि विनश्यति' इति; यथा प्रागभाव कारणवानपि न विनश्यति यथा प्रध्वंसाभावः। यदि कारणवान् विनाशो ननु जनकं विनाशकं प्राप्नोति—य एवाग्निसंयोगः पाकजानामुत्पादयिता[3] स एव पाकजान्तरोत्पादे पूर्वपाकजानुच्छिनत्ति' इति जनकं विनाशकं प्राप्तम्[4]।

यदि यह मानते हो कि विनाश के अविनाशी होने से विनाश का कोई कारण नहीं होता ? विनाश नष्ट नहीं होता, यह कैसे ? (शङ्का) नष्ट हुए की फिर उत्पत्ति न होने से यदि मानते हो यदि विनाश नष्ट हुआ करे तो नष्ट हुआ (पदार्थ) फिर उत्पन्न हो जाया करे (समाधान) यह ठीक नहीं, वस्तुतः विनाश (कोई) भाव (सत्पदार्थ) नहीं जो इस (विनाश) के विनाश से (फिर पदार्थ) हो जाये, अपितु कारण वाले भाव पदार्थ में ऐसा होता है, उसका जब कारण होता है तब उत्पत्ति हो जाती है। विनाश भी कारण वाला है किन्तु वह नष्ट नहीं होता, क्योंकि (वह) अभाव है। यह तो भाव पदार्थ का धर्म है 'जो कारण वाला है वह नष्ट हो जाता है' किन्तु अभाव तो कारण रहित होकर भी नष्ट हो जाता है, जैसे प्रागभाव है, कारण वाला भी नष्ट नहीं होता जैसे प्रध्वंसाभाव है। (शङ्का) यदि विनाश कारण वाला है तो जो उत्पादक है वही नाशक हो जाता है, यह प्राप्त होता है–जो अग्नि का संयोग पाकजों (रूपादि) का उत्पादक है वही अन्य पाकजों के उत्पन्न हो जाने पर पहले पाकजों को नष्ट कर देता है (उच्छिनत्ति) इसप्रकार जो उत्पादक है वह विनाशक हो जाता है, यह प्राप्त होता है।

न हि विनाशो भावो यतोऽस्य विनाशाद् भवेत्—यहाँ म० गङ्गानाथ झा ने 'नहि विनाशाभावो यतोऽयं विनाशविनाशाद् भवेत्' यह पाठ माना है और इसके अनुसार ही अनुवाद (ट्रान्सलेशन) किया है।

अपि तु कारणवान् भावः—जो भाव पदार्थ है, कारण वाला है उसकी उत्पत्ति होती है।

अपि च विनाशः—विनाश तो अभाव रूप है अतः वह नष्ट नहीं होता, कारण वाला नष्ट हो जाता है यह तो भाव का धर्म है।

यदि कारणवान् विनाशो ननु जनकं विनाशकं प्राप्नोति—यदि विनाश का कारण होता है तो जो उत्पादक है वह विनाशक भी हो जायेगा। इसका समाधान 'नानवबोधात्' (अग्रिम पृष्ठ) में किया गया है।

---

१. यतो विनाशविनाशाद्भवेत्, पा०। २. एव, पा०। ३. उत्पादकः, पा०। ४. प्राप्नोति, पा०।

न्यायवार्तिकम्

नानवबोधात्[1]—नेदं भवता काश्यपीयं दर्शनं व्यज्ञायि, न हि नो य एवाग्निसंयोगः पाकजानुत्पादयति स एवोच्छिनत्ति, अपि त्वग्निसंयोगान्तरं पूर्वरूपाद्युच्छिनत्ति समनन्तरकालाद्[2] रूपादीन् आरभते ततस्तान्यप्यन्यस्तानप्यन्य इत्येवं जनकस्य विनाशकत्वप्रसङ्गो नास्ति। अथ मन्यसे जनकसरूपमपि विनाशकं न भवति? न न भवति—दृष्टो ह्यबादिसंयोगादङ्कुरस्योत्पाद; स एवाबादिसंयोगस्तद्विनाशक इति। न हि दृष्टे ऽनुपपन्नं नाम। यश्चाकारणविनाशे दोषः सोऽपरिहार्य इत्यत एवमुच्यते जनकसंरूपं विनाशकमिति।

एवं तावदन्यत्वे साध्ये दोष उक्तः। ये तु क्षणिकत्वं साधयन्ति विशेषदर्शनाद् विनाशहेत्वभावाच्च, तान् प्रतीदमुच्यते 'क्षणिका संस्काराः' इति ब्रुवाणः क्षीणकशब्दार्थं प्रष्टव्यः किमुक्तं भवति क्षणिका इति। यदि विनाशिन

(समाधान) नहीं, न समझने से—आपने इस काश्यपीय दर्शन (वैशेषिक दर्शन) को भली-भांति नहीं समझा (व्यज्ञायि), वस्तुतः हमारे यहाँ जो अग्नि का संयोग पाकजों (रूपादि) को उत्पन्न करता है, वही नष्ट नहीं करता, अपितु दूसरा अग्निसंयोग पूर्व रूपादि को नष्ट करता है और तत्पश्चात् रूपादि को उत्पन्न करता है, फिर उनको भी दूसरा, उनको भी दूसरा (अन्य) इसप्रकार उत्पाद करने वाले का विनाशक होने का प्रसङ्ग ही नहीं होता। (शङ्का) यदि मानते हो कि जनक का सजातीय (सरूपम्) भी विनाशक नहीं होता? (समाधान) नहीं, नहीं होता—यह देखा गया है कि जल आदि के संयोग से अङ्कुर की उत्पत्ति होती है और वही जलादि का संयोग उसका विनाशक होता है। देखे गये में न बन सकना नहीं होता। और जो कारण के बिना विनाश में दोष है वह अपरिहार्य है (उसका परिहार नहीं किया जा सकता) इसलिये यह कहा जाता है कि उत्पादक का सजातीय विनाशक होता है।

इसप्रकार तो (स्फटिक की) अन्यता सिद्ध करने में दोष कहा गया है। किन्तु जो क्षणिकता सिद्ध करते हैं १. विशेष दर्शन से तथा २. विनाश का हेतु न होने से उनके प्रति यह कहा जाता है, संस्कार क्षणिक है, यह कहने वाले से पूछना है कि क्षणिक शब्द का क्या अभिप्राय है? यदि इसका अभिप्राय है 'विनाशी है'।

नेदं भवता काश्यपीयं दर्शनं व्यज्ञायि—आपने वैशेषिक दर्शन भली-भांति नहीं जाना।]

जनकस्य विनाशकत्वप्रसङ्गो नास्ति—जनकमेव विनाशकं स्यात्, इसके प्रतिषेध का उपसंहार यहाँ किया गया है।

अथ मन्यसे—यह पूर्वपक्ष की शङ्का है, इसका समाधान 'न न भवति' से किया गया है।

अन्यत्वे साध्ये दोष उक्तः—यद्यपि क्षणिकत्व भी पहले कहा गया है और उसमें दोष भी दिखलाया गया है तथापि अन्यत्व ही यहाँ प्रधान है, टी० ५५०।

---

1. अनवबोधात्, पा०। 2. समनन्तरकालान् रूपादीनारभते, पा०।

इति ? सिद्धसाधनम्। अथाशुविनाशिन इति ? तदा विशेषणं सिद्धान्तविरोधि। अथोत्पन्नध्वंसिन इति ? एतदपि तादृगेव। उत्पन्ना प्रध्वसिन इति सिद्धसाधनम्। अथोत्पन्नो विनष्ट इत्येकः कालः—उत्पत्तिविनाशावेककालाविति ? तेन यथाऽनुत्पन्नस्योत्पत्तिरेवमनुत्पन्नस्य विनाश इति प्राप्तम्। अथोत्पन्नं विनश्यतीति ? एतस्मिन्नपि पक्षे 'उत्पत्तिवद् विनाशः कारणवान्'—यथोत्पत्तिः क्रियात्वात् कादाचित्कत्वात् सकारणा तथा विनाशःकारणमनुभवति ततो विनश्यतीति। अकारणे च विनाशे दोष उक्तः।

यश्चायं मत्वर्थीयः क्षणिका इति स कथम् ? यदि निरुक्तन्यायेन क्षयः क्षण इति, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति ? तन्न युक्तं कालभेदात्—यदा क्षयो न तदा क्षयीति। भिन्नकालयोर्न मत्वर्थीयो दृष्टः। अथ पुनर्भाव एवानन्तरेण विनाशेन विशिष्यमाणः क्षणिक इत्युच्यते।

तो सिद्धसाधन (सिद्ध का सिद्ध करना), यदि (इसका अभिप्राय है) आशु विनाशी हैं तब यह विशेषण (आशु) सिद्धान्त का विरोध करता है। यदि (इसका अभिप्राय है) उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाले हैं, यह भी वैसा ही है। जो उत्पन्न होते हैं, वे नष्ट हुआ करते हैं, यह सिद्धान्त है। (शङ्का) यदि उत्पन्न (होते ही) नष्ट हो जाता है, यह एक काल है—उत्पत्ति और विनाश (दोनों) एक काल (क्षण) में हो जाते हैं। (समाधान) उस (कथन) से जैसे उत्पन्न न हुए की उत्पत्ति होती है इसीप्रकार अनुत्पन्न का विनाश होता है, यह प्राप्त हुआ। (शङ्का) यदि उत्पन्न नष्ट होता है। (समाधान) इस पक्ष में भी उत्पत्ति के समान विनाश (भी) कारण वाला होता है—जैसे उत्पत्ति क्रिया होने के कारण कभी-कभी होने से कारण युक्त होती है उसीप्रकार विनाश (भी) कारण का अनुभव करता है, तब नष्ट होता है (विनश्यति)। विनाश के कारणहीन होने पर दोष कहा गया है।

(शङ्का) और जो यह मत्वर्थक प्रत्यय करके (अन इनिठनौ, ५।२।११५।।) क्षणिक (शब्द) बनाया है वह कैसे ? यदि निर्वचन की रीति से (न्यायेन) क्षय का अर्थ है क्षण इसका क्षय (क्षण) होता है अत; यह क्षणिक है। (समाधान) वह ठीक नहीं, काल का भेद होने से—जब क्षय है तब क्षयी नहीं है। भिन्न काल वालों में (तो) मत्वर्थक प्रत्यय देखा नहीं ग ा। (शङ्का) किन्तु यदि पदार्थ (भाव) ही अनन्तर विनाश से विशिष्ट होकर क्षणिक कहा जाता है (समाधान)

विशेषणं सिद्धान्तविरोधि—यदि अनाशुविनाशी कुछ पदार्थ हों तो आशु विशेषण दिया जा सकता है किन्तु आपके मत में सभी पदार्थ आशुविनशी हैं फिर 'आशु' विशेषण व्यर्थ है, सिद्धान्तविरोधी है, टी० ५५०।

मत्वर्थीयः—मतुप् प्रत्यय के अर्थ में, क्षणिक में अन इनिठनौ (५।२।११५) से मतुबर्थीय ठन् प्रत्यय होता है, टी० ५५०।

विशिष्यमाणः—उपलक्षित, विनाशेन विशिष्यमाणः' इत्युपलक्ष्यमाणः टी० ५५०।

---

१. क्षण, पा०।

न्यायवार्त्तिकम्

तथापि तेनैव तदेव तद्वन्न भवतीति न युक्तो मत्वर्थीयः। अथ क्षणावस्थितकालाः क्षणिका इति—सर्वान्त्यं कालं क्षणत्वेन प्रतिपद्य तत्र येऽवतिष्ठन्ते ते क्षणिका इति ? एतदपि न युक्तम्, संज्ञामात्रत्वेन कालस्याभ्युपगमात् 'पञ्च भिक्षवः संज्ञाभेदमात्रम्' इति शास्त्रम्। न हि संज्ञामात्रं वस्तुविशेषणत्वेन युक्तम्। क्षणिका इति च प्रतिज्ञां कृत्वा न दृष्टान्तोऽस्तीत्युक्तम्, प्रदीपादेरसिद्धत्वात्।

येऽपि हेतवोऽन्ते विशेषदर्शनाद् इत्येवमादयस्तेऽप्यसिद्धाः, अन्यथासिद्धाः, विरुद्धा वा भवन्तीत्यहेतवः। उपेत्य वा विशेषवत्वं वर्तमानैकक्षणविशेषवत्त्वेनानैकान्तिकम् उभयपक्ष सम्प्रतिपत्त्या य एव क्षणो वर्तमानः स विशेषवान् भवत्येकश्चेत्यनेकान्तः। अन्ते विशेषदर्शनाद् इति च विशेषणानर्थक्यम्,

---

तो भी उससे ही वही उस वाला नहीं होता अतः यहाँ मत्वर्थक प्रत्यय युक्त नहीं। (शङ्का) यदि क्षण भर अवस्थित रहने वाले क्षणिक हैं—सबसे अन्तिम काल को क्षण मानकर वहाँ (क्षणभर) जो ठहरते हैं वे क्षणिक हैं ? (समाधान) यह भी ठीक नहीं, संज्ञामात्र रूप से काल को स्वीकार करने के कारण—यह बौद्धों का शास्त्र है भिक्षुओ, 'पाँच केवल संज्ञाएँ हैं' वस्तुतः केवल संज्ञा (नाम) वस्तु का विशेषण मानना युक्त नहीं, और क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त नहीं है, यह कहा गया है, प्रदीप आदि की क्षणिकता असिद्ध ही है।

जो भी हेतु दिये गये हैं 'अन्ते विशेषदर्शनात्' (अन्त में विशेष देखे जाने से) इत्यादि वे भी असिद्ध हैं, अन्यथासिद्ध हैं अथवा विरुद्ध है; अतः अहेतु (हेत्वाभास) हैं। अथवा विशेष होना स्वीकार करके वर्तमान एक क्षण में विशेष वाला होने से अनैकान्तिक (सव्यभिचार) होता है—दोनों पक्ष (वादी तथा प्रतिवादी) की स्वीकृति से जो ही क्षण वर्तमान है, वह विशेष वाला है तथा एक भी अतः अनेकान्त होता है। अन्त में विशेष देखने से यहाँ 'अन्त' विशेषण अनर्थक है।

सर्वान्त्यं कालम्—टीका में सर्वान्तिकालम्, यह पाठ है। ज्योतिर्विद्या से स्वीकृत 'सर्वान्त्यं कालम्' सबसे अन्तिम काल जो क्षण है वह तो वास्तविक नहीं क्षणिकता तो वास्तवी मानी जाती है, टी० ५५०, ५५१।

ये चापि—पक्षवचनं दूषयित्वा हेतुं दूषियमि येऽपीति, टी० ५५१।

इत्येवमादयः—यहाँ 'आदि' शब्द से सत्व, कृतकत्व आदि लिये जाते हैं। क्षणिकता का सत्तामात्र से अनुबन्ध दिखलाया है सत्वं नामार्थक्रियाकारित्वं भावानाम् नाऽन्यत्, न ह्यस्ति संभवः संश्च भावो न चार्थक्रियां करोतीति, टी० ५५१। यहाँ क्रमाक्रम का निराकरण किया गया है और साथ ही स्थिरतावादी की 'क्रमवत्सहकारियोगात् क्रमेण करोतीति। इस युक्ति का भी खण्डन किया गया है। इसप्रकार टीका में क्षणिकता की सिद्धि प्रत्येक दृष्टि से की गई है। (पृ० ५५१ से ५५६) अत्रोच्यते' इत्यादि से इसका निराकरण भी किया गया है (५५६ से ५६१ तक)।

न्यायवार्तिकम्

अन्तार्थानभिधानात्—कतमस्मिन् अन्ते विशेषदर्शनाद् इति च वक्तव्यम्। अथान्तो विनाशः ? नैतस्मिन् विशेषदर्शनमस्ति। अथान्तिमं वस्त्वेवान्तशब्दवाच्यम् ? एवं सत्येकस्मिन् विशेषदर्शनमिति विरुद्धो हेतुः।

योऽप्ययं हेतुर्दर्शनादर्शनादिति—अस्यार्थः; नीयमानस्य किल प्रदीपादेर्द्रव्यस्य देशान्तरे उत्पादः, देशान्तरे निरोधः, तत्कृते दर्शनादर्शने स्तः। अतश्च देवदत्तादेर्गच्छतो दर्शनादर्शनादतस्तस्यापि प्रतिक्षणमुत्पादविनाशाविति ? नैतन्न्याय्यम् देवदत्तादेर्दर्शनादर्शनयोरन्यनिमित्तत्वात्—संयोगविभागकृते दर्शनादर्शने नोत्पादविनाशकृते, यस्मिन्देशे सयोगो विनष्टः, तस्मिन् संयोगी न गृह्यते; यस्मिन्नुत्पन्नस्तस्मिन् गृह्यते, इति। यद् योगाद्धि द्रव्ये इहबुद्धिर्भवति। तद् भावाभावयोस्तद्वत्त्वाद् इति। अथ संयोगविभागौ न विद्येते ? तस्यापि संयोगोऽर्थान्तरं

अन्त का अभिप्राय न कहने से—किस अन्त में विशेप दिखाई देने से, यह कहना होगा (शङ्का) यदि अन्त का अर्थ है विनाश (समाधान) इस (विनाश) में तो विशेष दर्शन नहीं होता। (शङ्का) यदि अन्तिम वस्तु ही अन्त शब्द का अभिप्राय (वाच्य) है ? (समाधान) ऐसा होने पर एक में विशेष दर्शन होता है अतः यह विरुद्ध हेतु है।

(शङ्का) जो यह हेतु है दिखाई देने (दर्शन) तथा न दिखाई देने से—इसका अभिप्राय है अवश्य ही ले जाये जाते हुए प्रदीप आदि द्रव्य की अन्य देश में उत्पत्ति तथा अन्य देश में विनाश होता है, उसके किये दर्शन तथा अदर्शन हैं। इसलिये जाते हुए देवदत्तादि के दर्शन तथा अदर्शन से उसके भी प्रतिक्षण उत्पत्ति तथा विनाश होने हैं। (समाधान) यह न्याययुक्त नहीं, देवदत्त आदि के दर्शन तथा अदर्शन, का अन्य निमित्त होने से—सयोग और विभाग द्वारा किये जाते है दर्शन तथा अदर्शन, उत्पत्ति तथा विनाश द्वारा नहीं किये जाते, जिस देश (स्थान) में संयोग नष्ट हो जाता है उसमें संयोगी नहीं दिखाई देता जिसमें उत्पन्न हो जाता है उसमें गृहीत होता है। जिसके सम्बन्ध से द्रव्य में 'यहाँ है' (इह) ऐसा ज्ञान होता है। उसके होने में उस (दर्शन) वाला होता है और उसके न होने में नहीं। यदि (मानते हो कि) संयोग विभाग नहीं है उसके (लिये भी) संयोग अन्य पदार्थ है, यह

उपेत्य वा विशेषवत्त्वम्—[पृ० ६२० से] विशेषवत्त्व स्वीकार करके, उसकी सिद्धता तथा अनैकान्तिकता दिखलाई गयी है, टी० ५६०।

योऽप्ययं हेतुर्दर्शनादर्शनादिति—आगे इसका अभिप्राय दिखलाया गया है, 'अस्यार्थः' फिर इसकी अन्यथासिद्धि दिखलाई गई है, दर्शनादर्शनलक्षणस्य हेतोरन्यथासिद्धतेत्याह, योऽप्ययं हेतुरिति टी० ५६०।

नैतन्न्याय्य— न्यायादुपेतं न्याय्यम्, यह न्याययुक्त नहीं, यहाँ दर्शनादर्शन क्षणित्व में हेतु है, इसका निराकरण किया है। वस्तुतः दर्शनादर्शन तो किसी वस्तु का संयोग विभाग से होता है। संयोगविभाग आगे सिद्ध किये जा रहे हैं।

भवतीति प्रतिपादितम्। एतेन विभागो व्याख्यातः। तदेवं संयोगविभागोत्पत्तेर्द्रव्यस्य दर्शनादर्शने भवतो नान्यथेति।

यत्पुनरेतत् प्रदीपस्य देशान्तर उत्पाद इत्येतदपि न बुद्ध्यामहे। कथमिति यत्तावद्भवतां पक्षे वस्तूत्पन्नं यत्र तत्रैव तद् ध्वंसते, यद् उत्पित्सु तद् अनाहितसंस्कार-मसत्त्वाद्देशान्तरे नोत्पत्तुमर्हतीति। अथानाहितसंस्कारस्यापि देशान्तरे उत्पादः ? न किञ्चिद् वस्तु स्वभिन्नदेशमुत्पद्यते। अथ कारणं संस्कृतमिति तदाधेयवशात् कार्यमपि तथाभूतमेवोत्पद्यते' इति तुल्यं कार्येण—यथैव कार्ये संस्कार आधातुमशक्यः, तथा कारणेऽपीति तुल्यम। नित्यं भवतां पक्षे भिन्नदेशेन कार्येणोत्पत्तव्यमभिन्नदेशेन वा। एतेनैव तुल्यपातो व्याख्यातः। अतुल्यपातमत् क्षणिकत्वमिति, न किलाकाशे पततो लोष्टादेः प्रतिबन्धकं किञ्चिदस्ति,

---

प्रतिपादित किया जा चुका है। इससे विभाग की व्याख्या कर दी गई। तो इस-प्रकार संयोग-विभाग की उत्पत्ति से द्रव्य के दर्शन तथा अदर्शन होते हैं। अन्यथा नहीं।

किन्तु जो यह कहा गया है कि प्रदीप की अन्य देश में उत्पत्ति हो जाती है, यह भी हम नहीं समझते। कैसे ? प्रथमतः आपके मत में जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती है, वहीं वह नष्ट हो जाती है, जो उत्पन्न होने को है (उत्पित्सु) वह असत् होने के कारण सस्कार के अनाहित होने वाला अन्य देश में उत्पन्न नहीं हो सकता। (शङ्का) यदि अनाहित संस्कार की भी अन्य देश में उत्पत्ति होती है। (समाधान) तो कोई भी वस्तु अपने से अन्य देश में उत्पन्न नहीं होती। यदि कारण सस्कार से युक्त हो गया। तब तो उसका आधेय होने से कार्य भी उसीप्रकार का (संस्कार युक्त) ही उत्पन्न होता है, इसप्रकार (कार्य के) समान होगा—जिसप्रकार कार्य में संस्कार का आधान नहीं किया जा सकता उसीप्रकार कारण मे भी, अतः समान हैं। सदा ही आपके मत में भिन्न देश में अथवा अभिन्न देश में कार्य उत्पन्न होगा। इससे ही समान पतन न होने की व्याख्या हो गई। असमान पतन होने से क्षणिकता (सिद्ध) होती है। (शङ्का) वस्तुतः (किल) आकाश में गिरते हुए ढेले आदि का प्रतिबन्धक

तदेवं संयोगविभागोत्पत्तेर्द्रव्यस्य०—संयोग विभाग से दर्शनादर्शन होते हैं, इसका यहाँ उपसंहार किया गया है।

अतुल्यपातः—समान पतन न होना, क्षणिकवादी अतुल्यपात को क्षणिकता का हेतु कहता है।

न किलाकाशे पततो लोष्टादेः—मिट्टी का ढेला (लोष्ट) तथा श्येन आदि जो समान भार वाले हैं उनमें से एक के गिरने में गुरुत्व, प्रयत्न तथा क्षेप (फैंकना) कारण होते हैं जब ऊपर (महल आदि के) बैठा व्यक्ति भूमि पर स्थित पारावत (कबूतर) के प्रति श्येन को फैंकता है तो इसमें श्येन को ग्रहण करने की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न श्येन का गुरुत्व और व्यक्ति का क्षेप ये सब आशुपतन के कारण होते हैं, लोष्टादि में ये सब नहीं होते अतः वह विलम्ब से गिरता है, अतः आशुपतन से क्षणिकता की सिद्धि नहीं होती, द्र० टी० ५६१।

यदनुविधानेन लोष्टादिकं किञ्चिच्चिरेण पतति, किञ्चिदाशिवति, तस्मात् क्षणिकत्वात् काश्चिदवस्थास्तादृश्य उत्पद्यन्ते यासां न भवत्यधः सन्तानोत्पत्तौ सामर्थ्यम् पुनश्च तादृश्य उत्पद्यन्ते यासां भवतीति ? एतदप्यन्यथासिद्धमेव तुल्यानां गुरुत्ववतां द्रव्याणामेकस्य गुरुत्वप्रयत्नक्षेपाः कारणम्, एकस्य गुरुत्वमात्रम्, एकस्य गुरुत्वप्रयत्नाविति। तदेव कारणभेदानुविधायीनि गुरुत्ववन्ति द्रव्याणि चिराशुपातानुविधानभाञ्जि भवन्ति, इत्यहेतुः[1] अतुल्यपातः। यदपीदमिषोश्चापतनं भवेदिति ? संस्कारैकत्ववादिनो दोषः, अयमपि सस्कारैकत्वानभ्युपगमेन प्रत्युक्तः। यथा चानेकः संस्कार इति तथोक्तं 'पाणिनिमित्तप्रश्लेषसूत्रे' इति। एकश्च संस्कारः यदा कदाचिन्निमित्तभेदात् पटूनि कर्माणि करोति, कदाचित् मन्दानीति गुरुत्ववदद्रष्टव्यम्—यथैकं गुरुत्वं सहकारिसंयोगात् मन्दं पातं करोति, तदेव प्रतिबन्धकापगमे पटुं करोति, दृष्टो हि प्राव्ण आकाशे मुक्तस्य पटुः पातो मन्दोऽपामिति, तदेवमतुल्यपातोऽप्यहेतुः।

(रोकने वाली) कुछ नहीं है, जिसका अनुसरण करके लोष्टादि कुछ विलम्ब से गिरता कोई तत्काल ही (गिर जाता) है, इसलिये क्षणिक होने से कुछ अवस्थाएँ वैसी उत्पन्न हो जाती हैं, जिनकी नीचे सन्तान की उत्पत्ति में सामर्थ्य नहीं होता और फिर वैसी (अवस्थाएँ) उत्पन्न हो जाती हैं जिनका (सामर्थ्य) होता है ? (समाधान) यह भी अन्यथासिद्ध ही है—तुल्य भार वाले (गुरुत्ववताम्) द्रव्यों के एक के (पतन का) कारण गुरुत्व, प्रयत्न तथा क्षेप (होते है) एक का गुरुत्व मात्र (होता है) एक के गुरुत्व तथा प्रयत्न (होते हैं)। तो इसप्रकार कारण-भेद का अनुसरण करने वाले, गुरुत्व वाले द्रव्य विलम्ब तथा तत्काल पतन के भागी होते हैं, इसलिये असमान पतन हेतु नहीं (क्षणिकता में)। (शङ्का) जो यह कहा गया है कि बाण (इषोः) का पतन न होगा ? (समाधान) संस्कार को एक मानने वाले के मत में (यह) दोष है, वैसा उसका भी संस्कार को एक न मानने से निराकरण कर दिया गया है। और जैसे अनेक संस्कार हैं, वैसे कह दिया गया है 'पाणिनिमित्त प्रश्लेष' सूत्र में और जब एक संस्कार (माना जाता है) तो वह कभी निमित्त के भेद से तीव्र कर्म करता है कभी मन्द यह गुरुत्व के समान जानना चाहिये—जैसे एक (ही) गुरुत्व सहकारी के संयोग से मन्द पतन करता है, वही प्रतिबन्धक के हट जाने पर तीव्र (कर्म) करता है, वस्तुतः आकाश में छोड़े गये पाषाण का (प्राव्णः) तीव्र पतन देखा गया है तथा जलों का मन्द पतन। इसप्रकार समान पतन न होना भी (क्षणिकता का) हेतु नहीं (अहेतुः)।

एतदप्यन्यथासिद्धमेव—किसी के पतन में गुरुत्व, प्रयत्न तथा क्षेप कारण हैं किसी के केवल गुरुत्व अतः शीघ्र तथा विलम्ब से पतन होता है।

अहेतुरतुल्यपातः—समान न गिरना क्षणिकता में हेतु नहीं।

एकश्च संस्कारः—यहाँ दिखलाया गया है कि औलूक्य (वैशेषिक) मत में दोष नहीं है, औलूक्यमतेऽपि न दोष इत्यत आह' एकश्च सस्कार इति टी० ५६१।

---

[1] हेतु पा०।

न्यायवार्तिकम्

अथाक्षणिकत्वे किं प्रमाणम् ? उक्तमाधाराधेयभावादेकालानुभाविनी कार्यकारणे, कुण्डेबदरवदिति । अतश्चविप्रतिपन्ना अयुगपत्काला प्रत्यया एकविषयाः । अव्युत्थायितत्प्रत्ययसामानाधिकरण्ये सति समानशब्दवाच्यत्वात् वर्तमानक्षणानेकपुरुषप्रत्ययवत्—यथा वर्तमानक्षणविषयाणाम् अनेकपुरुषप्रत्ययानाम्, अव्युत्थायितत्प्रत्ययसामानाधिकरण्ये सति समानशब्दवाच्यानामेकविषयत्वम् तथा चाव्युत्थापितत्प्रत्ययसमानाधिकरणः समानशब्दवाच्याश्च विप्रतिपन्नाअयुगपत्कालाः प्रत्ययास्तेप्येकविषया इति । प्रत्यात्मं नानेककर्तृकाः प्रत्यया अप्रतिसन्धानप्रसङ्गात्, देवदत्तादिप्रत्ययवदिति । रूपरसगन्धस्पर्शप्रत्यया एकानेकनिमित्ताः । मयेतिप्रतिसन्धानात्, कृतसमयानां बहूनां वर्तमानैकक्षणानेकविज्ञानवदिति । श्वस्तनाद्यतनविज्ञानान्येकसन्ततौ, एकानेकनिमित्तानि, मयेत्तिप्रतिसन्धानात्,

---

(शङ्का) स्थिरता में क्या प्रमाण है । (समाधान) कहा गया है कि आधार-आधेय भाव होने से कारण तथा कार्य एक काल में होते हैं (एककालानुभाविनी), कुण्ड में बदर (बेर) के समान' (क) इसलिये विवाद के विषय (विप्रतिपन्ना) ज्ञान जो एक साथ न होने वाले हैं किन्तु एक विषय में होते हैं, विपरीत ज्ञान (व्युत्थापि= भ्रान्तमिति यावत्, टी० ५६१) से समपाधिकरण न होने पर समान शब्द के वाच्य होने से जैसे वर्तमान क्षण विषयक अनेक व्यक्तियों (पुरुष) के ज्ञान, जो विपरीत ज्ञान से समानाधिकरण नहीं होते और समान शब्द के वाच्य होते हैं उनका एक विषय होता है उसी प्रकार विपरीत ज्ञान के समानाधिकरण न होने वाले समान शब्द के वाच्य विवाद के विषय एक साथ न होने वाले ज्ञान हैं, वे भी एक विषय में होते हैं । (ख) प्रत्येक आत्मा में होने वाले ज्ञान अनेक कर्त्ताओं के नहीं, अप्रतिसधान का प्रसङ्ग हो से, देवदत्त आदि के ज्ञान के समान । (ग) रूप रस गन्ध स्पर्श के ज्ञान एक तथा अनेक निमित्तों से होते हैं, मैंने (जाना) ऐसा प्रतिसन्धान होने से, संकेत करने वाले (कृतसमयानाम्) बहुत से जनों के वर्तमान काल के एक क्षण के अनेक ज्ञानों से समान । (घ) कल (आने वाला) के तथा आज के ज्ञान जो एक सन्तान में होते हैं, एक तथा अनेक निमित है । मैंने (जाने) इसप्रकार

अयुगपत्कालाः प्रत्ययाः—इतना ही कहने पर घट पटादिप्रत्यय तथा प्रदीपप्रत्य यद्यपि क्रम से होते हैं तथापि एक विशेप वाले होने लगेगें अतः ,विप्रतिपन्नाः' कहा गया है टी० ५६१ ।

तत्प्रत्ययसमानाधिकरण्ये सति—समान शब्द के वाच्य होने पर भी अक्ष तथा अक्ष में भेद माना जाता है अतः ,तत्प्रत्ययसमानाधिकरण्ह सति' यह कहा गया है टी० ५६२ ।

अव्युत्थायीति—तथापि प्रदीप की प्रतीतियों से ही व्यमिचार होगा अतः कहा गया है । अव्युत्थापीति (अभ्रान्तमिति) अभ्रान्त । व्युत्थातुं भ्रमितुं शीलमस्येति व्युत्थापि भ्रान्तमिति यावत् टी० ५६२

अत्र कश्चित्परिहारमाह,

न पयसः, परिणामगुणान्तरभावात् । ३।२।१५ ॥

'पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह। परिणामश्चावस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति। गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह। गुणान्तरप्रादुर्भावश्च, सतो द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यते, इति। स खल्वेकपक्षीभाव इव। ३।२।१५ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

पूर्ववत्। शास्त्रार्थप्रत्यया एकानेकनिमित्ताः प्रतिसन्धानात् पूर्ववत्। नानाविषयाणां च नानाकर्तृकाणां च प्रत्ययानामप्रतिसन्धानादिति पूर्ववदेव न्याय इति। ३।२।१४ ॥

न पयसः परिणामगुणान्तरभावात् · नैवं क्षीरं विनश्यति, नापि दधि उत्पद्यते अपि त्ववस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरमुत्पद्यते' इत्येके वर्णयन्ति। अपरे त्व-वस्थितस्य द्रव्यस्य गुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यते' इति। स खल्वयमेकपक्षीभाव इव' क उपमानार्थः ? उभयत्र द्रव्यमवतिष्ठते, एकस्य तिरोभावाभिव्यक्ती। एकस्य विनाश-प्रादुर्भावावित्युमानार्थः। ३।२।१५ ॥

इस विषय में किसी (सांख्य) ने परिहार किया है,

दूध का (विनाश) नहीं, परिणाम है, अन्य गुणों का आविर्भाव होने से। ३।२।१५ ॥

एक कहता है कि दूध का परिणाम होता है, विनाश नहीं, और परिणाम अभिप्राय है, अवस्थित द्रव्य का पूर्व धर्म निवृत्त हो जाने पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति होना। अन्य गुणों का प्रादुर्भाव यह दूसरे कहते हैं, और अन्य गुणों का आविर्भाव है, विद्यमान द्रव्य की पूर्व गुण की निवृत्ति होने पर अन्य गुण उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः यह एक मत सा ही है ॥३।२।१५॥

प्रतिसन्धान होने के कारण पहले के समान। (ङ) शास्त्रार्थ विषयक ज्ञान एक तथा अनेक निमित्तों से होने हैं, प्रतिसन्धान के कारण। भिन्न-भिन्न विषयों के और भिन्न-भिन्न कर्ताओं के ज्ञान का प्रतिसन्धान न होने से, यह पहले के समान ही युक्ति है। ३।२।१४॥

न पयसः परिणामगुणान्तरभावात् (यह सूत्र है)। इसप्रकार दूध नष्ट नहीं होता न ही दही उत्पन्न होता है अपितु स्थित द्रव्य का पूर्व धर्म निवृत्त हो जाने पर अन्य धर्म उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कोई कहते हैं। दूसरे तो अवस्थित द्रव्य का एक गुण निवृत्त हो जाने पर अन्य गुण उत्पन्न हो जाता है (यह कहते हैं)। वस्तुतः यह एक मत सा है (भा०) उपमान का क्या अभिप्राय है ? दोनों में द्रव्य स्थित रहता है एक के (मत में) गुण का तिरोभाव एवं अभिव्यक्ति होती है, एक के (मत में) गुण का विनाश एवं प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) होता है ॥३।२।१५॥

गुणान्तर प्रादुर्भावात—द्रव्य तो सत् ही है, गुण भी सत् है केवल (गुण) अनुद्भूत था वह (गुण) उद्भूत हो गया और जो उद्भूत था वह तिरोभूत हो गया, पूर्वगुण के तिरोभूत होने पर दूसरा गुण हो गया, यही परिणाम है।

एकपक्षीभाव इव—दोनों मतों में द्रव्य ज्यों का त्यों रहता है केवल गुण में परिणाम होता है (वार्तिक ऊपर)।

---

१. भाव इति, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अत्र तु प्रतिषेधः,

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् । ३।२।१६ ॥

सम्मूर्छनलक्षणाद् अवयवसमूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते, यथा मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्तते मृद्वच्चावयवान्वयः पयोदध्नोर्न अशेषनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटते इति । ३।२।१६ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

उभयत्रोत्तरम् । व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् । शेषं भाष्ये ।

यत्पुनरेतद् एकस्य तिरोभावाभिव्यक्ती एकस्य विनाशप्रादुर्भावाविति ? तन्न, पूर्वावस्थापरित्यागात्—यदि विनाशोत्पादौ निवृत्तिप्रादुर्भावावथाप्यभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सर्वथा पूर्वावस्थां जहाति द्रव्यमिति, न ह्यनपवृक्तस्य पूर्वावस्थातोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती भवतो विनाशप्रादुर्भावौ वेति । तस्मादयुक्तमवस्थितस्य परिणाम इति । ३।२।१६ ।

यहाँ तो (इस विषय में तो) प्रतिषेध है,

अन्य रचना (व्यूह) से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति का दर्शन पूर्व द्रव्यनिवृत्ति का अनुमान है । ३।२।१६ ।

परस्पर घने मिले हुए (संमूर्छनलक्षणाद्) अवयवों के समूह से अन्य द्रव्य दही के उत्पन्न हो जाने पर पहला दूध द्रव्य अवयव विभाग से समाप्त हो जाता है, यह अनुमान होता है; जैसे मिट्टी के अवयवों के अन्य संस्थान (व्यूह) से अन्य द्रव्य स्थाली (देगची) उत्पन्न हो जाने पर पहिला मिट्टी का पिण्ड द्रव्य मिट्टी के अवयवों के विभाग से समाप्त हो जाता है । मिट्टी के समान अवयवों का अन्वय दूध तथा दही में होता है, यह नहीं कि पूर्णतया नाश होने पर किसी अन्वय के विना ही दूसरे द्रव्य (दही) की उत्पत्ति होती है ।।३।२।१६।।

दोनों के विषय में उत्तर है, 'व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम्' (यह सूत्र है) । शेष भाष्य में है । किन्तु (सांख्य ने) जो यह कहा है कि एक (मत में) तिरोभाव तथा अभिव्यक्ति (होती है) एक (मत में) विनाश तथा प्रादुर्भाव (होता है) । (समाधान) वह (ठीक) नहीं, 'पूर्व अवस्था का त्याग करने से—यदि विनाश तथा उत्पत्ति निवृत्ति और प्रादुर्भाव है अथवा अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति हैं, दोनों प्रकार से द्रव्य पूर्व अवस्था को छोड़ देता है । वस्तुतः पूर्वावस्था को छोडे विना अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति नहीं होती अथवा विनाश और प्रादुर्भाव । इसलिये यह अयुक्त है कि स्थिर वस्तु का परिणाम होता है । ३।२।१६।।

अत्र तु प्रतिषेधः—क्षीर के अवयव ही क्षीर का नाश होने पर विलक्षण द्रव्य (दधि) उत्पन्न करते हैं यदि कारणव्यापार से भी पूर्व कार्य हो तो कारणव्यापार व्यर्थ है, टी० ५६२ ।

तस्मादयुक्तमवस्थितस्य परिणामः—यह वार्त्तिक में उपसंहार किया है ।

न्यायसूत्र भाष्यं च

अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादं च प्रतिषेध उच्यते, इति।

क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिद् चोपलब्धेरनेकान्तः।

३।२।१७ ॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनामिति नायमेकान्तः' इति। कस्मात्? हेत्वभावात् - नात्र हेतुरस्ति। अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवत्, न पुनर्यथा विनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाशः, उत्पत्तिकारणाभावाच्चोत्पत्तिः। एवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारणभावाद् विनाशोत्पत्तिभाव इति।

न्या वार्तिकम्

अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं निष्कारणं च दध्युत्पादम् 'क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः'। क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनाम न पुनः कुम्भादिवत सकारणाविति नात्र हेतुरस्तीति।

दूध का विनाश और दही की उत्पत्ति बिना कारण के स्वीकार करके प्रतिषेध कहा जाता है,

कहीं विनाश के कारण अनुपलब्ध होते हैं कहीं उपलब्ध होते हैं, अतः यह हेतु अनैकान्तिक है। ३।२।१७।

दूध और दही के समान स्फटिक आदि व्यक्तियों का विनाश तथा उत्पत्ति बिना कारण होते हैं यह एकान्त नहीं, क्यों? हेतु न होने से— यहाँ हेतु नहीं है। स्फटिक आदि व्यक्तियों के विनाश तथा उत्पत्ति दूध एवं दही के समान बिना कारक होते हैं किन्तु जैसे घट के विनाश के कारण होने से घट का विनाश और उत्पत्ति के कारण होने से उत्पत्ति होती है, इसप्रकार स्फटिक आदि व्यक्तियों के विनाश तथा उत्पत्ति के कारण होने से विनाश तथा उत्पत्ति (नहीं) होते।

दूध का विनाश बिना कारण के होता है और दही की उत्पत्ति बिना कारणों के होती है, यह स्वीकार करके 'क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः' (यह सूत्र है) दूध एवं दही के समान बिना कारण स्फटिक व्यक्तियों के विनाश तथा उत्पत्ति होते हैं, किन्तु घट आदि के समान कारण से नहीं, इस विषय में हेतु नहीं है।

अभ्यनुज्ञाय—स्वीकार करके, सांख्य का मत स्वीकार कर उसका प्रतिषेध करते हैं कि यह एकान्त नहीं अनैकान्त है। क्षीर और दधि के विनाश तथा उत्पत्ति निष्कारण देखे गये हैं किन्तु कुम्भ के विनाश तथा उत्पाद सकारण देखे गये हैं तो यहाँ स्फटिक में जो विनाश और उत्पाद हैं वे सकारण हैं या निष्कारण, यह सन्देह होता है, यदि प्रमाण से एकतर का निश्चय हो जाये तो हेतु अनैकान्तिक न रहेगा, टी० ५६२।

क्वचिद्—यह सिद्धान्ती का सूत्र है, यह अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है; क्योंकि कहीं विनाश का कारण उपलब्ध होता है, कहीं नहीं भी उपलब्ध होता।

नात्र हेतुरस्ति—इसमें हेतु नहीं है, केवल दृष्टान्त कथन से तो कार्य नहीं होता। इस सूत्र का शेष अर्थ अग्रिम पृष्ठ पर है।

न्यायभाष्यम्

निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम्। गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः, क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिकारणानुपलब्धिवच्चेति। तौ तु न गृह्येते। तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्तः।

अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः।

न्यायवार्तिकम्

निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम्। कोऽधिष्ठानार्थः? आश्रयार्थः। किमुक्तं भवति, निरधिष्ठानमिति? धर्मी नास्ति' इत्येवमुक्तं भवति—न हि स्फटिकस्योत्पादविनाशौ प्रतिक्षणमुपलभ्येते, यत इयं चिन्ता भवेत् 'किमेतौ सकारणौ, आहोस्विदकारणाविति, यथाऽनभ्युपगतशब्दतत्त्वं प्रति कश्चिद् ब्रूयात् 'कृतकत्वादनित्यः शब्दस्तादृगेतदिति। धर्म्यसिद्धेश्च दृष्टान्ताभाव इति च समानम्।

अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानाद-

---

दृष्टान्त कथन भी आश्रय रहित है। यदि स्फटिकादि (व्यक्तियों) में विनाश एवं उत्पत्ति का ग्रहण होता तो यह दृष्टान्त आश्रय वाला हो जाता कि दूध के विनाश के कारण और दही की उत्पत्ति के कारणों की अनुपलब्धि के समान। किन्तु (तु) स्फटिक की उत्पत्ति तथा विनाश (तौ) गृहीत नहीं होते। इसलिये यह दृष्टान्त आश्रय रहित है।

स्फटिक की उत्पत्ति एवं विनाश स्वीकार करके जो यहाँ कारण है उसे स्वीकार लिया, अतः (आपका) दृष्टान्त कथन आश्रय रहित है। (प्रश्न) अधिष्ठान का क्या अर्थ है? (उत्तर) आश्रय अर्थ है। (प्रश्न) क्या भाव है 'निरधिष्ठान' का? (उत्तर) धर्मी नहीं है, यह कहा जा सकता है—वस्तुतः स्फटिक की उत्पत्ति तथा विनाश प्रतिक्षण नहीं उपलब्ध होते जिससे यह विचारणा हो जाये कि क्या ये कारण युक्त हैं अथवा विना कारण के; जैसे शब्दतत्त्व को न स्वीकार करने वाले के प्रति कोई कहे कि 'कार्य होने से शब्द अनित्य है', यह वैसा ही है; क्योंकि धर्मी के असिद्ध होने के कारण दृष्टान्त नहीं होगा, यह समान ही है।

और स्फटिक की उत्पत्ति तथा विनाश स्वीकार कर जो इस विषय में

निरधिष्ठानम्—आश्रयरहित, आश्रय नहीं है, धर्मिणमाश्रित्य तत्समानधर्मा दृष्टान्तो भवति, स्फटिकोत्पादविनाशौ च धर्मिणौ तत्समानधर्मतया क्षीरदधिविनाशोत्पादयोर्दृष्टान्तत्वेन भवितव्यम्। न पुनः स्फटिकोत्पादविनाशौ धर्मिणौ गृह्येते। तस्मान्न तत्समानधर्मतया दृष्टान्तौ भवत इति, टी० ५६३।

कोऽधिष्ठानार्थः—यह प्रश्न है, इसका उत्तर है, आश्रयार्थः, अधिष्ठान का अभिप्राय है, आश्रय (ऊपर वार्तिक)।

यथानभ्युपगतशब्दतत्त्वं प्रति-जैसे शब्द को न स्वीकार करने वाले के प्रति कोई कहे कि कार्य होने से शब्द अनित्य है। जब वह शब्द को नहीं मानता तो उसकी अनित्यता को सिद्ध करना उसके लिये व्यर्थ है।

अभ्यनुज्ञाय च—जब स्फटिक की उत्पत्ति तथा विनाश स्वीकार कर लिये तो उसके हेतु रूप में उत्पत्ति तथा विनाश के कारण भी मानने चाहियें।

न्यायभाष्यम्

कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादीनामित्यभ्यनुज्ञेयोऽयं दृष्टान्तः, प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योऽयं प्रतिषेद्धं, कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात्। क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्ती पश्यता तत् कारणमनुमेयम्। कार्यलिङ्गं हि कारणम्। इत्युपपन्नमनित्या बुद्धिरिति। ३।२।१७।

न्यायवार्त्तिकम्

प्रतिषेध, उभावेतौ दृष्टान्तौ क्षीरदधिवत् कुम्भादिवच्च, तत्र किं कुम्भादिदृष्टान्तो भवति, अथ क्षीरदधिनी इति। तत्र कुम्भादिवदिति युक्तम्, कुम्भाद्युत्पत्तिविनाशकारणस्य दृष्टत्वात् क्षीरदधिवत्तु न युक्तम्, अनुमानतो ग्रहणात्, इति सिद्धमनित्या बुद्धिरिति।

इतश्चानित्या बुद्धिः, गुणत्वे सति प्रत्यक्षाया अव्यापकद्रव्यसमवायात्, शब्दवत् जातिमत्त्वे सति अस्मदादि प्रत्यक्षवत्. आश्रितत्वात् शब्दवत्; करणभावे सत्ययोनिप्रत्यक्षत्वात शब्दवदेव। ३।२।१७।।

उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता (अप्रतिषेधः), घट के समान स्फटिक आदि के उत्पाद और विनाश विना कारण नहीं होते, इस दृष्टान्त को स्वीकार करना होगा इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। दूध और दही के समान (स्फटिक आदि के) उत्पाद और विनाश विना कारण होते हैं, इसका प्रतिषेध किया जा सकता है; क्योंकि उत्पाद और विनाश कारण से देखे जाते हैं। दूध का विनाश और दही की उत्पत्ति देखने वाले को उसके कारण का अनुमान करना चाहिये। वस्तुतः कार्य लिङ्ग (बोधक) से कारण जाना जाता है। इसप्रकार बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है, यह सिद्ध हो गया। ३।२।१७ ।।

कारण (साधक) है, उसको स्वीकारने से प्रतिषेध नहीं किया गया। ये दोनों दृष्टान्त हैं, दूध तथा दही के समान और घट आदि के समान, उसमें घट आदि दृष्टान्त होता है, अथवा दूध तथा दही। उनमें घट के समान यह युक्त है; क्योंकि घट आदि की उत्पत्ति तथा विनाश के कारण देखे गये हैं, दूध तथा दही के समान यह तो युक्त नहीं, क्योंकि अनुमान से ग्रहण किया जाता है, इसप्रकार बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है, यह सिद्ध हो गया।

इसलिये भी बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है, (क) गुण होकर प्रत्यक्ष होने से, व्यापक द्रव्य (आत्मा) मे समवेत होने से शब्द के समान, (ख) जाति (सामान्य) वाली होकर हमारे द्वारा प्रत्यक्ष होने से तथा आश्रित होने से शब्द के समान, (ग) करण (साधन) होकर योगी—भिन्न (अयोगि=साधारण जन) प्रत्यक्ष न होने से शब्द के समान। ३।२।१७ ।

अनुमेयम्—कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना चाहिये। जब क्षीर का विनाश और दही की उत्पत्ति कोई देखता है तो उनके कारणों का अनुमान होगा।

इतश्चानित्या बुद्धिः—ज्ञान (बुद्धि) की अनित्यता के साधक अन्य हेतु दिये गये है। ये तीन अनुमान बुद्धि की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये वार्त्तिककार ने दिये हैं। इनका पदकृत्य तात्पर्य टी० में दिखलाया गया है। टी० ५६३।

३. (बुद्धेरात्मगुणत्वम्)

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इदं तु चिन्त्यते, कस्येयं बुद्धिः, आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां गुण इति। प्रसिद्धोऽपि खल्वयमर्थः परीक्षाशेषं प्रवर्तयामीति प्रक्रियते। सोऽयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः, विशेषस्याग्रहणादिति। तत्रायं विशेषः,

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् । ३।२।१८ ॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानं तेषां विनाशेऽपि ज्ञानस्य भावात्—भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति। न च ज्ञातरि

न्यायवार्त्तिकम्

'सा ऽियं बुद्धिः कस्य गुणः' इत्येतच्चिन्त्यते न गुणभावासिद्धेः ? अनित्यत्वे सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद् गुणभावः। सन्निकर्षोत्पत्तेः संशय इति। तत्रायं विशेषः, नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् भवति खल्विन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति। अद्राक्षमित्येतन्नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्, स्मृतित्वात—

---

३. (ज्ञान आत्मा का गुण है)

यह विचारा जाता है कि यह ज्ञान (बुद्धि) आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषयों में से किसका गुण है। वस्तुतः यह विषय प्रसिद्ध ही है तथापि शेष परीक्षा करता हूँ अतः की जाती है। वह बुद्धि (ज्ञान) की (उत्पत्ति में) (आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा अर्थ का) सन्निकर्ष होने से संशय होता है, क्योंकि विशेष का ग्रहण नहीं होता। उसमें यह विशेष है,

इन्द्रिय तथा विषय का (गुण) नहीं उनका नाश हो जाने पर भी ज्ञान के स्थित रहने से। ३। १८ ॥

इन्द्रियों का अथवा विषयों का गुण नहीं, उनके नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान के रहने से— वस्तुतः इन्द्रिय तथा विषय के नष्ट होने पर यह ज्ञान 'मैंने देखा है' इस प्रकार रहता है, किन्तु (च) ज्ञाता नष्ट होने पर ज्ञान नहीं हो—

वह यह ज्ञान (बुद्धि) किसका गुण है ? यह विचार किया जाता है। (आक्षेप) (ठीक) नहीं, ज्ञान (बुद्धि) का गुण होना सिद्ध नहीं ? (परिहार) अनित्य होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने से (ज्ञान) गुण है। (आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय का) सन्निकर्ष होने से संशय होता है। उनमें यह विशेष है, 'नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात' (यह सूत्र है) वस्तुतः इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के नष्ट हो जाने पर ज्ञान रहता है, मैंने देखा था 'इस रूप में), यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं हो

इदं तु चिन्त्यते— भाष्यकार ने प्रकरण की संगति लगाई है। क्षणभङ्ग के पश्चात् ज्ञान (बुद्धि) को आत्मा का गुण सिद्ध करते हैं।

प्रसिद्धोऽपि— यद्यपि यह अर्थ सूत्र (३।२।१४) में परीक्षित है तथा अवान्तर विशेष परीक्षा के लिये फिर परीक्षा की जाती है, टी० ५६३।

गुणभावासिद्धेः यह पूर्वपक्षी का आक्षेप है इसका परिहार है अनित्यत्वे सति इत्यादि, चोदयति वार्तिककारः न गुणेति। परिहरति अनित्यत्वे सतीति, टी० ५६३।

सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः—यह सिद्धान्त पक्ष है, टी० ५६३। इन्द्रिय, अर्थ तथा आत्मा के सन्निकर्ष से ज्ञान होता है अतः संशय है।

न्यायभाष्यम्

विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति । अन्यत् खलु वै तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानम्, यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति । इदमन्यदात्ममनःसन्निकर्षजम् । तस्य युक्तो भाव इति । स्मृतिः खल्वियमद्राक्षमिति पूर्वदृष्टविषया । न च ज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तम्, न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति, न च मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् । ३।२।१८ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

स्मृतिरेषा, नेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् भवितुमर्हति । स्मृतावपि तुल्यम्—यथैव ज्ञातारमन्तरेण ज्ञानं भवत्येवमनुभवितरि नष्टे अनुभवितारमन्तरेण स्मृतिरप्ययुक्तेति । ३।२।१८ ॥

सकता । वस्तुतः इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला वह ज्ञान अन्य है जो इन्द्रिय और विषय का नाश हो जाने पर नहीं होता । यह (ज्ञान) अन्य है जो आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसका होना युक्त है । वस्तुतः यह स्मृति है 'मैंने देखा था' (यह) पहले देखे हुए के विषय में है । ज्ञाता का नाश हो जाने पर पहली उपलब्धि का स्मरण होना युक्त नहीं तथा दूसरे के देखे हुए को दूसरा नहीं याद करता । और मन को ज्ञाता मानने पर इन्द्रिय तथा विषय को ज्ञाता नहीं सिद्ध किया जा सकता । ३।२।१८ ॥

× × × ×

स्मृति होने से—यह तो स्मृति है, जो इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष से नहीं हो सकती । स्मृति में भी यह समान (ही) है; जैसे ज्ञाता के विना ज्ञान नहीं होता इसी-प्रकार अनुभविता (अनुभव करने वाले) के नष्ट हो जाने पर अनुभविता के विना स्मृति होना अयुक्त है । ३।२।१८ ॥

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्—ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का गुण नहीं क्योंकि इन्द्रिय और विषय के नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्थित रहता है, गुणी के विना तो गुण नहीं रहता ।

इदमन्यदात्मनः सन्निकर्षजम्—यहाँ भाष्यकार ने स्मृति का अन्य ज्ञान से भेद दिखलाया है ।

न चान्यदृष्टमन्य स्मरति—ज्ञाता को ज्ञान रूप मानने में यह दोष आता है ।

मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने—मन को ज्ञाता मान लेने पर भी इन्द्रिय और अर्थ का ज्ञान गुण है, यह नहीं माना जा सकता ।

अद्राक्षमित्येतन्नेन्द्रियार्थसन्निर्षात्—यह पूर्वपक्ष का आक्षेप है, इसका परिहार है स्मृतावपि इत्यादि । चोदयति अद्राक्षमित्येतन्नेति । परिहरति स्मृतावपि, इति । टी० ५६३ । इसकी व्याख्या आगे वार्तिक में की गई है ।

अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम्,

युगपज् ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः । ३।२।१९ ॥

युगपज् ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गम् । तत्र युगपज् ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम् । कस्य तर्हि ? ज्ञस्य, वशित्वात्--वशी ज्ञाता, वश्यं करणम्, ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः । घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावाद् अनुमीयते अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति । तत्र यज् ज्ञानगुणं मनः स आत्मा यत्तु सुखाद्युपलब्धिसाधनम् अन्तःकरणं मनस्तदिति । संज्ञाभेदमात्रं नार्थभेद इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

अस्तु तर्हि मनोगुणः ज्ञानम् । युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेर्न मनसः । तत् खलु युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या समधिगतं मनो नातस्तस्य गुणो ज्ञानम् ।

तब ज्ञान मन का गुण होवे,

यह मन का गुण नहीं, ज्ञेयों की एक साथ उपलब्धि न होने से । ३।२।१९ ॥

एक साथ ज्ञेयों की उपलब्धि न होना मन (अन्तःकरण) का बोधक (लिङ्ग) है । ज्ञेयों की एक साथ उपलब्धि न होने से जिस अन्तःकरण का अनुमान किया जाता है उसका गुण ज्ञान नहीं । तब किसका (गुण) है ? ज्ञ (आत्मा) का, वशी होने से—आत्मा वशी (इन्द्रियों को वश में करने वाला, नियन्ता) है, करण (तो) वश में होने वाला (वश्य) होता है अथवा ज्ञान गुण वाला होने पर (वह) करण नहीं होगा । घ्राण आदि साधन वाले ज्ञाता (आत्मा) का ज्ञान होता है, इससे अनुमान किया जाता है कि अन्तःकरण (मन) के साधन वाले (आत्मा को सुखादि का ज्ञान होता है तथा स्मृति होती है । वहाँ जो ज्ञान गुण वाला मन्ता (मन) है, वह आत्मा है किन्तु जो सुख आदि की उपलब्धि का साधन (अन्तःकरण) है वह मन है । (यदि मन का गुण ज्ञान माना जाये तो) नाम मात्र का भेद होगा पदार्थ (अर्थ) का नहीं ।

तब ज्ञान मन का गुण होवे ? 'युगपज् ज्ञेयानुपलब्धेर्न मनस' (यह सूत्र है). वस्तुतः वह मन ज्ञेयों की एक साथ उपलब्धि न होने से जाना गया है इसलिये उसका गुण ज्ञान नहीं है ।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः— इस सूत्र के तीन अर्थ होते हैं, (१) जिस मन का युगपत ज्ञेयानुपलब्धि से अनुमान किया जाता है उसका गुण ज्ञान नहीं, (२) क्योंकि एक साथ ज्ञेयों की उपलब्धि नहीं होती अतः मन का गुण ज्ञान नहीं, (३) तीसरा अर्थ च (और) से किया गया है (द्र० अग्रिम पृष्ठ) यदि मन का गुण ज्ञान होता तो विकरणधर्मा योगी को जो एक साथ अनेक ज्ञेयों का ज्ञान होता है वह न होता (म० म० गङ्गानाथ झा पृ० १३३२) ।

ज्ञस्य वशित्वात्— प्रायः इसे सूत्र मान लिया गया है, वस्तुतः यह भाष्य है, टी० ४६४ ।

संज्ञाभेदमात्रम्— यदि ज्ञान मन का गुण माना जाये तब तो आत्मा को मन कहा जायेगा, यह नाम मा० का भेद होगा ।

न्यायवार्त्तिकम्

विशेषणोपादानादन्तःकरणबहुत्वप्रसङ्ग इति चेत्—अथ मन्यसे यत् खलु युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या समधिगतं मनो न तस्य गुणो ज्ञानमित्येवं ब्रुवाणेन बहून्यन्तःकरणानि प्रतिपन्नानि भवन्ति ? न ह्यसत्यन्तःकरणबहुत्वे विशेषणमर्थवदिति ? न, सर्वस्येन्द्रियस्य मननिमित्तत्वात्—एवमिन्द्रियं मननिमित्तत्वान्मन इत्युच्यते ? एवं च सति विशेषणं युक्तम् ? युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या यत् समधिगतं मनो न तस्य गुणो ज्ञानमिति । एवमपि विशेषणं व्यर्थम्, अन्यस्यानभ्युपगमात्—यदि तस्यान्तःकरणस्य न भवत्यन्यस्य तर्हि साधनस्य ज्ञानं गुण इति प्राप्तम् । अन्यस्यानभ्युपगमात्—अन्यस्योपपत्तेरप्रतिषेधः—अनवस्थितत्वात् प्रमाणप्रमेयभावस्य—

(आक्षेप) विशेषण के ग्रहण (उपादान) से बहुत से अन्तःकरण होने का प्रसङ्ग होता है—यदि मानते हो कि जो ज्ञेयों की एक साथ उपलब्धि न होने से मन जाना गया है उसका ज्ञान गुण नहीं, ऐसा कहने वाले के द्वारा बहुत से अन्तःकरण (मन) स्वीकृत हो जाते हैं, बहुत से अन्तःकरण न होने पर विशेषण संप्रयोजन (सार्थक, अर्थवत्) न होगा । (परिहार) यह ठीक नहीं, सभी इन्द्रियों के मनन का निमित्त होने से—सब इन्द्रियाँ मनन का निमित्त होने से मन कही गई हैं और इसप्रकार होने से विशेषण युक्त है कि एक साथ ज्ञेयों की उपलब्धि न होने से जो मन जाना गया है उसका गुण ज्ञान नहीं । (आक्षेप) इसप्रकार भी विशेषण व्यर्थ है, अन्य (अन्तःकरण को) को न स्वीकारने से—यदि उस अन्तःकरण का ज्ञान (गुण नहीं) तब अन्य साधन (करण) का ज्ञान गुण होता है, यह प्राप्त होता है । किन्तु अन्य को स्वीकारा नहीं जाता । (आक्षेप) अन्य के बन जाने से (युक्तियुक्त होने से) उसका प्रतिषेध नहीं, प्रमाण-प्रमेय-भाव के अनिश्चित होने से—

विशेषणोपादानात्—यत (जो) विशेषण दिया गया है इससे जो मन युगपत् ज्ञेयानुपलब्धि से जाना गया है उसका ज्ञान गुण नहीं, अतः अन्तःकरण बहुत से हैं, यह प्राप्त होता है । यह भाष्य पर आक्षेप है इसका परिहार है, 'न सर्वस्येन्द्रियस्य' इत्यादि, भाष्यमाक्षिपति विशेषणोपादानादिति, समाधत्ते न सर्वस्येति, टी० ५६४ ।

अन्तःकरणबहुत्वप्रसङ्गः—इस विशेषण से तो अन्तःकरण बहुत से हैं, यह प्राप्त होता है ।

एवमपि विशेषणं व्यर्थम्—यह भाष्य पर ही फिर आक्षेप है 'विशिष्ट करण (मन में) ज्ञान गुण होने का प्रतिषेध कर दिया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य करण का ज्ञान गुण है, आत्मा तो करण है नहीं. विशिष्टस्य करणस्य ज्ञानगुणत्वप्रतिषेधः कारणान्तरस्य ज्ञानगुणत्वमापादयति, न चात्मा करणमित्यर्थः टी० ५६४ ।

अन्यस्योपपत्तेः—इसकी व्याख्या आगे की गई है, एतदेव विवृणोति, टी० ५६४ ।

अनवस्थितत्वात्—प्रमाता ही कभी प्रमाण हो जाता है, कभी प्रमेय हो जाता है, प्रमातैव कदाचित् प्रमाणं कदाचित् प्रमेयमित्यर्थः । टी० ५६४ ।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च—यह तीसरा अर्थ है जो भाष्यकार ने च (और) से लिया है ।

न्यायभाष्यम्

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च योगिन इति वा चार्थः—योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते । तच्चैतद् विभौ ज्ञातर्युपपद्यते नाणौ मनसि' इति । विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नात्मगुणत्वप्रतिषेधः । विभु च मनः तदन्तःकरणभूतमिति तस्य सर्वेन्द्रियैर्युगपत् संयोगाद् युगपज्ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति । ३।२।१९॥

न्यायवार्त्तिकम्

यदाऽयं योगी पुरुषान्तरेण पुरुषान्तरं परिच्छिनत्ति तदा पुरुषान्तरपरिच्छेदे पुरुषान्तरं साधनमिति, तत्तु 'ज्ञानगुणं भवति' इति युक्तं विशेषणम् इति । तस्मान्न तस्य गुणो ज्ञानमिति । कस्य तर्हि ? ज्ञस्य वशित्वात् – वशी ज्ञाता वश्यं करणमिति । नायं ज्ञातरि नियमो ज्ञाता वश्येव वश्योऽपि भवति । अचेतने तु नियमः —अचेतने तु सर्वं वश्यमिति । वश्यं मनोऽचेतनत्वात्, घ्राणादिवदिति । ज्ञान-

---

योगी को एक साथ विषयों (ज्ञेयों) की उपलब्धि न होने से भी अथवा यह 'च' (और) का अभिप्राय है—वस्तुतः योगी सिद्धि (ऋद्धि) के प्रकट होने पर विकरण धर्म वाला होकर इन्द्रियों सहित शरीरों का निर्माण करके उनमें एक साथ विषयों की उपलब्धि कर लेता है । वह यह व्यापक होने वाले ज्ञाता में बन सकता है अणु होगे वाले मन में नहीं । अथवा मन के विभु होने पर (भी) ज्ञान का आत्मा के गुण होने का प्रतिषेध नहीं होगा । मन विभु (व्यापक) है, वह अन्तःकरण है, उसका सब इन्द्रियों से एक साथ संयोग होने के कारण एक साथ ज्ञान उत्पन्न होंगे । ३।२।१९॥

जब यह योगी एक पुरुष से अन्य पुरुष को विविक्त (पृथक्) करता है तब एक पुरुष को निश्चित करने में अन्य पुरुष साधन होता है, वह ज्ञान गुण वाला होता है । (तत्तु ज्ञानगुणं भवति, म० म० गङ्गानाथ झा) अतः विशेषण युक्त है । इसलिये उस (मन) का गुण ज्ञान नहीं । तब किसका (गुण) है ? आत्मा (ज्ञ) का क्योंकि वह वशी (वश में रखने वाला) है, ज्ञाता (आत्मा) वशी है करण वश्य (वश में होने वाला) होता है । ज्ञाता में यह नियम नहीं, ज्ञाता वशी के समान (वशीव, इति पाठः) वश्य भी हो जाता है । अचेतन में तो नियम है—अचेतन तो सभी वश्य है । मन वश्य है अचेतन होने से, घ्राण आदि के समान । अथवा मन को ज्ञान गुण वाला मानने पर

पुरुषान्तरेण पुरुषान्तरं परिच्छिनत्ति— जैसा यह पुरुष है, वैसा ही यह भी, यह प्रसिद्ध पुरुष से अन्य पुरुष का परिच्छेद है । टी० ५६४ । कस्य तर्हि, यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है, इसका उत्तर है, ज्ञस्य वशित्वात् (कर्ता के स्वतन्त्र होने से), कर्तुः स्वतन्त्रत्वात्, कर्तृकरणादिसमवधाने हि चैतन्यं कर्तर्येव दृष्टं न करणादौ, टी० ५६४ ।

नायं ज्ञातरि— भाष्य में जो कहा था 'वशी ज्ञाता वश्यं करणम्' इसकी संगति लगाने के लिये यह कहा है कि ज्ञाता में यह नियम नहीं होता, टी० ५६४ ।

विकरणधर्मा—विशिष्ट करण है धर्म जिसका । विशिष्ट करण का अभिप्राय है हमारी इन्द्रिय तथा मन विलक्षण से वह करण व्यवहित, विप्रकृष्ट तथा सूक्ष्मदर्शी होता है, टी० ५६५ ।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ३।२।२०॥
विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्त इति युगपज्ज्ञानोत्पत्ति प्रसङ्गः इति ३।२।२०॥
इन्द्रियैः मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ३।२।२१॥
गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपि कारणम् । तस्य चायौगपद्यमणुत्वान्मनसः—अयौगपद्यादनुत्पत्तिर्युगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति ।३।२।२१॥

न्यायवार्तिकम्

गुणत्वे वा संज्ञाभेदमात्रम् —चित्त चान्तः करण ज्ञानगुण चेति संज्ञामात्रं भिद्यते । यथा च ज्ञातुर्ज्ञानसाधनमिन्द्रियमेवं मन्तुर्मननसाधनेनावश्य भवितव्यमिति । उभयोश्चेतनत्वे प्रत्ययव्यवस्थानुमानं न स्यात । विभुचान्तःकरणं ज्ञानगुणमिति सर्वेन्द्रियैर्युगपदु पलब्धिप्रसङ्गः । ३ २।१९॥

तदात्मगुणत्वेऽपितुल्यम् । यस्यात्मा विभुश्च ज्ञानगुणश्च तस्यापि सर्वेन्द्रियैः सम्बन्धस्याप्रतिषेधात युगपदुपलब्धिप्रसङ्गः । ३।२।२०॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः । न प्रसङ्ग कारणान्तरभावात्इन्द्रियार्थसन्निकर्षवदिन्द्रियमनसन्निकर्षोऽपि कारणमिति । तस्यायौगपद्यादणुत्वान्मनस इति ३।२।२१॥

वह (ज्ञान के) आत्मा का गुण होने पर भी समान है । ३।२।२०॥

आत्मा व्यापक है, उसका सब इन्द्रियों से संयोग होता है, अतः एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होता है । ३ २।२०॥

इन्द्रियों के साथ मन का सन्निकर्ष न होने से वह नहीं होता ।३।२।२१।

गन्धादि की उपलब्धि का इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष भी कारण है और वह एक साथ होना नहीं, मन के अणु होने से—उसके एक साथ न होने से एक साथ न होने से एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती, आत्मा का गुण होने पर भी । ३।२।२१॥

नाम मात्र का भेद होता है—अन्तःकरण चित्त (चेतन) है और ज्ञान गुण वाला है अतः नाममात्र का भेद है । और जिस प्रकार ज्ञाता के ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ हैं इसी प्रकार मनन करने वाले का मति (मनन) का साधन अवश्य होना चाहिये । दोनों के चेतन होने पर प्रत्यय (ज्ञान) की व्यवस्था का अनुमान न होगा । और अन्तः करण व्यापक है तथा ज्ञान गुण वाला है अत. सब इन्द्रियों से एक साथ ज्ञान (उपलब्धि) होने का प्रसङ्ग होता है । ३।२। १९।

'तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' (यह पूर्वपक्ष का सूत्र है) । जिसके मत में आत्मा व्यापक है, और ज्ञान गुण वाला है उसके मत में भी सब इन्द्रियों के साथ (आत्मा के) सम्बन्ध का प्रतिषेध न होने से एक साथ ज्ञान होने का प्रसङ्ग होता है । ३।२।२० ।

इन्द्रियैः मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः (यह सूत्र है) । प्रसङ्ग नहीं होता, अन्य कारण होने से—इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष के समान इन्द्रियों तथा मन का सन्निकर्ष भी (ज्ञान का) कारण है । उसके एक साथ न होने से, मन के अणु होने के कारण (ज्ञानों के एक साथ होने का प्रसङ्ग नहीं होता) । ३।२।२१।

तदात्मगुणत्वेऽपि – यह पूर्वपक्ष का सूत्र है । यहाँ 'तत्' का अभिप्राय है ज्ञानयौगपद्य, आत्मा का गुण ज्ञान है तो आत्मा के विभु (व्यापक) होने से उसका सब इन्द्रियों से सम्बन्ध होगा ।

यथा च ज्ञातुर्ज्ञान०—जैसे ज्ञाता के ज्ञान (गन्धादि ज्ञान) के साधन इन्द्रियाँ हैं वैसे ही मन्ता का मनन का साधन होना चाहिये. टी० ५६४ ।

उभयोः—आत्मा तथा मन (अन्तःकरण) के विभु होने पर ज्ञान किसका है । यह व्यवस्था न होगी और मन के विभु होने पर उसका एक साथ सब इन्द्रियों से सम्बन्ध होगा ।

तदनुत्पत्तिः—तद् = प्रसङ्गः । वह (प्रसङ्ग) नहीं होगा, क्योंकि मन का सन्निकर्ष भी ज्ञान का कारण है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते ?

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् । ३।२।२२।।

आत्मेन्द्रियसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते' इति, नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते येनैतत्प्रतिपद्येमहीति । ३।२।२२।।

न्यायवार्तिकम्

यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षादेव ज्ञानमुत्पद्येत किं स्यात्, नोत्पत्तिकारणानपदेशात्—अस्मादेवोत्पद्यतामिति न कारणमपदिश्यते' इति सूत्रार्थः । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् ज्ञानमुत्पद्यत इति । अयुगपदुत्पत्तौ वा न कारणान्तरम् पदिश्यत इति । विदेहप्रत्ययानुत्पत्तौ वा—यदेन्द्रिययमर्थेन बहिरवस्थितेन सबध्यते आत्मसम्बन्धोऽपि तत्रास्तीति', कस्माद्विदेहप्रत्ययो न भवति ? इति वक्तव्यम् । अन्तःकरणप्रत्याख्याने च केवलमात्मा स्मृत्यादिकारणमिति कस्यान्न युगपद्

किन्तु (यदि मान लिया जाये कि) आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय (अर्थ) के सन्निकर्ष मात्र से गन्ध आदि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ?

नहीं, (यहाँ) उत्पत्ति के कारण का कथन न करने से ।३।२।२२।।

आत्मा तथा इन्द्रिय के सन्निकर्षमात्र से गन्धादिज्ञान उत्पन्न हो जाता है, यहाँ (ज्ञान की) उत्पत्ति का कारण नहीं कहा जाता, जिससे यह स्वीकार ले । ३।२।२२।।

किन्तु यदि आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से ही ज्ञान उत्पन्न हो जाये, तो क्या होगा ? (इस पर सूत्र है) 'नोत्पत्तिकारणनपदेशात्' सूत्र का अर्थ है, आत्मा इन्द्रिय तथा विषय (अर्थ) के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति न होने में अन्य कारण नहीं कहा जाता। अथवा देह के बिना ज्ञान की उत्पत्ति में—जब इन्द्रिय बाहर स्थित विषय के साथ सम्बद्ध होती है, वहाँ आत्मा का सम्बन्ध भी है ही तब क्यों देह रहित ज्ञान नहीं होता ? यह कहना होगा, और अन्तःकरण (मन) का खण्डन करने पर केवल आत्मा (ही) स्मृति का कारण है, इसलिये स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति क्यों नहीं होती

नोत्पत्तिकारणानपदेशात्—यदि पुनः इत्यादि भाष्य को जोड़कर वार्तिककार ने व्याख्या की है, टी० ५६५ । यहाँ प्रमाण नहीं कहा जाता अपि तु बाधक दिखलाया जाता है। विश्वनाथ ने इसे पूर्वपक्षी का सूत्र माना है अन्यों ने नहीं, (विश्वनाथ वृत्ति) ।

अयुगपदुत्पत्तौ वा—यह सूत्र का अन्य व्याख्यान है, व्याख्यानान्तर, टी० ५६६ ।

विदेहप्रत्ययानुत्पत्तौ वा—जब शरीर में मन की वृत्ति मानी जाती है तो सारा ज्ञान शरीर में ही आत्मा को होता है। जब मन ही नहीं होगा तो शरीर से बाहर भी आत्मा का इन्द्रियों से सम्बन्ध होगा अतः विदेह ज्ञान होगा (द्र० वार्तिक अपर) । यह भी अन्य व्याख्यान है, टी० ५६५ ।

अन्तःकरणप्रत्याख्याने च—यद्यपि सारे ही ज्ञान एक साथ नहीं उत्पन्न होते तथापि स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति प्राप्त होती है, यह पहले से भेद है। टी० ५६५ ।

यदा चेन्द्रिययात्मा चार्थेन युगपत् सम्बद्धौ—यह अग्रिम अभिप्राय दिखलाया है, व्याख्यानान्तर भाष्य, यदा चेन्द्रियात्मा चार्थेन, इत्यादि । टी० ५३५ ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ।३।२।२३।।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' इत्येतदनेन समुच्चीयते । द्विविधो हि गुणनाशहेतुः, गुणानामाश्रयाभावो विरोधी च गुणः । नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः पूर्वः विरोधी च बुद्धेर्गुणो न गृह्यते, तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः ।

न्यायवार्त्तिकम् ३।२।२३।।

उत्पत्तिः स्मृतीनाम् ? यदा चेन्द्रियमात्मा चार्थेन युगपत्सम्बद्धौ तदा किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः कारणम् उत आत्मार्थसन्निकर्षः, उतात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इति कारणानपदेशः । ३। ।२२।।

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व प्रसङ्गः । तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' इत्येतदनेन समुच्चीयते—यद्यात्मगुणो बुद्धिर्भवति विनाशकारणाभावान्नित्यत्वमस्याः प्रसज्येत । कथमिति ? गुणानां द्वौ विनाशहेतू आश्रयाभावो विरोधिगुणप्रादुर्भावश्च, तत्र नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्न पूर्वः, विरोधी च गुणो नास्तीति नित्यत्वप्रसङ्गः । ३।२।२३।।

विनाश के कारण की उपलब्धि न होने से (ज्ञान के) स्थित होने पर उसकी नित्यता का प्रसङ्ग होता है । ३।२।२३।।

'तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' यह भी इससे समुच्चित होता है । वस्तुतः गुणों के नाश का हेतु दो प्रकार का है १ गुणों के आश्रय का नाश और २. विरोधी गुण (उत्पन्न होना) आत्मा के नित्य होने से पहला तो नहीं बनता और ज्ञान (बुद्धि) का विरोधी गुण गृहीत नहीं होता, इसलिए आत्मा का गुण होने पर ज्ञान के नित्य होने का प्रसङ्ग होता है । ३।२।२३।।

और जब इन्द्रिय और आत्मा विषय से एक साथ सम्बन्ध रखते है तब क्या इन्द्रिय तथा विषय का सम्बन्ध (ज्ञान का) कारण है, अथवा आत्मा तथा अर्थ का सम्बन्ध, या आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ का सम्बन्ध, इस प्रकार कारण नहीं कहा गया । ३।२।२२।।

'विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः' (यह सूत्र है) जो तदात्मगुणत्वेऽपितुल्यम्' इस (सूत्र) से समुच्चित होता है । यदि आत्मा का गुण (ज्ञान) बुद्धि हैं तो विनाश का कारण न होने से इसकी नित्यता प्राप्त होती है । कैसे ? गुणों के दो विनाश के हेतु हैं (१) आश्रय का नाश और विरोधी गुण की उत्पत्ति । उनमें आत्मा के नित्य होने से पहला नहीं बनता और विरोधी गुण नहीं है, अतः (ज्ञान की) नित्यता का प्रसङ्ग होता है । ३।२।२३।।

विनाश करणानुपलब्धेश्च—यहाँ च (और) पूर्वपक्षी के पूर्व सूत्र के समुच्चय के लिये है । पूर्वपक्ष-का पूर्व सूत्र है, तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् । टी० ५३५ ।

समुच्चीयते—समुच्चय किया जाता है । पूर्वपक्ष का पूर्व सूत्र है तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् (३.२.२०) भाष्यकार ने इस सूत्र से इसका समुच्चय किया है । ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाने पर इसका नाश न होगा, टी० ५६५ ।

न्यायसूत्र भाष्यं च

अनित्यत्वग्रहणाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशःशब्दवत् । ३।२।२४॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत् । गृह्यते च बुद्धिसन्तानः । तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते; यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधी' इति । ३।२।२४॥

न्यायवार्तिकम

अनित्यत्वग्रहणाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशः शब्दवत् अनित्या बुद्धिरित्येतत् प्रतिपादितम् । तत्रास्या बुद्ध्यन्तराद् वा संस्काराद् वा विनाश इति प्रतिपत्तव्यम् । न द्वे सहेति चेत्—अथ मन्यसे 'नद्वे बुद्धी सह भवतो यतः परया पूर्वा निवर्त्यते ? तच्च न युगपदुत्पत्तिनिषेधात्—युगपद युत्पत्तिः प्रतिषिध्यते न सहभावः । न हि बुद्धयोयु गपद्भावे किञ्चिद विरुध्यते' इति । लब्धात्मकेन च कार्येण कारणविनाशाभ्युपगमात्—यदा च कार्यं लब्धात्मकं भवति तदा कारणं विनाशयति

ज्ञान (बुद्धि) की अनित्यता का ग्रहण होने से बुद्धि का अन्य बुद्धि से नाश होता है, शब्द के समान । ३।२।२४।।

ज्ञान (बुद्धि) अनित्य है, यह सभी शरीरधारियों की आत्मा में अनुभव होता है, ज्ञान का सन्तान भी गृहीत होता है । उसमें ज्ञान का दूसरा ज्ञान विरोधी गुण है, यह अनुमान किया जाता है, जैसे शब्दसन्तान में शब्द (ही) अन्य शब्द का विरोधी (गुण) होता है । ३।२।२४।।

'अनित्यत्वग्रहणाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशः शब्दवत्' (यह सूत्र है) । ज्ञान अनित्य है, यह बतलाया जा चुका है, तब इसका अन्य ज्ञान से या संस्कार से नाश होता है' यह समझना चाहिये । आक्षेप) यदि दो (ज्ञान) साथ नहीं होते—यदि मानते हो कि दो ज्ञान साथ नहीं होते. क्योंकि पर (ज्ञान) से पूर्व की निवृत्ति हो जाती हैं ? (परिहार) वह (ठीक) नहीं, एक साथ (ज्ञानों की) उत्पत्ति का निषेध किया जाता है—एक साथ उत्पत्ति का प्रतिषेध किया जाता है साथ रहने का नहीं । वस्तुतः ज्ञानों के साथ रहने में कुछ विरोध नहीं । और अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाले कार्य के द्वारा कारण का नाश माना जाता है—और जब कार्य अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब वह कारण का नाश करता है

अनित्यत्वग्रहणात्—बुद्धि (ज्ञान) की अनित्यता का ग्रहण होता है, इसे ही भाष्यकार ने कहा है सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत् (ऊपर भाष्य) ।

तत्रास्या बुद्ध्यन्तराद् वा संस्काराद् वा विनाशः—एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान से नाश हो जाता है या ज्ञान के संस्कार से (ऊपर वार्तिक) ।

युगपदुत्पत्तिः प्रतिषिध्यते न सहभावः—ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति का निषेध किया गया है । दो ज्ञान साथ रह सकते है ।

लब्धात्मकेन च कार्येण—कार्य के अपने स्वरूप (आत्मा) को प्राप्त कर लेने पर ही वह कारण का नाश कर सकता है । अतः कारण रूप ज्ञान और कार्य रूप ज्ञान दोनों साथ रहते हैं ।

न्यायवार्त्तिकम्

शब्दवत्—यथा लब्धात्मक[1], कार्यः शब्दः कारणं शब्द निरोधति तथा बुद्धिरपीति। अन्त्ययोर्न स्यादिति चेत्—अथ मन्यसे 'यदि पूर्वौ बुद्धिशब्दौ पराभ्यां विनाश्येते, अन्त्ययोर्बुद्धिशब्दयोः किं[2] विनाशकारणमिति ? यथा चान्त्यौ बुद्धिशब्दौ बिना निमित्ताद् विनश्यतः एवमन्यद् अपि कार्यमिति ? न, स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगान्न तदनुपपत्तिः[3] स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगेनान्त्यशब्दो विरुध्यते ये कुड्यादिभिः कारणस्य संयोगास्त एकार्थसमवायिनं शब्द प्रतिबध्नन्ति, अतोऽत्यन्तमश्रुतिः शब्दस्येति। अन्त्या बुद्धिः स्थिति हेत्वभावाद् विनश्यति इति कालाद्वा संस्काराद् वा। कथं कालात ? यावत्स्व जन्मनः स्थिति हेतू धर्माधर्मौ तयोरभावादन्त्या बुद्धिर्विनश्यतीति। कस्मात्पुनरेवमुच्यते, न पुनरहेतुको विनाशोऽभ्युपगम्यत इति ? नाभ्युपगम्यते उक्तदोषात्—निर्हेतुके विनाशे उक्तो दोषः क्षणभङ्गं निराकुर्वद्भिरिति। ३।२।२४॥

जिस प्रकार अपने स्वरूप को प्राप्त करके कार्य रूप शब्द कारण शब्द को समाप्त कर देता हैं उसी प्रकार ज्ञान भी (शङ्का) यदि अन्तिम (ज्ञान तथा शब्द) का (विनाश) न होगा—यदि मानते हो कि यदि पहले ज्ञान तथा शब्द अग्रिमों से नष्ट कर दिये जाते हैं तो अन्तिम बुद्धि तथा शब्द का क्या विनाशकारण है ? जैसे अन्तिम ज्ञान तथा शब्द बिना निमित्त के नष्ट हो जाते है इसी प्रकार अन्य भी कार्य। (समाधान) स्पर्श वाले द्रव्य के संयोग से उसकी अनुपपत्ति न होगी, स्पर्श वाले द्रव्य के संयोग से अन्तिम शब्द का विरोध होता है—जो दीवार आदि से कारण के संयोग होते है वे एकार्थ समवायी शब्द को रोक देते है अतः शब्द का अत्यन्त श्रवण नहीं होता। अन्तिम ज्ञान स्थिति का हेतु न होने से नष्ट होता है, काल से या संस्कार से। काल से कैसे (नष्ट हो जाता है ? जन्म से लेकर मात्र पदार्थ के स्थिति के हेतु है धर्म तथा अधर्म, उनके अभाव से अन्तिम ज्ञान नष्ट हो जाता है। (बौद्ध की शङ्का) इस प्रकार क्यों कहा जाता है, विना हेतु का विनाश क्यों नहीं मान लिया जाता ? (समाधान) (विना हेतु का विनाश) नहीं माना जाता कहे हुए दोष के कारण—क्षण भङ्ग का निराकरण करते हुए विना हेतु के विनाश में दोष कह दिया गया है। ३।२।२४॥

शब्दवत्—जिस प्रकार एक शब्द दूसरे का विनाश करता है इसी प्रकार एक ज्ञान (बुद्धि) भी दूसरे ज्ञान का विनाश करता है।

अन्त्ययोः—जिसके पश्चात् आत्मा अपवर्ग को प्राप्त होता है वह अन्त्या बुद्धि है। टी० ५६५।

स्थितिहेत्वभावाद् विनश्यति—स्थिति के हेतु धर्माधर्म है, अन्त्य सुख दुःख के उपभोग से धर्म अधर्म का नाश हो जाता है, टी० ५६१।

अमंहेतुको विनाशः—बौद्ध अहेतुक विनाश मानता है, उसमें दोष दिखलाया जा चुका है।

---

१. लब्धात्मा, पा०। २. कथम्, पा०। ३. तदुत्पत्तेः, पा०।

असंख्येयेषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्मसमवेतेष्वात्ममन-सोऽत्र सन्निकर्षे समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायौगपद्यमस्तीति युगपत् स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः, यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति । तत्रकश्चित् सन्निकर्ष-स्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्नाह,

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ३।२।२५॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमित्युच्यते । ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः सन्निकृष्यते । आत्ममनः सन्निकर्षात् स्मृतयोऽपिपर्यायेण भवन्तीति।३।२।२५॥

न्यायवार्तिकम्

यदि कारणस्यायौगपद्याद बुद्धीनामयुगपदुत्पत्तिः, यत्र कारणस्य यौगपद्यम-स्ति तत्र युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गो यथा स्मृतिषु । अत्र तावदेकः परिहारः 'कारणस्यैक-क्रियानिर्वृत्तौ सामर्थ्यात्- न हि कारणमेकस्मिन् कालेऽनेकां क्रियां निर्वर्तयितुं शक्त-मिति परिच्छेद-वाच्च स्मृतीनां ज्ञानवद युगपद् उत्पत्तिरिति ।

ज्ञान से किये गये संस्कारों के असंख्य होने पर जो स्मृति के हेतु होते है एव आत्मा में समवाय से रहते हैं तथा आत्मा और मन का सन्निकर्ष समानरूप से स्मृति का हेतु होने पर कारण का एक साथ होना नहीं है अतः एक साथ स्मृतियाँ हो जायेंगी, यदि ज्ञान (बुद्धि) आत्मा का गुण होगा । ऐसी शङ्का होने पर (तत्र) कोई सन्निकर्ष का एक साथ न होना सयुक्तिक दिखलाते हुए कहता है ।

ज्ञान समवेत आत्मा के प्रदेश से मन का सन्निकर्ष होने से स्मृति उत्पन्न होती हैं, अतः (स्मृति) एक साथ नहीं उत्पन्न होती । ३।२।२५॥

ज्ञान का साधन संस्कार (यहाँ) 'ज्ञान' कहा जाता है । ज्ञान के संस्कार से युक्त आत्मा के प्रदेशों के साथ क्रम से मन की सन्निकर्ष होता है अतः आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से स्मृति भी क्रम से होती हैं । ३।२।२५।।

यदि कारण के एक साथ न होने से एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती तो जहाँ कारण एक साथ हैं वहाँ ज्ञानों का एक होना प्राप्त होना है जैसे स्मृतियों में । इस विषय में तो एक परिहार है, कारण का एक क्रिया की उत्पत्ति में सामर्थ्य होने से—वस्तुतः कारण एक काल में अनेक क्रिया करने में समर्थ नहीं है अतः स्मृतियों के परिच्छिन्न होने से (परिच्छेदत्वात्) ज्ञान के समान एक साथ उत्पत्ति नहीं होती । न उत्पत्ति म गङ्गानाथझा)

ज्ञानसमवेत०—यह एकदेशी का परिहार है । यहाँ ज्ञान से होने वाले संस्कार को ज्ञान कहा गया है।
यदेकः परिहारः—एक अर्थात् प्रधान परिहार है, अन्य परिहार जो एकदेशी के अनुसार हैं वे तो-

तत्प्रधान है । टी० ५६६ ।
अपरिच्छेदत्वाच्च—स्मृतियाँ एक साथ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि गन्ध, रस रूप, स्पर्श तथा शब्द के ज्ञान उनके परिच्छेदक है अतः वे भी एक साथ नही होती, ज्ञानों के समान ही । टी० ५६६ ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नान्तः शरीरवृत्तित्वात्मनसः । ३।२।२६।

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते । तत्रास्य प्राक् प्रायणाद् अन्तः शरीरे वर्तमानस्य मनसः शरीराद् बहिर्ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यते' इति । ३।२।२६॥

न्यायभाष्यम्

अपरे तु कारणस्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्तः ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपद् उत्पत्तिरित्याहुः ।

एतत्, न सम्यगिति: प्रतिपादयितुमाह 'नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः' । अन्तःशरीरे मनो वर्तते' इति को वृत्त्यर्थः ? न तावदाश्रयाश्रितभावः, न हि मनः क्वचिदाश्रितम् । नापि वृत्तिः स्वकार्यसामर्थ्यम्, बहिः कार्यदर्शनात्—मनसाधिष्ठितं चक्षुर्निसृत्य रूपादि[1] ग्राह्यति, चक्षुषोर्वीसरावो[2] ,मनसः कार्यं तदभावभावित्वात् । न चान्या वृत्तिः ।

(एकदेशी के मन का दोष)

नहीं, मन की शरीर के अन्दर वृत्ति होने से । ३।२।२६॥

देह युक्त आत्मा का मन से संयोग जो विपाक को प्राप्त होने वाले कर्माशय सहित होता है वह जीवन माना जाता है । तो इस मन का मृत्यु से पूर्व शरीर के अन्दर रहते हुए शरीर के बाहर ज्ञान के संस्कार से युक्त आत्मा के प्रदेशों के साथ संयोग नहीं बनता । ३।२।२६॥

दूसरे तो कारण का एक साथ होना सिद्ध करते हुए यह कहते हैं (ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युपगदुत्पत्तिः' (यह सूत्र है) ।

यह तो ठीक नहीं, ऐसा बतलाने के लिये कहते हैं नान्तः शरीवृत्तित्वान्मनसः' (यह सूत्र है) । मन शरीर के अन्दर रहता है, यह वृत्ति (रहने) का क्या अभिप्राय हैं ? आश्रयाश्रितभाव तो है नहीं, मन कहीं पर आश्रित नहीं है । वृत्ति (क अभिप्राय) अपने कार्य में सामर्थ्य वह भी नहीं, शरीर से बाहर भी मन का कार्य देखा जाने स —मन से अधिष्ठित चक्षु (शरीर मे बाहर) निकलकर रूपादि का ग्रहण कराता है । चक्षु की गति (वीतराकः) मन का कार्य है क्योंकि मन के होने पर होता है । इसके (अतिरित) अन्य वृत्ति नहीं हो सकती ।

अपरे तु—यह एकदेशी का परिहार है, एकदेशिपरिहारमाह, अपरेत्विति, टी० ५६६ ।

एतत्, न सम्यक्—इसको दूषित किया गया है, दूषयति एतत्, न सम्यगिति, टी० ५६६ ।

न हि मनः क्वचिदाश्रितम्—मन कहीं समवेत नहीं, संयोगमात्र तो अतिप्रसक्त है, टी० ५६६ ।

नापि वृत्तिः स्वकार्यसामर्थ्यम्, बहिः कार्यदर्शनात्—इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष जो मन का कार्य है, शरीर से बाहर होता है, टी० ५६६ ।

वीसरावो मनसः—दोनों संस्करणों में पाठ भ्रष्ट है, अभिप्राय स्पष्ट है । पाठ यह प्रतीत होता है चक्षुषो विसरावः (म० म० गङ्गानाथ झा, पृ० १३४३ ।

---

१. रूपादिमदर्थं, पा०१   २. विसरावः, मगङ्गानाथ झा ।

साध्यत्वादहेतुः । ३।२।२७।।

विपच्यमानकर्माशयमात्रं जीवनम् । एवं च सति साध्यमन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति । ३।२।२७।।

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः । ३।२।२८।।

सुस्मूषायां खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति । स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते । आत्ममनःसंन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधो, धारकः प्रेरकश्च । निःसृते च शरीराद् बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात्पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति । ३। ।२८।।

न्यायवार्त्तिकम्

अत्र ब्रूमः 'नाश्रयाश्रितभावो' मनसो वृत्तिर्नापि कार्यप्रतिलम्भोऽपि तु नाशरीरस्य मनसः कार्यमिति मनसो वृत्त्यर्थः—न ह्यशरीरं मनः पुरुषस्यार्थं करोतीति । ३.२.२६।।

साध्यत्वादहेतुः । अशरीरं मनः पुरुषार्थासमर्थमिति साध्यमेतत् । ३।२ २७।।

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेर्न प्रतिषेधः । स्मरणशरीरधारणे युगपद्भवत इति दृष्टम् । दृष्टं च सर्वेण प्रतिपत्तव्यम् । चिरनिश्चरिते च मनसि स्मरतः शरीरधारणं न स्यात् । ३।२।२८।।

साध्य होने से यह हेतु (ठीक) नहीं ।३।२।२७।।

विपाक को प्राप्त होते हुए कर्म ही जीवन है । और ऐसा होने पर मन का अन्तः शरीर वृत्ति वाला होना साध्य है । ३।२।२ ।।

स्मरण करते हुए का शरीर धारण बनने से प्रतिषेध (ठीक) नहीं । ३।२।२८।।

वस्तुतः यह (व्यक्ति) स्मरण करने की इच्छा में मन को एकाग्र करता हुआ (प्रणिदधानः) बहुत देर में भी किसी पदार्थ का स्मरण करता है और स्मरण करते हुए का शरीर धारण देखा जाता है । आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला प्रयत्न दो प्रकार का है । १ धारक और २. प्रेरक । और शरीर के बाहर मन के निकल जाने पर धारक प्रयत्न के न होने पर गुरु (भारी) होने के कारण स्मरण करते समय शरीर का पतन हो जाये । ३।२।२८।।

इस पर हम कहते है 'मन की वृत्ति आश्रयाश्रितभाव नहीं, न ही कार्य की भी है, अपि तु शरीर रहित मन का कार्य नहीं होता. यह वृत्ति का अभिप्राय है व शरीर के बिना मन पुरुष (आत्मा) का प्रयोजन (अर्थ) नहीं करता । ३।२।२६।।

'साध्यत्वादहेतुः' (यह सूत्र है) । शरीर के बिना मन पुरुषार्थ में समर्थ नहीं यह साध्य (असिद्ध) है । ३।२।२७।।

'स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेर्न प्रतिषेधः' (यह सूत्र है) । स्मरण तथा शरीर का धर्म एक साथ होते हैं, यह देखा गया है, और देखा गया सबको स्वीकारना चाहिये । मन के बहुत देर तक निकल जाने पर स्मरण करते हुए का शरीरधारण न होगा । ३।२।२८।।

साध्यत्वादहेतुः—यह एकदेशी की शङ्का है । इसका समाधान अग्रिम सूत्र में है । चोद्यम् साध्यत्वादहेतुः । परिहारः स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः । टी० ५६६ ।

अत्र ब्रूमः—जिस आत्मा ने जिस शरीर को कर्म से अर्जित किया है, तत्संयुक्त वैशेषिक ज्ञान आदि कार्य होता है । येनात्मना यच्छरीरं कर्मोपार्जितं तत्संयुक्तस्य मनसो वैशेषिकज्ञानादिलक्षणकारित्वं न तदसंयुक्तस्येति । टी० ५६६ ।

स्मरतःशरीरधारणोपपत्तेर्न प्रतिषेधः—वार्तिक में सूत्र का यह रूप है ।

चिरनिश्चरिते च मनसि—यह 'प्रयत्नस्याभावाद्' इस भाष्य की व्याख्या है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न तदाशुगतित्वान् मनसः । ३।२।२९॥

आशुगति मनः । तस्य बहिः शरीरात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृतेन सन्निकर्षः, प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनमुभयं युज्यते' इति । उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निःसरणं मनसोऽतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति । ३।२।२९।।

न स्मरणकालानियमात् । ३।२।३०॥

किञ्चित् क्षिप्रं स्मर्यते, किञ्चिच्चिरेण । यदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्यचिदेवार्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति । तत्रैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यते' इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

न तदाशुगतित्वान्मनसः । उभयं सिध्यति स्मरणं धारणं च । ३।२।२९।।

न स्मरणकालानियमात् । अनियतः स्मृतिकालोऽतोऽयुक्तमेतत् ।

शरीर-पतन (तद्) नहीं, मन के शीघ्र गति वाला होने से । ३।२।२९

मन शीघ्र गति वाला है । उसका शरीर के बाहर ज्ञान संस्कृत आत्मा के प्रदेश से सन्निकर्ष होना और लौटे हुए का प्रयत्न को उत्पन्न करना दोनों युक्त हैं । अथवा धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके मन का शरीर से निकलना (युक्त है) इसलिये (शरीर का) धारण बन सकता है । ३।२।२९॥

यह नहीं, स्मरण के समय का नियम न होने से । ३।२।३०॥

कुछ शीघ्र याद कर लिया जाता है, कुछ विलम्ब से । जब विलम्ब से याद किस जाता है तब स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र करने पर बार-बार चिन्ता करने पर किसी पदार्थ के बोधक (लिङ्गभूत) का चिन्तन किया जाता है जो स्मृति का हेतु होता है । वह यह देर तक निकलने वाले मन में नहीं बनता ।

'न तदाशुमतित्वान्मनसः' (यह सूत्र है) । दोनों सिद्ध हो जाते हैं, स्मरण और (शरीर का) धारण भी । ३।२।२९॥

'न स्मरणकालानियमात्' (यह सूत्र है) । स्मरण का समय अनिश्चित है अतः

न तदाशुगतित्वान् मनसः—यह आक्षेप सूत्र है । इसका परिहार 'न स्मरणकालानियमात्' में किया गया है । पुनश्चोद्यम्, न तदाशुगतित्वान्मनसः । परिहारः न स्मरणकालानियमात्, टी० ५६६ ।

चिन्ताप्रबन्धः—(भा०) चिन्तन की सन्तति, स्मृतिप्रबन्धः, टी० ५६६ ।

कस्यचिदेवार्थस्य लिङ्गभूतस्य—कोई पदार्थ जो असाधारण चिह्न होता है, लिङ्गभू-तस्य चिन्ह भूतस्यासाधारणस्येति यावत्, टी० ५६६ ।

चिन्तनमाराधितम्—सिद्ध हुआ चिन्तन किसी पदार्थ की स्मृति का हेतु होता है, चिन्तनवतः स्मृतिहेतुर्भवतीति । टी० ५६६ ।

न स्मरणकालानियमात्—यह सिद्धान्त सूत्र है । इसका अर्थ है कि आक्षेप ठीक नहीं, स्मरण-काल का नियम न होने से ।

शरीरसंयोगानपेक्षश्चात्ममनःसंयोगो न स्मृतिहेतुः शरीरस्योपभोगायतनत्वात् । उपभोगायतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरं न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तौ कल्पते । क्लृप्तौ वा शरीरस्य वैयर्थ्यमिति । ३।२।३०॥

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः

आत्मप्रेरणेन वा मनसो बहिः शरीरात् सयोगविशेषः स्यात्, यदृच्छया वाऽऽकस्मिकतया, ज्ञतया वा मनसः ? सर्वथा चानुपपत्तिः । कथम् ? स्मर्तव्यात्,

न्यायवार्त्तिकम्

शरीरसंयोगानपेक्ष चात्मनः संयोगं स्मृतिकारणं ब्रुवतः शरीरस्योभोगायतनत्वं निवर्तते । ततस्तन्निवृत्तौ शरीरोत्पत्तिवैयर्थ्यमिति । ३।२।३०।।

अपरे तु 'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेष.' इति परिहारं ब्रुवते । ३।२।३१।।

शरीर के संयोग की अपेक्षा न करता हुआ आत्मा तथा मन का सयोग तो स्मृति का निमित्त नहीं; क्योंकि शरीर उपभोग का आयतन (स्थान) है—पुरुष (आत्मा) का आयतन शरीर है उससे निकले हुए मन का केवल आत्मा से संयोग होना ज्ञान एवं सुख आदि की उत्पत्ति में समर्थ नहीं (न कल्पते) । यदि समर्थ हो (क्लृप्तौ) तो शरीर व्यर्थ है ।

आत्मा की प्रेरणा, यदृच्छा या जानने की इच्छा से संयोग विशेष नहीं होता । ३।२।३१॥

आत्मा की प्रेरणा से मन का शरीर से बाहर सयोगविशेष होगा या यदृच्छा से अर्थात् आकस्मिक अथवा मन की जानने की इच्छा से (ज्ञातया) । सब प्रकार से बनना नहीं । कैसे (क) वह विषय स्मरण करने योग्य होने से, (ख) और शरीर के सयोग की अपेक्षा न करते हुए आत्मा के संयोग को स्मृति का कारण कहने वाले के (मत में) शरीर का भोगों का आयतन होना न रहेगा (निवर्तते) । तब उसकी निवृत्ति होने पर शरीर की उत्पत्ति व्यर्थ होगी । ३।२।३०॥

दूसरे तो 'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेष': (यह सूत्र है) यह पहिार करते है । ३।२।३१॥

शरीरसंयोगानपेक्षः—इसलिये भी शरीरसंयोग की अपेक्षा से ही मन स्मृति का हेतु होता है, उसके बिना नहीं, इतश्च शरीरसंयोगापेक्षमेव मनः स्मृतिहेतुर्नेतरथा, इत्याह, शरीरसंयोगानपेक्ष इति, टी० ५६७ ।

अपरे तु—यह दूसरे एकदेशी का परिहार है, आत्मा की प्रेरण इत्यादि से मन का आत्मा के साथ संयोगविशेष हो सकता है।

आत्मप्रेरण०—इत्यादि से मन का आत्मा के साथ संयोगविशेष हो जाता है । यह दूसरे एकदेशी का परिहार है । इसका निराकरण अग्रिम सूत्र में किया जा रहा है ।

स्मर्तव्यात्—इस भाष्य में सूत्र का उतर है (१) स्मृति के लिये आत्मप्रेरणा संभव नहीं, क्योंकि अपने ही स्मृति हो जायेगी, (२) यदृच्छया आकस्मिकतत्व से भी नहीं उसका निषेध किया गया (३) मनसो ज्ञतया न, मन का ज्ञातृत्व हम नहीं मानते ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इच्छातः स्मरणात्, ज्ञानासम्भवाच्च–यदि तावदत्मा अमुष्यार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कार अस्मिन्नात्मपदेशे समवेतस्तेन मनः संयुज्यतामिति मनः प्रेरयति तदा स्मृत एक सावर्थो भवति न स्मर्तव्यः। न चात्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशः संस्कारो वा। तत्रानुपपन्नात्यप्रत्यक्षेण संवित्तिरिति। सुस्मूर्षया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरादपि कञ्चिद् अर्थं स्मरति नाकस्मात्। ज्ञत्वं च मनसो नास्ति ज्ञानप्रतिषेधादिति ।३।२।३१॥

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ।३।२।३२॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद्देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति तदाऽऽत्ममनः संयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं हि दुःखं दुःखसंवेदनं चेति। तत्रायं समानः प्रतिषेधः। यदृच्छया तु न विशेषो नाकस्मिकी क्रिया नाकस्मिकः संयोग इति।

इच्छा से स्मरण होने के कारण तथा (ग) ज्ञान न हो सकने से भी—(क) यदि तो आत्मा इस पदार्थ का स्मृति का संस्कार इस प्रदेश में समवेत है उससे मन का संयोग किया जाये इसप्रकार मन को प्रेरित करता है तब वह पदार्थ स्मृत ही होता है, स्मरण करने योग्य नहीं, और आत्मा के प्रदेश अथवा आत्मा के संस्कार आत्मा के प्रत्यक्ष नहीं होते अतः वहाँ आत्मा के प्रत्यक्ष से संवेदन नहीं बन सकता। (ख) स्मरण करने की इच्छा से यह (व्यक्ति) मन को एकाग्र करता हुआ विलम्ब से भी किसी पदार्थ का स्मरण करता है, अकस्मात् नहीं। (ग) मन में ज्ञत्व (ज्ञान होना) नहीं है क्योंकि ज्ञान का प्रतिषेध किया जाता है ।३।२।३१॥

और यह,

व्यस्क तन वाले (व्यक्ति) के पैर की पीडा से होने वाले संयोग विशेष के समान है ।३।२।३२॥

वस्तुतः जब यह (व्यक्ति) व्यासक्त मन वाला होता है तथा किसी देश में कंकर से (शर्करया) अथवा काँटे से पैर की पीड़ा प्राप्त करता है, तब आत्मा और मन का संयोगविशेष मानना होता है। (तब) दुःख और दुःख का अनुभव देखा जाता है। वहाँ यह समान प्रतिषेध है। यदृच्छा से तो विशेष नहीं होता, न अकस्मात् क्रिया होती है न आकस्मिक संयोग होता है।

ज्ञानासम्भवाच्च—यदि आत्मा मन को प्रेरणा देता है कि इस अर्थ का संस्कार आत्मा के इस देश में समवेत है तो वह अर्थ स्मृत ही होगा, स्मर्तव्य नहीं।

व्यासक्तमनसः—व्यासक्त है मन जिसका (नृत्यादि के दृश्य में लगा है मन जिसका) उसके पैर आदि में कांटा लग जाने पर उसका आकस्मिक मनःसंयोग हो जाता है उसीप्रकार यहाँ भी होगा। यह सूत्र ऊपर के आक्षेप का परिहार है एक देशीने जो कहा है,वह ठीक नहीं, व्यासक्त मन वाले का जैसे संयोगविशेष हो जाना है उसीप्रकार उसका भी होगा। टी०, ५६३॥

तत्रानुपपन्नात्म प्रत्यक्षेणसंवित्तिः—आत्मा के प्रत्यक्ष से संवेदन नहीं बनता क्योंकि आत्मा को न तो आत्म प्रदेश का ज्ञान है नही संस्कार का।

न्यायभाष्यम्

कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत् ? समानम् । 'कर्मादृष्टं पुरुषस्थं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुरेवं दुःखं दुःखसंवेदनं च सिध्यतीति, एवं चेन्मन्यसे समानम्—स्मृतिहेतावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति । तत्र यदुक्तम् 'आत्मप्रेरणं यदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः' इत्ययमप्रतिषेध इति । पूर्वस्तु प्रतिषेधो 'नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः' इति ।३।२।३२॥

न्यायवार्त्तिकम्

(व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम्) । एतच्च व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानं भवतीत्यपरिहारः । कर्मादृष्टमुपभोगार्थं नियामकं भवतीति न युक्तं समानत्वात् । तस्मात् पूर्व एव परिहारो 'नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनस' इति ।३।२।३२॥

(शङ्का-समाधान) यदि अदृष्ट कर्म (धर्म तथा अधर्म) जो उपभोग के लिये होता है वह (यहाँ) क्रिया का हेतु है । तो समान है । (शङ्का की व्याख्या) अदृष्ट कर्म (धर्म तथा अधर्म) जो व्यक्ति में स्थित है, व्यक्ति के उपभोग के लिये होता है, वह मन में क्रिया का हेतु है, इसप्रकार दुःख तथा दुःख का अनुभव सिद्ध हो जाता है, यदि ऐसा मानते हो । (समाधान) तो समान है—स्मृति के हेतु में भी संयोग विशेष हो सकता है । उस विषय में (तत्र) जो कहा गया है 'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशषः' यह प्रतिषेध नहीं होगा, पहिला ही प्रतिषेध होगा 'नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः' ।(३।२।२६) ।३।२।३२॥

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषण समानम् (यह सूत्र है) इसका अर्थ है । और यह व्यासक्त मनवाले व्यक्ति के संयोगविशेष के समान है अतः परिहार नहीं । अदृष्ट कर्म (धर्म तथा अधर्म) उपभोग के लिये होता है, वह नियामक हो जाता है, यह युक्त नहीं, समान होने से । इसलिये पहिला ही परिहार है 'नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ।३।२।३२॥

कर्मादृष्टमुपभोगार्थम् —मन का संयोग आदि अदृष्ट से ही नियमित होता है, यह आकस्मिक नहीं है । इसका उत्तर है 'समानम्' ।

समानम्—स्मृति के हेतु में भी अदृष्ट ही हेतु है ।

अप्रतिषेधः—प्रतिषेध ठीक नहीं, आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च यह प्रतिषेध ठीक नहीं ।

पूर्वस्तु प्रतिषेधो नान्तः—पूर्व प्रतिषेध ही ठीक हैं नान्तः शरीरवृतित्वान्मनसः । इसप्रकार भाष्य तथा वार्तिक ने पूर्व प्रतिषेध को ही अनुमति दी है । यह माना है कि जिसप्रकार व्यासक्त (नृत्यादि में लगे हुए) मन वाले व्यक्ति को कहीं शर्करा से या काण्टे आदि से पादव्यथा होती है और उसका मन वहीं पहुँच जाता है । इसीप्रकार संयोग विशेष हो जाता हैं ।

तस्मात् पूर्व एव परिहारो —यह वार्तिककार ने उपसंहार किया है, यह पूर्वस्तु प्रतिषेधो का ही व्याख्यान है ।

कः खल्विदानीं कारणयौगपद्यसद्भावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति ?

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत् स्मरणम् ।३।२।३३

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुरेवं प्रणिधान-लिङ्गादिज्ञानानि । तानि च न युगपद् भवन्ति । तत्कृता स्मृतीनां युगपद-नुत्पत्तिरिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

यदि तर्हि ज्ञानसमवेतात्मसन्निकर्षायौगपद्यादिति परिहारो नेष्यते । प्राप्तः स्मृतीनां युगपद् उत्पादः, कारणस्य यौगपद्यादिति नापेक्षाकारणस्यायुगपद्भावात् । प्रणिधानलिङ्गाविज्ञानानाम (इति सूत्रम्) । यतः प्रणिधानाद्यात्ममनः संयोगस्य सहकारि कारणम, तन्न युगपद् भवति, इत्ययुगपदुत्पत्तिः स्मृतीनाम् । यदि प्रणिधा-नाद्यपेक्षात्ममनः संयोगो न युगपत् स्मृतिकारणं याः स्मृतयः प्रणिधानादिसन्निधानम-न्तरेण[1] भवन्ति तासां यौगपद्यं स्यात् ? नानभ्युगमात्—

वस्तुतः अब कारण के एक साथ होने पर स्मरण न होने का क्या निमित्त है ?

प्रणिधान लिङ्ग आदि ज्ञानों के एक साथ न होने से एक साथ स्मरण नहीं होता । ३।२।३३

निश्चय ही जैसे आत्मा तथा मन का सन्निकर्ष और (अनुभव का) संस्कारभ स्मृत्ति का हेतु है इसीप्रकार प्रणिधान लिङ्गादि ज्ञान (भी) (सूत्र ४१ में) । और वे एक साथ नहीं होते । उनसे की गई स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती ।

यदि तो ज्ञान समवेत आत्मा (के प्रदेश) से एक साथ (मन का) सन्निकर्ष न होने से: (स्मरण) एक साथ नहीं होता, यह परिहार इष्ट नहीं, तब कारण के एक साथ होने से ? (प्रणिधानलिङ्गादि सूत्र है) नहीं, अपेक्षित कारणों के एक साथ न होने से—जो प्रणिधान आदि आत्मा तथा मन के सहकारी कारण हैं वे एक साथ नहीं होते, अतः स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती । (आक्षेप) यदि प्रणिधान आदि की अपेक्षा करने वाला आत्मा तथा मन का संयोग एक साथ स्मृति का कारण नहीं होता, जो स्मृतियाँ प्रणिधान आदि की विद्यमानता के बिना होती हैं वे एक साथ हुआ करेंगी।

प्रणिधानलिङ्गादि०—इस सूत्र में सूत्रकार ने स्मरण का एक साथ न होना बतलाया है ।

यथा खल्वात्ममनसोः—भाष्यकार ने सूत्र के हेतुओं को स्पष्ट किया है ।

नापेक्षाकारणस्यायुगद्भावात्—प्रणिधान आदि अपेक्षाकारण (सहकारिकारण) है । उनके एक साथ न होने से स्मृतियाँ एक साथ नही होती । इसीको आगे स्पष्ट किया गया है ।

यदि प्रणिधानापेक्षा०—यह शङ्का है, इसका समाधान आगे किया गया है ।

नानऽभ्युपगमात्—ऐसी स्मृति हम नहीं मानते जो प्रणिधान आदि के बिना भी हो सके । (न+अनभ्युपगमात्=न न स्वीकार करने से) ।

---

१. सन्निधानाद्यन्तरेण, पा० ।

न्यायभाष्यम्

प्रातिभवतु[1] प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः । यत् खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्तमुत्पद्यते, कदाचित्तस्य युगपदुत्पत्ति प्रसङ्गः हेत्वभावात् । सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः– बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रबन्धे कश्चिदेवार्थः कस्मचित्स्मृतिहेतुः तस्यानुचिन्तनात् स्मृतिर्भवतितस्यन चायं स्मर्ता सर्वं स्मृतिहेतु संवेदयते 'एवं मे स्मृतिरुत्पन्ने ति' संवेदनात् प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्तमित्यभिमन्यते । न त्वस्ति प्रणिधाना द्यनपेक्षं स्मार्तमिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

न हि प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्तमस्ति । सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानोऽयमिति ।

(आक्षेप) प्रातिभ ज्ञान के समान जो स्मृति प्रणिधान आदि की अपेक्षा नहीं रखती वह एक साथ होने लगेगी । वस्तुतः जो यह प्रातिभ ज्ञान के समान प्रणिधान आदि की अपेक्षा न करता हुआ स्मरण उत्पन्न होता है, उसकी कभी एक साथ उत्पत्ति होने लगेगी, (अन्य) हेतु न होने से । (परिहार) होते हुए स्मृति के हेतु का अनुभव न होने से प्रातिभ ज्ञान के समान है, यह भ्रान्ति (अभिमान) होती है वस्तुतः चिन्तनः का प्रवाह वहुत से पदार्थों के विषय में होता है उनमें से कोई पदार्थ किसी की स्मृति का कारण हो जाता है, उसके अनुचिन्तन से उसकी स्मृति हो जाती है, किन्तु यह स्मर्ता (स्मरण करने वाला) सभी स्मृति के निमित्तों को नहीं जानता कि इस प्रकार मुझे स्मृति उत्पन्न हुई है । अनुभव न करने से यह स्मृति प्रातिभ ज्ञान के समान है, ऐसी भ्रान्ति हो जाती है, किन्तु प्रणिधानादि की अपेक्षा न करने वाला कोई स्मरण नहीं होता ।

नही, न स्वीकार करने से—वस्तुतः प्रणिधानादि की अपेक्षा न करने वाला स्मरण नहीं होता । विद्यमान होते हुए भी स्मृति के हेतु का अनुभव न होने से प्रातिभ ज्ञान के समान यह है ऐसी भ्रान्ति हो जाती है ।

प्रातिभवतु…प्रसङ्गः—इस वाक्य को किन्हीं ने सूत्र माना है जैसे वार्तिक में ही यह सूत्र रूप से उद्धृत किया गया है । वस्तुतः न्यायसूची निबन्ध में यह सूत्र नहीं है ।

सतः स्मृतिहेतोः—जो दिखाई नहीं देता ऐसा कारण और उसका क्रम भी कार्य की उत्पत्ति के क्रम से अनुमान किया जाता है । प्रातिभ ज्ञान भी पुरुष के कर्मविशेष से मन के संयोग से उत्पन्न होता है । अतः वह भी कारण के बिना नहीं होता और क्रम रहित भी ।

न चायं स्मर्ता—सभी स्मृतियों के हेतु इस स्मर्ता को ज्ञान नहीं होते ।

प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्तम्—यह स्मृति से उत्पन्न ज्ञान प्रातिभ ज्ञान के समान है उसे यह भ्रान्ति हो जाती है ।

---

१ न्यायवार्तिक, वाक्यमिदं सूत्रत्वेन गृहीतम् ।

प्रातिभे कथमिति चेत् ? पुरुषकर्मविशेषादुपभोगवन्नियमः । प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्मान्नोत्पद्यते ? यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न करोति एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रातिभहेतुर्न युगपदनेकं प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति। हेत्वभावद् अयुक्तमिति चेत् ? न करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यात् —उपभोग व न्नियम इत्यस्ति दृष्टान्तो हेतुर्नास्तीति चेत्मन्यसे ? न करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यं नैकस्मिन् ज्ञेये युगपद् अनेकं ज्ञानमुत्पद्यते न चानेकस्मिन। तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्यमित्थम्भूतमिति ? न ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्ययायौगपद्याद् इति।

न्यायवार्तिकम्

प्रातिभं तर्हि युगपद् भवितुमर्हति न हि तस्यासन्निहितं कारणमिति। नोक्तोत्तरत्वात् उक्तोत्तरमेतत्—नहि करणस्यानेक क्रियानिर्वृत्ति[1] सामर्थ्यमस्ति, प्रातिभं चानेकं ज्ञात भवद् एकस्मिन्नर्थे भवेदथानेकस्मिन् ? न तावदेकस्मिन्, वैयर्थ्यात्। नानेकस्मिन्, समर्थ्याभावात् न चायं नियमः प्रत्ययानां यौगपद्यं न भवतीति, ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्ययानां यौगपद्याद् इति।

(शङ्का) यदि (कहो) प्रातिभ ज्ञान में कैसे होता है ? (समाधान) व्यक्ति के विशेष कर्मों से भोग के समान नियम होता है। (शङ्का) फिर प्रातिभ ज्ञान एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जैसे उपभोग के लिये होने वाला कर्म एक साथ उपभोग नहीं करता इसी प्रकार व्यक्ति के कर्म विशेष से होने वाला प्रातिभ ज्ञान का हेतु एक साथ अनेक प्रतिभा ज्ञानों को उत्पन्न नहीं करता। (शङ्का) (प्रातिभ) यदि (कहो) हेतु के आभाव से यह युक्त नहीं। (समाधन) तो (ठीक) नहीं, कारण (साधन) का क्रम से ज्ञान (उत्पन्न) करने में सामर्थ्य होने से—एक ज्ञेय पदार्थ में अनेक ज्ञान उत्पन्न नही होता और न (ही) अनेक (ज्ञेय (पदार्थों) में। वह यह देखे गये ज्ञानों के क्रम से करण का इसप्रकार का सामर्थ्य अनुमान करने योग्य है, विकरण धर्म वाले ज्ञाता के अनेक शरीरों में ज्ञानों के एक साथ होने से नहीं

(शङ्का) तब प्रातिभ ज्ञान एक साथ हो सकता है; क्यों कि उसका कारण उपस्थित नहीं ? (समाधान) नहीं, इसका उत्तर दिया जा चुका है—वस्तुतः कारण (साधन) का सामर्थ्य नहीं होता और प्रातिभ ज्ञान अनेक होता हुआ एक पदार्थ में होना या अनेकों में। एक में तो होता नहीं, व्यर्थ होने से। अनेकों में नहीं, उसका सामर्थ्य न होने से। और यह नियम नहीं है कि ज्ञानों की एक साथ सत्ता नहीं होती; क्योंकि विकरणधर्म वाले ज्ञाता (आत्मा) के शरीरों के अनेक हो जाने पर ज्ञान एक साथ होते हैं।

प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्यान्नोत्पद्यते—यह पूर्वपक्ष का प्रश्न है। इसका उत्तर है यथोपभोगार्थम् इत्यादि।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत्—यह पूर्वपक्ष का आक्षेप है। इसका परिहार है न करणस्य इत्यादि। इसका आगे विवरण दिया गया है।

ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे—विविधं करणं धर्मो यस्य तथोक्त आगे स्पष्ट होगा।

न चायं नियमः—वार्तिकार ने इसकी व्याख्या की है योगी सिद्धि प्राप्त हो जाने पर अनेक शरीर बनाकर इत्यादि (टी० ५६७)।

---

१. निमित्त, पा०।

न्यायभाष्यम्

अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः, अवस्थितशरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपद् अनेकार्थस्मरणं स्यात्—क्वचिद्देशेऽवस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थ-प्रबन्धेन ज्ञानमनेकमेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवैति। तेन यदा मनः संयुज्यते तदा ज्ञातपूर्वस्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते, प्रदेशसंयोगपर्यायाभावादिति। आत्मप्रदेशानामद्रव्यान्तरत्वाद एकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियौगपद्य प्रति-षेधानुपपत्तिः।

न्यायवार्तिकम्

यदि च ज्ञान समवेतात्मप्रदेशासन्निकर्षान्न स्मृतिनां युगपद् उत्पत्ति, ये संस्कारा एकदेशास्तेष्ववस्थितशरीरस्यानेकज्ञानसमवायाद् एकदेशे युगपद् अनेकार्थं स्मरणं स्यात् न चैतदस्तीति अतश्चापरीहार इति। अवस्थितशररिस्य संस्काराः मगानदेशा इत्ययुक्तम्, आत्मप्रदेशानाय द्रव्यान्तरत्वात् एवं सति सर्व संस्काराणां समानदेशत्वे प्रत्ययय़ौगपद्यप्रसङ्गोऽपरिहार्य।।

ओर यह दूसरा प्रतिषेध है, एक स्थान में स्थित शरीर वाले के एक स्थान में अनेक ज्ञानों का समवाय होने से एक साथ अनेक पदार्थों का स्मरण होगा—किसी देश में स्थित शरीर वाले ज्ञाता (आत्मा) के इन्द्रिय तथा पदार्थ के बार-बार सन्निकर्ष से एक आत्मा के प्रदेश मे ज्ञान समवेत हो जाता है। उस (आत्मा के प्रदेश) से जब मन का संयोग होता है तब पूर्व जाने हुए अनेक (पदार्थों) का एक साथ स्मरण होने लगेगा क्योंकि आत्मा के प्रदेश में संयोग का कोई क्रम नहीं है। आत्मा के प्रदेशों के द्रव्यान्तर न होने से सभी ज्ञान समान रूप से एक अर्थ (पदार्थ, आत्मा) में समवेत होने पर स्मृतियों के एक साथ होने का प्रतिषेध नहीं बनता।

और यदि ज्ञान समवेत आत्मा के प्रदेश से (मन का) सन्निकर्ष न होने से स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती जो संस्कार एक देश में स्थित हैं उनमें अवस्थित शरीर वाले के अनेक ज्ञानों का समवाय होने से एक देश में एक साथ अनेक पदार्थों का स्मरण होगा, और यह होता नहीं, अतः यह परिहार नहीं। अवस्थित शरीर वाले के (ज्ञान के) सस्कार समान देश में होते हैं, यह अयुक्त है क्योंकि आत्मा के प्रदेश अन्य द्रव्य नहीं होते ऐसा होने पर सब संस्कारों के समान देश के होने पर ज्ञानों के एक साथ होने का प्रसङ्ग होगा, जिसका परिहार नहीं किया जा सकता।

अय च द्वितीयप्रतिषेधः—यह भी एकदेशी का प्रतिषेध है।

[illegible] वेतात्मप्रदेशासन्निकर्षात्—(वा०) यहाँ टीका में ज्ञानसमवे तात्मप्रदेशेन सन्निकार्षात्, यह पाठ है। अतश्चाव्यापकत्वाद् परिहारः, टी० ५६८।

[illegible] स्य संस्काराः समानदेशा इत्ययुक्तम्—इसका कारण बतलाते हुए वार्तिककार [illegible] आत्मप्रदेशाना मद्रव्यान्तरत्वात्, इसकी व्याख्या में वार्तिककार ने बतलाया है, एवं सति [illegible] त्वे प्रत्यय यौगपद्यप्रसङ्गोऽपरिहार्यः इस प्रकार सभी संस्कारों के समानदेश में [illegible] पर ज्ञानों के एक साथ होने का प्रसङ्ग दूर नहीं किया जा सकता। भाष्यकार ने भी कहा था आत्मप्रदेशानामद्र०यान्तरत्वात्—प्रतिपेधानुपयत्ति (ऊपर भाष्य)

शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्या शब्दश्रवणवत् संस्कारप्रत्यासत्त्या मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः । पूर्व एव तु प्रतिषेधो 'नानेकज्ञानसमवायाद् एकप्रदेशे युगपत् स्मृतिप्रसङ्गः' इति ।३।२।३३॥

न्यायवार्तिकम्

संस्कारप्रत्यासत्त्या स्मृतियौगपद्यं न भवतीति का प्रत्यासक्ति, न हि संस्काराणां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभावोऽस्ति समानदेशत्वात् ? न ब्रूमः सन्निकृष्टता प्रत्यासत्तिरपि तु संस्कारस्य सहकारिकारणसमवधानं प्रत्यासत्तिः शब्दवत् यथा शब्दाः सन्तानवर्तिनः सर्वे एवाकाशे' समवयन्ति, समानदेशत्वेऽपि यस्योपलब्धेः कारणानि सन्ति स उपलभ्यते नेतरे तथा संस्कारेष्वपीति । ३।२।३२

किन्तु शब्द-सन्तान में तो श्रोत्र के अधिष्ठान (कर्णशष्कुली) के सन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति) से जैसे शब्द का श्रवण होता है उसी प्रकार संस्कार के साथ मन का सन्निकर्ष होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है अतः एक साथ स्मृति की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं । पहिला ही तो प्रतिषेध है एक प्रदेश में अनेक ज्ञानों का समवाय न होने से एक साथ स्मृति होने का प्रसङ्ग नहीं होता ।३।२।३३॥

(शङ्का) संस्कारों के सन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति) स्मृतियाँ एक साथ नहीं होती ? इसमें प्रत्यासत्ति क्या है ? क्योंकि संस्कारों की समीप स्थित और दूर स्थिति (सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टभावः) तो है नहीं, सभी के समान देश में होने से ? (समाधान) हम यह नहीं कहते कि सन्निकृष्ट होना प्रत्यासत्ति है, अपितु संस्कार के सहकारी कारण की उपस्थिति प्रत्यासत्ति है, शब्द के समान जैसे शब्द सन्तान में होते हुए शब्द सभी आकाश में समवेत होते हैं, उनका समानदेश होने पर भी जिस (शब्द) की उपलब्धि के कारण होते हैं, वह उपलब्ध हो जाता है अन्य नहीं, उसी प्रकार संस्कारों में भी होता है । ३।२।३३॥

शब्द सन्तान्ने तु—शङ्का को निराकरण करने वाला भाष्य है । तु शब्द शङ्का का निराकरण करता है । टी० ५६८ ।

संस्कार प्रत्यासत्त्या—उपर्युक्त भाष्य की वार्तिककार ने व्याख्या की है, तदेतद्भाष्यं वार्तिककारो व्याचष्टे संस्कारप्रत्यासत्त्येति, टी० ५६८ ।

न ब्रूमः—यह 'का प्रत्यासत्तिः' का उत्तर है, उत्तरं न ब्रूमइति टी० ५६८ । भाव यह है कि यद्यपि आत्मा में प्रदेश नहीं होते तथापि शब्द के समान सहकारी के होने या न होने से स्मृति होती है अथवा नहीं होती, निष्प्रदेशत्वेऽप्यात्मनः संस्कारस्याव्यवृत्तित्वसु पादितं तेन शब्दवत् सहकारिकारणस्य सन्निधानासन्निधाने कल्पेते एवेत्यर्थः, संटी० ५६९ । समानदेशत्वे ऽपियस्योपलब्धेः कारणानि सन्ति स उपलभ्य नेतरे (वार्तिक ऊपर) ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यत् 'पुरुषधर्मो ज्ञानम्' अन्तः करणस्येच्छा द्वेषप्रयत्न सुख दुःखानि धर्मा इति कस्यचिद्दर्शनम्, तत्प्रतिषिध्यते,

ज्ञस्ये छाद्वेषनिमित्तत्वाद् आरम्भनिवृत्त्योः ।३।२।३४।।

अयं खलु जानीते तावत, 'इदं मे सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति' ज्ञात्वा स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिच्छति, दुःखसाधनं हातुमिच्छति । प्राप्तीच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावाप्तये समीहाविशेष आरम्भः, जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिः । एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः

न्यायवार्त्तिकम्

पुरुषस्य ज्ञानमिच्छादयोऽन्तः करणस्येति कस्यचिद्दर्शनं तत् प्रतिषिध्यते, ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वाद आरम्भनिवृत्त्योः । ज्ञातुरेवेच्छादय इति सूत्रार्थः ।

पुरुष (आत्मा) का धर्म ज्ञान है, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख अन्तः करण (बुद्धि) के धर्म हैं जो यह किसी (सांख्य) का दर्शन है, उसका प्रतिषेध किया जाता है ।

आरम्भ तथा निवृत्ति इच्छा एवं द्वेष के निमित्त से होने के कारण (ये इच्छा द्वेष) ज्ञाता के है ।३।२।३४।।

वस्तुतः यह (आत्मा) प्रथमतः जानता है कि यह मेरे सुख का साधन है, यह दुःख का साधन है, जानकर अपने सुख के साधन को प्राप्त करने की इच्छा करता है, दुःख के साधन को छोड़ने की इच्छा करता है । प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित इस (आत्मा) की सुख का साधन प्राप्त करने के लिये (अवाप्तये) विशेष प्रकार की चेष्टा (समीहा) आरम्भ है, छोड़ने की इच्छा से प्रेरित (आत्मा की) दुःख के साधन को छोड़ देना (ही) निवृत्ति है । इस प्रकार ज्ञान इच्छा, प्रयत्न, द्वेष, सुख तथा दुःख का एक से सम्बन्ध है ।

× × ×

पुरुष (आत्मा) को ज्ञान होता है, इच्छा आदि अन्तः करण (बुद्धि) को होती है, यह किसी (सांख्य) का दर्शन (दृष्टि) है, उसका प्रतिषेध किया जाता है । 'ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वाद्' आरम्भनिवृत्त्योः (यह सूत्र है) । सूत्र का अर्थ है, ज्ञाता (आत्मा) ही इच्छा आदि होते हैं ।

कस्यचिद् दर्शनम्—सांख्य का दर्शन है । इसमें सांख्यदर्शन तथा न्याय दर्शन विप्रतिपत्ति है ' पुरुष का धर्म ज्ञान हैं । इच्छा द्वेष आदि अन्तःकरण के धर्म है ।

तत्प्रतिषिध्यते —ज्ञान की समानाधिकरण ही इच्छादि है। अतः जिसमें ज्ञान है उसमें ही इच्छादि भी है । अतः इच्छादि भी आत्मा के धर्म है, टी० ५६६ ।

इच्छा द्वेषनिमित्तत्वात् आरम्भनिवृत्त्योः—जैसा कि भाष्यकार ने बतलाया है, वह सुख के साधन को जानकर उसे लेने की इच्छा करता है, दुःख के साधन को जानकर उसे छोड़ने की इच्छा करता हैं उसकी चेष्टाविशेष ही आरम्भ है निवृत्ति है । अतः जिसमें ज्ञान है उसकी ही आरम्भ निवृत्ति होती है । इसप्रकार आत्मा में ही ज्ञान होता है उसी के इच्छा द्वेष होते हैं । अतः करण के नहीं । वार्त्तिककार ने उप उपसंहार रूप में बतलाया है, ज्ञातुरेवेच्छादयः इति सूत्रार्थं (ऊपर वार्त्तिक) ऽ

न्यायभाष्यम्

एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वं च । तस्माज् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्मा नाचेतनस्येति । आरम्भनिवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानं वेदितव्य मिति ।३।२।३४।

न्यायवार्त्तिकम्

यद्यन्तः करणस्येच्छादयः स्युर्न प्रत्यक्षाः स्युः । हीच्छादयोऽन्यत्र वर्तमाना अन्यस्य प्रत्यक्षा भवितुमर्हन्तीति । नित्यं चेच्छादयोऽप्रत्यक्षाः स्युः, मनोगुणानामतीन्द्रियत्वात् । आरम्भनिवृत्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानम् । ३।२।३४ ॥

ज्ञान इच्छा तथा प्रवृत्ति का एक कर्त्ता होता है और ये एक ही आश्रय में रहते हैं । इसलिये इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख ये धर्म अचेतन (बुद्धि) के नहीं । किञ्च आरम्भ (प्रवृत्ति) एवं निवृत्ति अन्तरात्मा में (प्रत्यगात्मनि) देखे गये है, दूसरे आत्मा में इनका अनुमान होता है, यह जानना चाहिये । ३।२।६४ ॥

यदि इच्छादि अन्तः करण (बुद्धि) के होते तो इनका प्रत्यक्ष न होता वस्तुत अन्य में होते हुए इच्छादि दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं हो सकते. फिर तो इच्छादि सदा ही अप्रत्यक्ष हुआ करते, क्योंकि मन के गुण अतीन्द्रिय होते हैं , वे प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं होते । आरम्भ एवं निवृत्ति (प्रवृति तथा निवृति) अन्तरात्मा मे देखे गये है, दूसरे (आत्मा) में इनका अनुमान किया जाता है । ३।२।३४ ॥

एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनाम्—ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति सबका एक ही कर्ता है, इन सबका आधार भी एक ही है । इसलिये ये सब एक ही आता के धर्म है।

प्रत्यगात्मनि—आरम्भ तथा निवृत्ति प्रत्यक् आत्मा में देखी जाती हैं । इससे दूसरे की आत्मा में अनुमान होता है । प्रत्यक् आत्मा का अभिप्राय है अपनी आत्मा, प्रतिवृत्त्यञ्चति' इति स आत्मा चेति प्रत्यगात्मा तस्मिन् । टी० ५६९ । भाव यह है कि ज्ञान के समानाधिकरण रूप में इच्छा आदि की उपलब्धि होती है, अन्य की इच्छा आदि की उपलब्धि नहीं होती उनका अनुमान किया जाता है , यदि अन्य के इच्छा आदि भी प्रत्यक्ष हुआ करे तो मैत्र की इच्छा आदि का चैत्र को प्रत्यक्ष हो जाये. जो होता नही । अन्तःकरण की वृत्तियों तथा अन्य गुणों का सदा ही प्रत्यक्ष नहीं होता अतः इच्छा आदि आत्मा के धर्म है, अन्तःकरण के नहीं, टी० ५६९ ।

यद्यन्तः करणस्य—वार्त्तिककार ने भाष्य के इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है, यदि इच्छा आदि अन्तःकरण के धर्म होते तो आत्मा को प्रत्यक्ष न हुआ करते । अन्य के धर्म (गुण) अन्य को तो प्रत्यक्ष नहीं होते, किन्तु इच्छा आदि सदा ही अप्रत्यक्ष होते हैं । अतः ये आत्मा के गुण है, मन के नहीं (ऊपर वार्त्तिक) ।

अत्र भूतचैतनिक आह,

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेध । ३।२।३५॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छा द्वेषौ' इति यस्यारम्भनिवृती तस्येच्छा-द्वेषौ तस्य ज्ञानमिति प्राप्तं पार्थिवाप्यतजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनि वृत्तिदर्शनाद इच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति चैतन्यम ।३।२।३५॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ।३।२।३६॥

शरीरे चैतन्यनिवृत्तिः । आरम्भ निवृत्तिदर्शनाद् इच्छा द्वेष ज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति । अथ शरीर-स्येच्छा

न्यायवार्त्तिकम्

'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येस्वप्रतिषेधः' । प्रवृत्तिनिवत्तिभ्यां सामाना-धिकरण्यात् शरीरादिषु(ष्व)प्रसङ्ग इति सूत्रार्थः । ३। ।३५ ।

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनादनेकान्तो वाक्यार्थः । ३।२।३६ ॥

इस विषय में (अत्र) (पृथिवी आदि) भूतों का चेतन मानने वाला कहता है ।

इच्छा द्वेष के (प्रवृत्ति तथा निवृत्ति) बोधक होने से (तल्लिङ्गत्वात्) पार्थिव आदि में (इच्छा, द्वेष का) प्रतिषेध न होगा । ३।२।३५॥

इच्छा और द्वेष के बोधक (लिङ्ग) आरम्भ (प्रवृत्ति) एवं निवृत्ति हैं, जिसके आरम्भ तथा निवृत्ति हैं उसके (ही) इच्छा एवं द्वेष हैं, उसका ही ज्ञान है, अतः पार्थिव, जलीय (आप्य) तैजस तथा वायवीय शरीरों में आरम्भ तथा निवृति देखी जाने से उनका इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान से सम्बन्ध प्राप्त होता है अतः उनकी ही चेतनता है । ३।२ ३५ ॥

परशु आदि मे आरम्भ एवं निवृत्ति देखी जाने से ।३।२।३६ ॥

शरीर में चेतनता नहीं । आरम्भ (प्रवृत्ति) तथा निवृत्ति देखी जाने से इच्छा तथा द्वेष से सम्बन्ध है, इस प्रकार परशु आदि करण (साधन) की आरम्भ तथा निवृति देखी जाने से चेतनता होगी । यदि शरीर का इच्छा आदि से सम्बन्ध है परशु आदि

'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' (यह सूत्र है) । प्रवृत्ति निवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य से शरीर आदि में (चैतन्य का) प्रसङ्ग होता है । यह सूत्रार्थ है । ३।२।३५ ॥

'परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात्' (यह सूत्र है) । वाक्य (सूत्र) का अर्थ अने-कान्त (सव्यभिचार) है (अतः हेत्वाभास है) । ३।२।३६ ॥

भूतचैतनिकः— पृथिवी आदि भूतों को ही चेतन मानने वाला, चार्वाक (विश्वनाथ वृत्तिः) इसकी युक्ति भाष्य में दिखलाई गई है (ऊपर भाष्य) ।

परश्वादिषु— यह प्रतिवन्दी सूत्र है ।

तल्लिङ्गत्वात्— यहाँ 'तत्, (वह) से 'ज्ञान' का ग्रहण होता है, तल्लिङ्गत्वात्= ज्ञान के लिङ्ग होने से । यदि जिसके आरम्भ निवृत्ति है उसमें ही इच्छा द्वेष है और जिसमें इच्छा द्वेष है उसमें ही चैतन्य है ततत् इस क्रम से भूतों में ही चैतन्य है, वाया वे आधार में परिणतः भूतों में आरम्भ निवृत्ति देखने से उनमें ही चैतन्य है, टी० ५६६ ।

अनेकान्तो वाक्यार्थः— तल्लिङ्गत्वात् इत्यादि वाक्य का अभिप्राय अनेकान्त (व्यभिचार) है ।

न्यायभाष्यम्

दिभिर्योगः, परश्वादेस्तु करणस्यारम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः। न तर्ह्ययं हेतुः पार्थिवाप्य तैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छा द्वेष ज्ञानैर्योग इति।

अयं तर्ह्यन्योऽर्थः तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः। पृथिव्यादीनां भूतानामारम्भस्तावत् त्रसत्स्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूह लिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः। लोष्टादिषु च लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः। आरम्भ निवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषौ' इति। पार्थिवाद्येष्वणुषु तद्दर्शनात् इच्छा द्वेषयोगस्तद्योगाद् ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति।

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः—कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्ति विशेष आरम्भः। सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः। न च मृत्सिकतानाम् आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेष प्रयत्न ज्ञानैर्योगः। तस्मात् तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः इत्यहेतुरिति।३।२।३६॥

तो करण (साधन) हैं उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति व्यभिचारी है। तब यह हेतु नहीं है कि पार्थिव जलीय (आप्य) तैजस तथा वायवीय शरीरों का प्रवृत्ति (आरम्भ) तथा निवृत्ति देखने से इच्छा द्वेष तथा ज्ञान से सम्बन्ध है।

तब यह अन्य अर्थ है, तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः। पृथिवी आदि भूतों का आरम्भ तो है, त्रसत् (अस्थिर कृमि इत्यादि), स्थावर (स्थिर रहने वाले) शरीरों में उनके अवयवों की रचना रूपी लिङ्ग (बोधक) से विशेष प्रवृत्ति। मिट्टी का ढेला (लोष्ट) आदि में बोधक (लिङ्ग) के अभाव से प्रवृत्ति विशेष का न होना (ही) निवृत्ति है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से इच्छा द्वेष जाने जाते हैं। पार्थिव आदि परमाणुओं में प्रवृत्ति निवृत्ति देखी जाने से इच्छा द्वेष का सम्बन्ध है और इच्छा द्वेष का सम्बन्ध होने से ज्ञान का सम्बन्ध है, इसप्रकार भूतों का चेतनता सिद्ध होती है।

(सिद्धान्ती) घट आदि में (प्रवृत्ति-निवृत्ति) अनुपलब्धि होने से यह हेतु नहीं (अहेतुः)—घटादि में मिट्टी के अवयवों की रचना से प्रवृत्ति विशेष अर्थात् आरम्भ जाना जाता है। बालू आदि में प्रवृत्ति विशेष का अभाव निवृत्ति होती है। और मिट्टी तथा बालू में आरम्भ एवं निवृत्ति देखने से उनका इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान से सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः' यह हेतु नहीं। ३।२।३६॥

अयं तर्ह्यन्योऽर्थः—भूतचैतनिक (चार्वाक) 'तल्लिङ्गत्वात्' इसकी अन्य व्याख्या करते हैं, टी० ५६६।
कुम्भादिमृदवयवानाम्—कुम्भादि की आगम करने वाली मिट्टी में आरम्भ देखा जाता है किन्तु सिकता में नहीं अतः हेतु अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है, टी० ५६६।
तस्मात्—उपसंहार यह है, इस लिये 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः' यह हेतु (ठीक) नहीं, टी० ५६६।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ । ३।२।३७॥

तयोरिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ भेदकौ । ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती, न स्वाश्रये किं तर्हि? प्रयोज्याश्रये। तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः, न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः। यस्य तु ज्ञत्वाद् भूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये तस्य नियमः स्यात्। यथा भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिर्गुणप्रतिबन्धाच्च निवृत्तिर्भूतमात्रे भवति, नियमेनैवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्याताम् न तु भवतः। तस्मात् प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नाः प्रयोज्याश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम्।

न्यायवार्त्तिकम्

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ । प्रयुज्यमानभूतविषयत्वं प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्नियमः— यानि भूतानि प्रयुज्यन्ते, तेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो न सर्वेष्विति। यदि पुनर्ज्ञत्वाद् भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्, भूतमात्रे स्याताम्; यथा गुरुत्वादिभ्यः—यानि गुरुत्वादिमन्ति भूतानि तानि स्वगुणात् पतन्तीति, नियमश्च दृष्टः। तस्मान्न भूतानि चेतनानीति।

उन (इच्छा एवं द्वेष) के नियम तथा अनियम विशेषक (भेदक हैं)। ३।२।३७॥

उनके अर्थात् इच्छा द्वेष के नियम तथा अनियम विशेषक अर्थात् भेदक हैं। आत्मा (ज्ञस्य) की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति इच्छा द्वेष के निमित्त से होती है, किन्तु वे अपने में नहीं होती। तब किसमें होती है ? प्रयोज्य के आश्रित। वहाँ प्रयुक्त किये गये (भूतों में) पृथिवी आदि में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है, सब में नहीं, इसप्रकार अनियम बन जाता है। जिसके (मन में) तो ज्ञान होने के कारण (पृथिवी आदि) भूतों की इच्छा द्वेष के निमित्त से प्रवृत्ति होती है और गुणों के प्रतिबन्ध से निवृत्ति भूतमात्र में होती है, इसप्रकार नियम से भूतमात्र में ज्ञान, इच्छा द्वेष के निमित्त से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति अपने में होने लगेगी, किन्तु होती नहीं। इसलिये ज्ञान, इच्छा द्वेष तथा प्रयत्न प्रयोजन के आश्रित होते हैं किन्तु प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोज्य के आश्रित होती है, यह सिद्ध होता है।

'नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ' (यह सूत्र है)। प्रयुक्त किये गये भूतों में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है यह नियम है—जिन भूतों को प्रयुक्त किया जाता है उनमें प्रवृत्ति निवृत्ति होती है, सब में नहीं। किन्तु यदि ज्ञान होने से भूतों में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होते तो भूतमात्र में होते, जैसे गुरुत्व आदि से—जो भूत गुरुत्व वाले हैं वे अपने गुण से गिरते हैं यह नियम देखा गया है, अतः भूत चेतन नहीं।

नियमानियमौ—इस प्रकार भूत चैतन्य साधन को दूषित करके उनमें अन्य में चैतन्य है। यह बतलाते हैं कि इच्छा द्वेष के भेदक नियम तथा अनियम है। इच्छा द्वेष का यही विशेष है कि इनकी भूताश्रयत्वं खण्डित करके उनसे बिना आश्रय में स्थिति की स्थापना, टी० ५७०।

प्रयोज्याश्रये—यहाँ भाष्यकार ने सार्वत्रिकत्व विवक्षा से नियम शब्द का प्रयोग किया है और असार्वत्रिकत्व की विवक्षा से अनियम शब्द का टी० ५७०—५७१। वार्त्तिककार ने तो प्रयोज्यें एवेत्यवधारणं विवक्षित्वा प्रादेशिके नियमशब्दः प्रयुक्तः—विवक्षाभेदाश्रयादविरोधः इति, टी० ५७०—५७१।

न्यायभाष्यम्

एकशरीरे तु ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानम्—भूतचैतनिकस्यैकशरीरे बहूनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेष प्रयत्नगुणानीति ज्ञातृबहुत्वं प्राप्तम्। ओमिति ब्रुवतः प्रमाण नास्ति यथा नानाशरीरेषु नानाज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात् एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानुमानं स्याजज्ञातृबहुत्वस्येति।

न्यायवार्तिकम्

एकशरीरे च ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानमिति—यस्य भूतानि चेतयनि तस्यैकशरीरे बहूनि भूतानीति बहवश्चेतनाः स्युः। भवन्तु बहवश्चेतनाः किन्नो बाध्यते इति चेत् ? न बहुत्वे प्रत्यय व्यवस्थानानुमानं भवेत्, व्यवस्थानं तु पश्यामः प्रत्ययानां प्रतिसन्धानात्—सर्वः प्रत्ययः प्रतिसन्धीयमान एकस्मिन् कार्यंकारण संघाते दृष्ट इति।

किन्तु एक शरीर मे बहुत से ज्ञाताओ के होने का अनुमान भी नहीं किया जा सकता—भूतों को चेतन मानने वाले के एक शरीर में बहुत से भूत ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न गुण वाले होंगे, इस प्रकार बहुत ज्ञाता होंगे, यह प्राप्त होता है। यदि स्वीकार करते हैं (ओमिति ब्रुवत ओम् यह अव्यय है 'हां' के अर्थ में) तो प्रमाण नहीं है, जैसे ज्ञान आदि गुणों की व्यवस्था होने से भिन्न-भिन्न शरीरो में भिन्न-भिन्न ज्ञाता है, इसी प्रकार एक शरीर में भी ज्ञान आदि गुणों की व्यवस्थ से बहुत हो ज्ञाता होने का अनुमान होगा।

एक शरीर में बहुत से ज्ञाता होने का अनुमान (भी) नहीं किया जा सकता—जिसके (मन में) भूत (पृथिवी आदि) चेतन हैं, उसके (मत में) एक शरीर में बहुत से भूत हैं अतः बहुत से चेतन होंगे। (शङ्का) बहुत से चेतन (आत्मा) हो जाये, हमारी क्या हानि है यदि ऐसा कहो तो एक शरीर में बहुत से चेतन होने पर ज्ञानों की व्यवस्था का अनुमान न होगा (एक शरीर में ज्ञानो का परस्पर प्रतिसन्धान होता है अन्य शरीर में नहीं, यह व्यवस्या है, टी० ५७१) व्यवस्था तो देखते हैं, ज्ञानों के प्रतिसन्धान से—सभी ज्ञान जिसका प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होता है एक कार्यकारणसंधान में देखा गया है।

ज्ञातृबहुत्वम्—अवयवों में भी प्रत्येक में चैतन्य माना जाये तो एक शरीर में बहुत से ज्ञाता होंगे। यही कहो कि हों जाये तो प्रमाण नहीं है (भाष्य ऊपर)।

एक शरीरे च—जो नियम को मदशक्ति से व्यभिचारी करता हैं, पृथिवी आदि शरीर में चैतन्य उत्पन्न करते हैं अन्यथा नहीं, अतः घट आदि में प्रसङ्ग नहीं हैं उनके प्रति कहा है एक शरीरे चेति, टी० ५७१।

न बहुत्वे प्रत्यय व्यवस्थानानुमानं भवेत्—प्रत्ययों, (ज्ञानों) की व्यवस्था न होगी, एक शरीर में ज्ञानों की व्यवस्था हो जाती है क्योंकि उनका परस्पर प्रतिसन्धान होता है। अन्य शरीर में तो यह व्यवस्था नहीं होती। म० म० गङ्गानाथ झा ने 'प्रत्ययंवास्थां न भवेत' यह पाठ मानकर ट्रांसलेशन किया है।

न्यायभाष्यम्

दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानां सोऽनुमानमन्यत्रापि-दृष्टकरलक्षणेषु भूतेषु परश्वादिषु, उपादानलक्षणेषु च मृत्प्रभृतिषु, अन्यगुणनिमित्तः प्रवृत्ति विशेषः । सोऽनुमानमन्यत्रापि त्रसत्स्थावरशरीरेषु । तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणनिमित्त इति । स च गुणः प्रयत्नसमानाश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः पुरुषार्थाराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति ।

आत्मास्तित्व हेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः । नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानाद् इति च समानः प्रतिषेध इति ।

अन्य के गुणों के निमित्त से भूतों में प्रवृति विशेष देखी गई है, वह अन्य स्थानों में भी अनुमान होगी—कारण स्वरूप भूतों परशु आदि में और उपादान (समवायी कारण) रूप मृत्तिका आदि में अन्य के गुण के निमित्त से विशेष प्रवृत्ति देखी गई है वह अन्य स्थानों में भी अर्थात् कृमि (त्रसत्) तथा स्थावर (वृक्ष आदि) शरीरों में भी अनुमान करा देगी। उनके अवयवों की रचना (व्यूह) से बोधित (लिङ्ग वाला) विशेष प्रवृत्ति भूतों की अन्य के गुणों के निमित्त से होती है और वह गुण प्रयत्न के समानाधिकरण संस्कार हैं, जो धर्माधम नाम से कहा जाता है, प्रयत्न के समान (व्यक्ति के) सब प्रयोजनों (अर्थ:) के लिये हैं, प्राणियों (भूतानाम्) के पुरुषार्थ का निमित्त (प्रयोजक) है ।

आत्मा की सत्ता के हेतुओं से तथा आत्मा की नित्यता के हेतुओं से भूतों के चैतन्य का प्रतिषेध किया हुआ जानना चाहिए। इन्द्रियों तथा विषयों का गुण (ज्ञान) नहीं, क्योंकि उनके नाश होने पर भी ज्ञान रहता है, और यह समान ही प्रतिषेध है (इससे ही भूतों की चेतनता का निषेध हो जाता है) ।

दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः—नियमानियमौ जो कहा है उसमें भाष्यकार ने अनुमान दिखलाया है, करण (साधन) रूप परशु आदि में तथा मिट्टी आदि उपादानों (समवायी कारण) में अन्य के गुण से प्रवृत्ति विशेष देखा गया है। प्रवृत्तिविशेष का अर्थ है हित की प्राप्ति के लिये और अहित के परिहार के लिये क्रिया, टी० ५७१, ५७२ ।

सोऽनुमानमन्यत्रापि—त्रसत् स्थावर शरीरों में भी वही अनुमान कराती है कि अन्य (आत्मा) के निमित्त से प्रवृत्ति विशेष होती है । त्रसत्स्थावरशरीरेषु प्रवृत्तिः स्वाश्रयव्यतिरिक्ताश्रयगुणनिमित्त प्रवृत्ति विशेषत्वात् परश्वादिमतप्रवृत्तिविशेषवत्, इत्यादि., टी० ५७१, ५७२ ।

स च गुणः—वह गुण है, अदृष्ट, धर्माधर्म जो प्रयत्न के समान भूतों में प्रवृत्तिविशेष' का कारण होता है (ऊपर भाष्य) ।

न्यायभाष्यम्

क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रं चारम्भनिवृत्ती इत्यभिप्रेत्योक्तम् तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' इति। अन्यथात्विमे आरम्भनिवृत्ती व्याख्यातेन च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते। तस्मादयुक्तम् 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्व प्रतिषेधः' इति ।३।२।३७॥

न्यायवार्तिकम्

अन्यथाभिधानाच्च—हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः परिस्पन्दः प्रवृत्तिनिवृत्ती, भवता च क्रियामात्रं क्रियोपरमं चाश्रित्य 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः इत्युक्तम्। यथाविधे च प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयुज्यमानभूताधारस्ते न तथाविधे[1] भूतमात्रे भवत इति। ३।२।३७॥

केवल क्रिया होना और क्रियाकी निवृत्ति होना आरम्भ (प्रवृत्ति) तथा निवृत्ति हैं, इस अभिप्राय से आपने (पूर्व पक्षी ने) कह दिया कि 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः'। किन्तु आरम्भ एवं निवृत्ति की अन्य प्रकार से व्याख्या की गई है, उस प्रकार के ये पृथिवी आदि (भूतों में) नहीं दिखाई देते। इसलिये यह अयुक्त है 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयो. पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः, ३।२।३७॥

किञ्च अन्य प्रकार से (प्रवृत्ति और निवृत्ति का) कथन करने से (भी)—(वस्तुतः) हित एवं अहित की प्राप्ति तथा परिहार के लिये चेष्टा (परिस्पन्दः क्रिया) प्रवृत्ति, निवृत्ति है, किन्तु (च) आपने केवल क्रिया को और क्रिया की निवृत्ति को आश्रित करके 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेध यह कह दिया। जिस प्रकार की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का आधार प्रयुक्त भूत होते हैं। वे उसी प्रकार की सब भूतों में नहीं होती। ३।२।३७॥

क्रियामात्र क्रियोपरममात्रं च—और 'ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः' यहां आरम्भ निवृत्ति शब्द से हमें क्रियामात्र अथवा क्रियोपरममात्र अभिमत नहीं है अपितु हित की प्राप्ति के लिये जो क्रिया होती है वह आरम्भ (प्रवृत्ति) है और अहित के परिहार के लिये जो क्रिया है वह निवृत्ति है, यह अभिमत है जो क्रिया विशेष होती है। इस प्रवृत्ति विशेष को न जान कर आपने खण्डन कर दिया है अतः अप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान में आप आ गये यह भाष्यकार का आशय है, टी० ५७२।
अन्यथाभिधान च—अन्य प्रकार से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का स्वरूप कहा गया है अतः आपका कथन अयुक्त है अयुक्तमिति शेषः, टी० ५७२॥
इससे आगे अग्रिम सूत्र की अवतरणिका है, टीका में २य देरत इसी सूत्र के अन्त मे उसे दिया गया है

---

१. तथाभूते पाठ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधो मनस्तूदाहरणमात्रम्,

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ।३।२।३८।।

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' इत्यतः प्रभृति यथोक्तं संगृह्यते । तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः ।

पारतन्त्र्यात्—परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते । चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधः । मनस्तूदाहरणमात्रम् । 'यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्याद् कृताभ्यागमाच्च न मनसः' ।

यथोक्तहेतुत्वादिति—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाद्' इत्येवमादीनां हेतूनामप्रतिषेधात् ।

भूत इन्द्रिय तथा मन के (इच्छा आदि गुण होने का) समान रूप से प्रतिषेध है, मन तो उदाहरणमात्र है,

(इच्छादि) मन के गुण नहीं यथोक्त हेतु होने से, परतन्त्र होने से, अकृताभ्यागम होने से । ३।२।३८ ।।

'इच्छाद्वेषप्रयत्न सुख-दुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्' (१ ·१०) यहाँ से लेकर जैसा कहा गया है, उसका संग्रह हो जाता हैं। उससे भूत इन्द्रिय तथा मन की चेतनता का प्रतिषेध होता है ।

पारतन्त्र्यात् (परतन्त्र होने से)—भूत इन्द्रिय तथा मन परतन्त्र हैं, ये धारण प्रेरण व्यूहन कार्यों म प्रयत्न के कारण प्रवृत होते हैं । किन्तु इनके चेतन होने पर ये स्वतन्त्र होंगे ।

भूत, इन्द्रिय तथा मन की (चेतनता) का समान रूप से प्रतिषेध है । मन तो उदाहरणमात्र है । 'यथोक्तहेतुत्वात पारतन्त्र्याद् अकृताभ्यागमाच्च न मनसः (यह सूत्र है) ।

यथोक्तहेतुत्वादिति—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इस प्रकार के हेतुओं का प्रतिषेध नहीं किया गया ।

भूतेन्द्रियमनसाम्—यथोक्तहेतुत्वात् इत्यादि अग्रिम सूत्र के हेतु भूत इन्द्रिय और मन सभी के चैतन्य का प्रतिषेध करते हैं अकेले मन के ही नहीं, टी० ५७२

यथोक्त हेतुत्वात्—इच्छा द्वेष से लेकर आत्मा की परीक्षा तक के सभी हेतुओं का ग्रहण है। इस कथन से भाष्य के प्रभृति शब्द की व्याख्या हो गई टी० ५७२ । यह सूत्र ज्ञान के मन का गुण होने का प्रतिषेध करता है ।

अप्रतिषेधात्—वचन मात्र से इनका प्रतिषेध किया गया है वस्तुतः नहीं ? टी० ५७३

पारतन्त्र्यात्—शरीर तथा इन्द्रिय परतन्त्र है, भौतिक होने से घटादि के समान । मन परतन्त्र है, करण होने से विसूले (वास्या) आदि के समान । ये किसी (आत्मा) के प्रयत्न से प्रवृत होते हैं, यदि ये चेतन होते तो ये स्वतन्त्र होते । टी० ५७३ ।।

न्यायभाष्यम्

अकृताभ्यागमाच्च—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेणोपभुज्यत इति स्यात्। अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युपपद्यते' इति। ३।२।३८॥

न्यायवार्त्तिकम्

पारतन्त्र्यादिति—परतन्त्राणि शरीरेन्द्रियमनांसि। धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युः।

अकृताभ्यागमाच्च—चेतनत्वाच्छरीरादीनां तैः कृतं कर्म पुरुषेण भुज्यते। इति अकृतकृतागमनाशदोषप्रसङ्गः। अचेतनत्वे तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोग इति। ३।२।३८॥

बिना किये गये की प्राप्ति होने से—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (१:१:१७) वाक् बुद्धि (मन) तथा शरीर की चेष्टा प्रवृत्ति है, इस प्रकार भूत, इन्द्रिय तथा मन के चेतन होने पर दूसरे (वाग् इत्यादि का) का किया कर्म पुरुष (आत्मा) के द्वारा भोगा जाता है, यह होगा। उनके अचेतन होने पर तो उनके साधन वाले पुरुष (आत्मा) के अपने किये कर्म का उपभोग पुरुष को होता है यह बन जाता है।३/२/३८॥

पारतन्त्र्यात् (परतन्त्र होने से)—शरीर, इन्द्रिय तथा मन परतन्त्र हैं। ये धारण, प्रेरण तथा व्यूहन क्रियाओं में प्रयत्न से प्रवृत्त किये जाते हैं। किन्तु इनके चेतन होने पर ये स्वतन्त्र होंगे।

अकृताभ्यागमाच्च (बिना किये की प्राप्ति होने से भी)—शरीर आदि के चेतन होने पर उनके द्वारा किया हुआ कर्म पुरुष से भोगा जाता है। इस प्रकार बिना किये की प्राप्ति और किये का नाश, यह दोष प्राप्त होता है। किन्तु उनके अचेतन होने पर तो उनके साधन वाले पुरुष (आत्मा) के अपने किये कर्म का उपभोग होता है।।३/२/३८॥

अकृताभ्यागमाच्च—जो कर्म करने वाला है वही उसके फल को भोगता है, यह सभी आस्तिकों को स्वीकार करना पड़ता है। शरीरादि यदि कर्म करने वाले होंगे [अर्थात् चेतन होंगे तो शरीर आदि से किया कर्म पुरुष (आत्मा) को भावना होगा। इससे कृत का नाश और अकृत की प्राप्ति (आगम) दोष होने लगेगा तथा शास्त्र का व्याकोप होगे और प्रेक्षवान् की प्रवृत्ति का विरोध भी टी० ५७३।

चेतनत्वात् शरीरादीनाम्—अकृताभ्यागमाच्च इसकी ही वार्त्तिक कार ने इस प्रकार व्याख्या की है।

अथायं सिद्धोपसंग्रहः,

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ।३।२।३८॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम् ।

परिशेषो नाम, प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः । भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते, शिष्यते चात्मा, तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते ।

न्यायवार्तिकम्

अथायं सिद्धोपसंग्रहः । परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च । आत्मनो गुणो ज्ञानमिति प्रकृतम् ।

यथोक्तहेतूपपत्तेरिति—आत्मप्रतिपादकानां हेतूनामप्रतिषेधात् । परिशेषाद् इति—शरीरेन्द्रियमनसां प्रतिषेधाद् अन्यस्य च शिष्यमाणस्यासम्भवात्, आत्मनश्च शिष्यमाणत्वात् तस्य गुणो ज्ञानमिति ।

अब यह सिद्ध (निश्चित) का सग्रह है,

परिशेष होने से और यथोक्त हेतु बनने से (आत्मा का गुण ज्ञान है) ३।१।३८।

ज्ञान आत्मा का गुण है, यह प्रकरण है ।

परिशेष का अभिप्राय है, प्राप्तों का प्रतिषेध करने पर अन्यत्र प्राप्ति न होने से शेष में प्रतीति होना ; भूत, इन्द्रिय तथा मन का प्रतिषेध करने पर अन्य द्रव्य प्राप्त नहीं होता (न प्रसज्यते), शेष है आत्मा, उसका गुण ज्ञान है, यह प्रतीत होता है ।

अब यह सिद्ध (निश्चित) का उपसंहार (उपसंग्रहः) है । 'परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च' (यह सूत्र है) । आत्मा का ज्ञान है, यह प्रकरण से प्राप्त है ।

यथोक्तहेतूपपत्तेश्च (यथोक्तहेतूओं के युक्तियुक्त होने से) का अभिप्राय है कि आत्मा के प्रतिपादक हेतुओं का प्रतिषेध न करने से ।

परिशेषात् इति (परिशेष से)—शरीर, इन्द्रिय तथा मन का प्रतिषेध करने से कहे गये अन्य द्रव्य के न हो सकने से और आत्मा के शेष होने से उसका गुण ज्ञान है ।

सिद्धोपसग्रहः—उपसंहार है, अथायं सिद्धोपसंहार इत्यर्थः टी० ५७३ ॥

अप्रतिषेधात्—यह 'उपपतेः की व्याख्या है, उपपत्ति पदार्थ व्याख्यानम प्रतिषेधादिति, टी० ५७३

परिशेषो नाम···सम्प्रत्ययः(भा०)—यह परिशेष (अनुमान) की व्याख्या है जो सूत्र पांच के अनुसार ही दी गई है । इसी को वार्तिककार ने आत्मा का गुण ज्ञान है यह सिद्ध करने के लिये घटाया है, शरीरेन्द्रिय मनसां प्रतिषेधाद् इत्यादि में ।

शिष्यमाणस्य सम्भवात्—अन्य द्रव्य का उपदेश नहीं किया गया है । यह 'अन्यत्राप्रसङ्गात्' की व्याख्या है (वार्तिक ऊपर) ।

न्यायभाष्यम्

'यथोक्तहेतूपपत्तेश्च' इति—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इत्येवमादीनामात्म प्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधाद् इति ।

परिशेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनाविज्ञानार्थं च यथोक्तहेतूपपत्तिवचनमिति ।

अथवोपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदम् । नित्यः खल्वयमात्मा, यस्माद् एकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मं चरित्वा देहभेदात् नरकेषूपपद्यत इति । उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा सा सति सत्त्वे नित्ये चाश्रयवती ।

न्यायवार्तिकम्

उपपत्तेरिति वा स्वतन्त्रो हेतुः, आत्मनित्यत्व इति । कस्योपपत्तेः ? संसारापवर्गयोरुपपत्तेरित्येवमादि भाष्ये । ३।२।३८।

यथोक्तहेतूपपत्तेश्च (जैसे ऊपर कहे गये हैं उन हेतुओं के आत्मा में बनने से)—का अभिप्राय है 'दर्शन और स्पर्शन से एक विषय का ग्रहण होने के कारण' इत्यादि आत्मा के प्रतिपादक हेतुओं का प्रतिषेध न करने से ।

परिशेष को सूचित करने के लिए तथा प्रकरण प्राप्त की स्थापना के ज्ञान के लिए कहे गये के अनुसार हेतुओं की उत्पत्ति (युक्तियुक्तता) कही गई है ।

अथवा 'उपपत्तेः' यह अन्य हेतु ही है । वस्तुतः यह आत्मा नित्य है, क्योंकि एक शरीर में धर्म का आचरण करके शरीर भेद से स्वर्ग में देवों में होता है, अधर्म का आचरण करके नरक में होता है । उपपत्ति का अभिप्राय है अन्य शरीर की प्राप्ति वह आत्मा (सत्त्व) के होने पर और उसके नित्य होने पर आधारित है (आश्रयवती) ।

अथवा 'उपपत्तेः' (युक्ति युक्त होने से) यह स्वतन्त्र हेतु है, आत्मा के नित्य होने पर, (यह अभिप्राय है) । किसके बन सकने से ? संसार (जन्म-मरण) तथा मोक्ष (अपवर्ग) बन सकने से इत्यादि भाष्य में कहा गया है ॥३/२/३८॥

कायभेदात—काया (शरीर) के विनाश से कायस्य भदेद्विनाशाद् इति । टी ५७३

उपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदम्—उपपत्तेश्च यह पृथक हेतु है उपपत्तेरिति वा स्वतन्त्रो हेतु (वार्तिक ऊपर)

आत्मनित्यत्व इति कस्योपपत्तेः—आत्मा के नित्य होने पर ही उसके संसार और मोक्ष बन सकते हैं । यह भाष्य में विस्तार से बतलाया है यह आत्मा नित्य है क्योंकि एक शरीर में धर्म का आचरण करके शरीरान्तर से स्वर्ग में देवों के मध्य उत्पन्न होता है, अधर्म का आचरण करके अन्य शरीर नरक में उत्पन्न होता है । भाष्यकार ने बतलाया है कि उपपत्तिः=शरीरान्तरप्राप्ति [illegible] (उप भाष्य)

संसारापवर्गयो— जन्म-मरण रूप संसार तथा मोक्ष आत्मा के नित्य होने पर ही बन सकते हैं

बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रयः नोपपद्यते' इति। एकसत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते। शरीर प्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते। बुद्धिसन्ततिमात्रेत्वेकसत्त्वनुपपत्तेर्न कश्चिद् दीर्घमध्वानं सन्धावति, न कश्चित् शरीरप्रबन्धाद् विमुच्यत इति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति। बुद्धिसन्ततिमात्रे च सत्वभेदात् सर्वमिदं [illegible] संहितमव्यावृतमपरिनिष्ठितं च स्यात्।

ततः स्मरणाभावात् नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। स्मरणं च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणम् 'अज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयमिति' सोऽयमेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति, तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति। तद् बुद्धिप्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते। ३।२।३९॥

आत्मा रहित बुद्धि (ज्ञान) की सन्तति (प्रबंध) मात्र में बिना आश्रय के (वह) नहीं बनता। एक आत्मा में होने वाला (अधिष्ठान) अनेक शरीरों का सम्बन्ध जो संसार है वह बन सकता है तथा शरीर की सन्तति का नाश अपवर्ग या मुक्ति बनती है। बुद्धिसन्तति मात्र में तो एक प्राणी नहीं बनने से कोई लम्बे मार्ग में नहीं दौड़ता, कोई शरीर सन्तान से मुक्त नहीं होता, इस प्रकार संसार तथा अपवर्ग (मुक्ति) नहीं बनते। और बुद्धि सन्तान मात्र मानने पर प्राणी (सत्त्व) का भेद होने से यह सारा प्राणी का व्यवहार प्रतिसन्धान रहित (अप्रतिसंहितम्) अविशिष्ट या भेदरहित (अव्यावृतम्) तथा अपरिसमाप्त हो जाये।

तब (बुद्धि-सन्तान मात्र होने पर) अन्य के देखे गये को अन्य स्मरण नहीं करता अतः स्मरण न होगा। वस्तुतः स्मरण पूर्व ज्ञात का उसी ज्ञाता से ग्रहण है (जो इस रूप में होता है) 'यह पदार्थ जो जानने योग्य है, इसे मैंने जाना है।' वह यह एक ज्ञाता पहले जाने गये पदार्थ का ग्रहण करता है वह इसका ग्रहण स्मरण है। वह बुद्धि की सन्तान मात्र बिना आत्मा के मानने पर नहीं बनती। ३/२/३९॥

बुद्धि प्रबन्धमात्रे तु निरात्मके— यदि आत्मा को न माना जाये तथा ज्ञानों का सन्तान मात्र माना जाये तो संसार एवं अपवर्ग नही बन सकते।

एकसत्त्वानुपपत्तेः— एक प्राणी नहीं बनने से, सत्त्व=आत्मा या प्राणी।

अप्रतिसंहितम्—पूर्व दिन आधे किये कार्य की अगले दिन समाप्ति देखी गई है मैंने आरम्भ किया था मुझे ही समाप्त करना है यह सोचकर व्यक्ति समाप्त करता हैं यदि ऐसा न सोचे तो समाप्त न करे। अथवा यदि समाप्त करे तो चैत्र नामक व्यक्ति के आरम्भ किये कार्य को मैत्र नामक व्यक्ति भी समाप्त कर दें,

अव्यावृतम् अपरिनिष्ठितं च स्यात्--स्वयं आरम्भ किये से पराये आरम्भ किये हुए में अन्तर न होगा तथा वह कार्य अपूर्ण ही रहेगा। टी० ५७४॥

मरणाभावात् — माप्त न होने में हेतु दिखलाया हैं, स्मरणा भावादिति। टी० ५७४।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् । ३।२।४०॥

उपपद्यत इति, आत्मन एवं स्मरणं न बुद्धिसन्ततिमात्रस्येति। तुशब्दोऽवधारणे। कथम् ? ज्ञस्वभावत्वात्—ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः। अयं खलु ज्ञास्यति जानाति अज्ञासीद्, इति, त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञातेन सम्बध्यते। तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयम्, ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषम्' इति वर्तते। तद् यस्यात्रं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणं न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति। ३।२।४०॥

न्यायवार्त्तिकम्

'स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्' । ३।२।४०॥

स्मरण तो आत्मा को ही होता है क्योंकि आत्मा का जानने का स्वभाव है। ३।२।४०॥

आत्मा का ही स्मरण युक्तियुक्त है, बुद्धि (ज्ञान) सन्तान मात्र का नहीं, 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में है कैसे ? जानने का स्वभाव होने से—जानना इसका स्वभाव है अपना धर्म है। वस्तुतः यह (व्यक्ति) जानेगा, जानता है, इसने जाना। इस प्रकार तीनों कालों का विषय होने वाले एक ज्ञान से सम्बद्ध होता है और इसका तीनों कालों में होने वाला ज्ञान प्रत्येक आत्मा को अनुभव होता है, जानूंगा, जानता हूँ, मैंने जाना यह (अनुभव) होता है। तो जिसका यह अपना धर्म है, उसको स्मरण होता है, आत्मा रहित बुद्धि (ज्ञान) के सन्तान मात्र को नहीं ॥३/२/४०॥

'स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्, (यह सूत्र है) । ३ । २ । ४० ॥

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्—उपपद्यते इस भाष्य की क्रिया के साथ सूत्र पूर्ण होता है आत्म का ही स्मरण बनता है ज्ञान सन्तान मात्र का नहीं।

कथम् ?—यह प्रश्न है। आत्मा का स्वभाव ही ज्ञाता होना, तीनों कालों में व्यापक ज्ञान शक्ति ही आत्मा का स्वभाव है वह आत्मा को आकाश आदि से पृथक करती है, टी० ५७४।

अयं खलु—यह आत्मा ही जानेगा, जानता है, इसने ही जाना है, इस प्रकार तीनों कालों में ज्ञान क्रिया का इससे ही सम्बन्ध है।

प्रत्यात्मवेदनीयम्—प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अनुभव किया जाता है कि आत्मा का ज्ञान तीनों कालों में होता है।

बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य—यह धर्म आत्मा के बिना ज्ञानसन्तान मात्र का नहीं हो सकता। वार्तिककार ने केवल सूत्र उद्धृत किया है।

स्मृतिहेतूनाम यौगपद्याद्युगपदस्मरणमित्युक्तम् । अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यते ? इति । स्मृतिः खलु,

प्रणिधाननिबन्धाभ्यास लिङ्गलक्षणसादृश्य परिग्रहाश्रयाश्रित सम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छा द्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः । ३।२।४१ ॥

सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं सुस्मूर्षितलिङ्गानुचिन्तनं वार्थस्मृतिकारणम् । निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽअर्थानाम् । एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योन्य-

न्यायवार्त्तिकम्

स्मृतिहेतूनामयौगपद्यादयुगपत् स्मरणमित्युक्तम्। अथ केभ्य. स्मृतिरुत्पद्यत इति ? स्मृतिकारणानामयौगपद्यप्रतिपादनार्थं प्रणिधानादि सूत्रम् ३।२,४।९ एवमुपपन्नमनित्या बुद्धिरिति । ३।२।४।०।

स्मृति के हेतुओं के एक साथ न होने से एक साथ स्मरण नहीं होता, यह कहा गया है । अब (बतलाते हैं कि) किन से स्मृति उत्पन्न होती है ? स्मृति तो,

१. प्रणिधान (एकाग्रता) २. निबन्ध (एक ग्रन्थ में निरूपण) ३. अभ्यास (समान विषय का बार-बार करना) ४. लिङ्ग (संयोगी आदि) ५. लक्षण (चिन्ह) ६. सादृश्य ७. परिग्रह (ग्रहण करना) ८. आश्रय (आधार) ९. आश्रित (आधार्य) १०. सम्बन्ध ११. आनन्तर्य १२. वियोग १३. एक कार्य १४. विरोध १५. अतिशय १६. प्राप्ति १७. व्यवधान १८. सुख, दुःख १९. इच्छा, द्वेष ०. भय २१. अर्थित्व २२. क्रिया २३. राग २४. धर्म २५. अधर्म के निमित्तों से (स्मृति होती है)। ३। ।४१॥

१. प्रणिधान (एकाग्रता) है स्मरण करने की इच्छा (सुस्मूर्षित) से मन का एकाग्र करना । अथवा जिसका स्मरण करने की इच्छा है उसके लिंग (बोधक) का चिन्तन (स्मरण) करना । वह पदार्थ की स्मृति का कारण होता है ।

२. निबन्ध है किसी एक ग्रन्थ में पदार्थों (अर्थों) का ग्रथन । वस्तुतः एक ग्रन्थ में ।

स्मृति के हेतुओं के एक साथ न होने से एक साथ स्मरण नहीं होता, यह कहा गया है । अब किन निमितों से स्मृति उत्पन्न होती है (यह बतलाते हैं) । स्मृति के कारणों के एक साथ न होना दिखलाने के लिए प्रणिधान इत्यादि सूत्र है । इस प्रकार यह युक्तियुक्त है कि बुद्धि अनित्य है ।

स्मृतिहेतुनामयोगपद्यात्—यह कहा था, स्मृति के हेतु कौन से है , यह बतलाते हैं ।

प्रणिधानम्—भाष्यकार ने स्मरण करने की इच्छा से (सूस्मर्षया) मन का एकाग्र करना (धारणम्) यह प्रणिधान का एक अर्थ किया है अथवा जिसके स्मरण करने की इच्छा है उस लिङ्ग (बोधक) स्मरण करना जो पदार्थ की स्मृति का कारण होता है ।

निबन्ध—यह सूत्र में स्मृति का द्वितीय कारण कहा गया है, पदार्थों का एक ग्रन्थ में कथन निबन्ध है ।

स्मृतिकारणानाम् (वार्त्तिक)—हेतूनाम्' का अभिप्राय है 'कारणानाम्' तात्पर्याभिधा न पुरस्सर सूत्रमवतारयति स्मृतिकारणानामिति । टी० ५७४

स्मृतिहेतव आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्तीति । धारणशास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्त्तव्यानामुपक्षेपो निबन्ध इति । अभ्यासस्तु समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिः । अभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते । स च स्मृत्तिहेतुः समान इति । लिङ्गं पुनः संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि चेति । यथा धूमोऽग्नेः ? गोर्विषाणम्, पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य, अभूतं भूतस्येति । लक्षणं पश्वयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः 'विदानामिदं गर्गाणामिति' सादृश्यं चित्रगतं प्रतिरूपकं देवदत्तस्येत्येवमादि । परिग्रहात्, स्वेन वा स्वामी-स्वामिना वा स्वं स्मर्यते । आश्रयात्, ग्रामण्या तदधीनं संस्मरति । आश्रितात्, तदधीनेन ग्रामण्यमिति । सम्बन्धात्, अन्तेवासिना युक्तं गुरुं स्मरति, ऋत्विजा याज्यमिति । आनन्तर्यादिति, करणीयेष्वर्थेषु । वियोगात्,

ग्रथित पदार्थ एक दूसरे की स्मृति क हेतु क्रमशः या बिना क्रम के हो जाते हैं । अथवा धारण शास्त्र का किया हुआ जाने गये अर्थों में स्मरण करने योग्य (पदार्थों) का डालना निबन्ध है । ३. अभ्यास तो है समान विषय में ज्ञानों की आवृत्ति करना । यहाँ अभ्यास से उत्पन्न संस्कार जो आत्मा का गुण है उसे अभ्यास शब्द से कहा जाता है । और वह समान रूप से स्मृति का हेतु है । ४. किन्तु लिङ्ग है संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी (वै० सू० ३-१-९) जैसे धूम अग्नि का (संयोगी); सींग गौ का (समवायी), हाथ पैर का तथा रूप स्पर्श का (एकार्थसमवायी), उत्पन्न न हुआ या नष्ट हुआ हुए का विरोधी (लिंग है) । ५. लक्षण (चिह्न) पशु के अवयव में स्थित गोत्र (कुल) की स्मृति का हेतु है । यह विदों का है, यह गर्गों का है । ६. सादृश्य है चित्र में होने वाली समानता जैसे यह देवदत्त का चित्र है इत्यादि । १७. परिग्रह से स्व से स्वामी अथवा स्वामी से स्व का स्मरण होता है । ८. आश्रय आधार से, ग्रामणी (ग्राम के स्वामी) से उसके अधीन का स्मरण करता है । ९. आश्रित (आधार्य) से उसके अधीन से ग्रामणी को स्मरण कर लेता है । १०. सम्बन्ध से जैसे —शिष्य (अन्तेवासी) से युक्त गुरु का स्मरण करता है, ऋत्विक् (पुरोहित) से यजमान का। ११. आनन्तर्यात् (अनन्तर होने से), यह करने योग्य पदार्थों में होता है। १२. वियोगात् (वियोग से), जैसे—

आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्ति—क्रमशः या बिना क्रम के ही स्मृति में आ जाते हैं, जैसे प्रमाण का स्मरण करके प्रमेय का स्मरण करता है । बिना क्रम के स्मरण हो जाता है जैसे निग्रह स्थानों का स्मरण करके प्रमाणों का स्मरण हो जाता है । टी० ५७४

धारणा शास्त्रकृतो वा—यह निबन्ध का दूसरा अर्थ है, टीका

अभ्यासस्तु···अभ्यास जनितः संस्कारः—इससे आदर और प्रत्यय भी संगृहीत हो जाता है क्योंकि ये भी संस्कार के कारण होते हैं टी० ५७५ ।

लिङ्ग पुनः—ये लिङ्ग वैशेषिक सूत्र (३·१·९) में बतलाये गये है।

लक्षणम्—यहाँ लक्षण से गोत्रचिन्ह का ग्रहण होता है । (द० उदाहरण)

आनन्तर्यात्—कर्तव्य कर्मोंमें एक अनन्तर जो करना होता है उसका स्मरण कर लेता है ।

सम्बन्धात्—यद्यपि प्रणिधान आदि को छोड़कर अन्य सम्बन्ध यहाँ लिये जाते है तथापि सूत्रकार ने अत्यन्त वाक्य साधन न करते हुए उनका ग्रहण किया है । टी० ५७५

येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति । एककार्यात्, कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः । विरोधात्, विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनाद् अन्यतरः स्मर्यते । अतिशयात्, येनातिशय उत्पादितः । प्राप्तेः यतो येन किञ्चित् प्राप्तमाप्तव्यं वा भवति तमभीक्ष्णं स्मरति । व्यवधानात्, कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते । सुखदुःखाभ्यां तद्हेतुः स्मर्यते । इच्छाद्वेषाभ्यां यमिच्छति यं च द्वेष्टि तं स्मरति । भयात्, यतो बिभेति, । अर्थित्वात्, येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा । क्रियायाः, रथेन रथकारं स्मरति । रागात्, यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति । धर्मात्, जात्यन्तरस्मरणमिह चाधीतश्रुतावधारणमिति अधर्मात् प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति ।

न चैतेषु निमित्तेषु युगपत्संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति । निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनां न परिसंख्या नमिति । ३।२।४१।।

वियोग को प्राप्त होता है, उसके वियोग का अनुभव करने वाला उसे बार-२ स्मरण करता है १३ एक कार्यात् (एक कार्य से) किसी कार्य के एक कर्ता को देखने से अन्य कर्ता को स्मरण करता है । १४. विरोधात् (विरोध से), एक दूसरे को जीतने की इच्छा करने वालों में से एक को देखने से दूसरे का स्मरण होता है । १५. अतिशयात् (अतिशय से) जिसने अतिशय (अधिकता या उन्नति) उत्पन्न किया है । उसका स्मरण होता है । १६. प्राप्तेः (प्राप्ति से) जिससे या जिसके द्वारा कुछ प्राप्त किया है अथवा प्राप्त करना है, उसका बार-२ स्मरण होता है । १७ः व्यवधानात् (व्यवधान से) कोश आदि से कृपाण आदि को स्मरण किया जाता है । १८. सुख-दुःख से उनके निमित्त का स्मरण किया जाता है । १९. इच्छा तथा द्वेष से जिसकी इच्छा करता है और जिससे द्वेष करता है उसको याद करता है । २०. भय से जिससे डरता है (उसे याद करता है) । २१. अर्थित्वात् (इच्छुक होने से) जिसका इच्छुक होता है भोजन का या वस्त्र का (उसे याद करता है) । २२. क्रिया से, रथ से रथ बनाने वाले का स्मरण करता है । २३ राग से, जिस स्त्री में रक्त होता है उसे बार-२ याद करता है । २४. धर्म से, अन्य जन्म का स्मरण और यहाँ पढ़े अथवा सुने का निश्चय करता । २५. अधर्म से, पहले अनुभव किये गये दुःख के साधन का स्मरण करता है ।

इन निमित्तों की एक साथ अनुभूति नहीं होती अतः एक साथ स्मरण नहीं होता । यह तो उदाहरण है, स्मृति के हेतुओं की गणना नहीं ।।३/२।४१।।

वियोगात्—जिससे वियोग होता है उसका बार बार स्मरण करता है । टी० ५७६ ।

न चैतेषु—इन स्मृति के निमित्तों का एक साथ स्मरण नही होता अतः एक साथ स्मृतियाँ नही होती।

न परिसंख्यानम् — उन्माद आदि भी स्मृति के हेतु होते है किन्तु उनका उल्लेख सूत्र में नहीं किया गया है : वस्तुतः यह उदाहरण मात्र है स्मृति के हेतुओं की गणना (परिगणना) नही है टी० ५७६ इन हेतुओं में कुछ स्वरूपतः स्मृति के हेतु होते है कुछ स्मृति के उद्बोधक होते है । (विश्वनाथवृत्ति)

(बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वम्)

अनित्यायां च बुद्धौ उत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्चानित्यानां संशयः किमुत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः शब्दवत्, आहोस्वित् कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति । उत्पन्नापर्गिणीति पक्षः परिगृह्यते । कस्मात् ?

कर्मानवस्थायिग्रहणात् । ३।२।४२ ॥

न्यायवार्तिकम्

अनित्यायां च बुद्धावुत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थायित्वाच्च[1] संशय उत्पन्नावर्गिणी बुद्धिः शब्दवत्, आहो कालान्तर स्थायिनी[2] कुम्भवदिति । उत्पन्नापवर्गिणीति युक्तम् । कः पुनरयमर्थः 'उत्पन्नावर्पागणीति ? अन्येभ्योऽपि विनाशिभ्य आशुतरं विनश्यतीति, न त्वयमर्थः 'उत्पत्त्यनन्तरं ध्वंसत[3] इति । कः पुनरत्र न्यायः ? आशुतरविनाशिनी बुद्धिः जातिमत्त्वे सत्यस्मदादिप्रत्यक्षतायां व्यापकद्रव्यसमवायात् शब्दवत ।

४. (ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश) बुद्धि (ज्ञान) के अनित्य होने पर भी अनित्यों के उत्पन्न होकर नष्ट होने से अथवा अन्य काल में स्थित रहने से सन्देह होता है कि ज्ञान (बुद्धि) क्या शब्द के समान उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली है अथवा घट के समान अन्य काल में भी स्थित रहने वाली है । ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला यह है, पक्ष माना जाता है । क्यों ?

कर्म के अनवस्थित ग्रहण से । ३।२।४२॥

बुद्धि (ज्ञान) के अनित्य होने पर उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने के कारण और अन्य काल में स्थित रहने के कारण सन्देह होता है कि शब्द के समान ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला है, अथवा घट (कुम्भ) के समान अन्य काल में स्थित रहने वाला है । उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली है (बुद्धि) यह युक्त है । किन्तु क्या अभिप्राय है । यह कि बुद्धि उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली है । (यह अभिप्राय है कि) उत्पत्ति के पश्चात् नष्ट हो जाती है । इसमें क्या न्याय है ? ज्ञान (बुद्धि) तुरन्त नष्ट हो जाने वाली है, व्यापक द्रव्य (आत्मा) में समवय से रहने के कारण, शब्द के समान ।

अनित्यतायां च बुद्धौ— बुद्धि के अनित्य सिद्ध हो जाने पर वह शब्द के समान अनित्य है या घटादि के समान यह सन्देह होता है । (ऊपर भाष्य). उत्पन्नावार्पागत्व का अर्थ है आशुविनाशित्व अर्थात् ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । टी० ५७६ ।

उत्पन्नावर्गिणीति पक्षः— ज्ञान अन्य विनाशी पदार्थों की अपेक्षा भी आशुतर विनाशी है, यह नहीं कि उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है । (ऊपर वार्तिक)

जातिमत्त्वे सत्वस्मदादि प्रत्यक्षतायाम्— वार्तिक में ज्ञान की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये अनुमान दिखलाया गया है (ऊपर वार्तिक) इसका पदकृत्य टी० ५७६ में है ।

१. वस्थायित्वाच्च, पा० । २ कालान्तरा 'वस्थायिनी, पा० । ३. ध्वंसत इति, पाठ ।

न्यायभाष्यम्

कर्मणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति। क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानो गृह्यते। प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद् बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति।

न्यायवार्त्तिकम्

प्रतिक्षणमपूर्वोत्पत्तौ[1] करणत्वे सति प्रत्यर्थप्रकाशकत्वात्—यस्य प्रतिक्षणमपूर्वोत्पन्नपदार्थप्रकाशकत्वं करणत्वे सति तस्याशुतरविनाशित्वं दृष्टम्, यथा प्रदीपस्य, प्रतिक्षणमपूर्वोत्पन्नान्[2] प्रध्वंसिनः पदार्थान् बुद्धिः प्रत्यर्थनियमेन प्रकाशयति, तस्मादियमप्याशुतरविनाशिनीति। अथवा आशुतरविनाशिनी बुद्धिः गुणत्वे सति, अबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् सुखवदिति।

अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं 'कर्मानवस्थायिग्रहणाद्' इति सूत्रम्।

अनवस्थित कर्म का ग्रहण होने के कारण—फेंके हुए बाण के पतन होने तक क्रिया सन्तति का ग्रहण होता है और ज्ञानों के प्रत्येक पदार्थ में नियत होने से क्रिया की सन्तति के समान ज्ञानों (बुद्धियों) की सन्तति भी बनती है।

प्रतिक्षण अपूर्व उत्पत्ति में करण होने पर प्रत्येक पदार्थ का प्रकाशक होने से—जिसका करण होने पर प्रतिक्षण अपूर्व उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक होना (देखा जाता है) उसका तुरन्त ही विनाश देखा गया है जैसे दीपक का, ज्ञान (बुद्धि) प्रतिक्षण अपूर्व उत्पन्न होने वाले तथा नष्ट हो जाने वाले पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ को नियम से प्रकाशित करता है, अतः यह भी तुरन्त नष्ट होने वाला है। अथवा ज्ञान (बुद्धि) तुरन्त नष्ट होने वाला है, क्योंकि यह गुण होकर बाह्यकरण (इन्द्रिय) से प्रत्यक्ष नहीं होता, सुख के समान।

इस अर्थ के ज्ञापन के लिये 'कर्मानवस्थायिग्रहणात्' यह सूत्र है।

प्रतिक्षणमपूर्वोत्पत्तौ—यह प्रत्यर्थनि)यमाच्च की व्याख्या : प्रतिक्षण कर्म जो विषय है वह अपूर्व उत्पन्न होता है तब उसकी कार्य बुद्धि भी प्रत्येक अर्थ में भिन्न भिन्न होती है क्योंकि कारण के क्रम का कार्य का क्रम अनुसरण करता है। टी० ५७७।

तस्मादियमप्याशुतरविनाशिनी—यहां ज्ञान के आशुतर विनाशी होने] में] एक अनुमान दिखलाया है।

अथवा...सुखवदिति–यह दूसरा अनुमान दिखलाया गया प्रयोगान्तरमाह, अथवेति, टी० ५७८।

अस्यार्थस्यज्ञापनार्थं...इति सूत्रम्—इस अर्थ को सूचित करने के लिये ही 'कर्मानवस्थायिग्रहणात्' यह सूत्र है। किस अर्थ के ? प्रत्यर्थनियता बुद्धिः इस अर्थ के।

१. अयुगपदुत्पत्तौ, इत्यधिकं पा०। २. प्रतिक्षणमुत्पन्नान्, पा०।

न्यायसूत्र भाष्यं च

अवस्थितग्रहणे च व्यवधीयमानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः । अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणे सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्तते प्राग्व्यवधानात् । तेन व्यवहिते प्रत्यक्षं ज्ञानं निवर्तते । कालान्तरावस्थाने तु बुद्धेर्दृश्यव्यवधानेऽपि प्रत्यक्षमवतिष्ठेतेति ।

न्यायवार्तिकम्

यदि तर्ह्यनवस्थायिपदार्थेषु अनवस्थिता बुद्धिः, अथ यदा बुद्धिस्थितं कुम्भादिकमुपलभ्यते तदा किं कुम्भवत् कालान्तरावस्थायिनी उताशुविध्वंसिनीति ? अवस्थितग्रहणेऽपि प्रत्यक्षनिवृत्तेः प्रध्वंसिनी— यदावस्थितं[1] कुम्भादिकमुपलभते तदापि सन्तानेनैव बुद्धयो निवर्तन्ते । कस्मात् ? व्यवहिते प्रत्यक्षनिवृत्तेः—यदि कुम्भवत् कालान्तरावस्थायिनी बुद्धिरभविष्यद् व्यवहितेऽपि प्रत्यक्षमवास्थास्यत्, न त्ववतिष्ठते तस्मान्न कालान्तरावस्थायिनीति ।

और अवस्थित का ग्रहण करने में व्यवधान हो जाने पर प्रत्यक्ष न होने से— अवस्थित घट (आदि) के ग्रहण में सन्तान से ही ज्ञान होता है व्यवधान न होने तक । इससे व्यवधान होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । यदि ज्ञान अन्य काल में स्थित रहे तो व्यवधान होने पर भी दृश्य प्रत्यक्ष रहे ।

यदि तो अस्थायी पदार्थों में ज्ञान अनवस्थित होता है तो जब बुद्धि में स्थित घट आदि उपलब्ध होता है तब क्या ज्ञान घटादि के समान अन्य काल में स्थित होता है अथवा शीघ्र नष्ट होने वाला ? यदि अवस्थित पदार्थ के ग्रहण में भी ज्ञान (बुद्धि) नष्ट होने वाला है प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने से—जब अवस्थित घटादि को उपलब्ध करता है तब भी ज्ञान (बुद्धयः) सन्तान से ही निवृत होते हैं । क्यों ? व्यवधान हो जाने पर प्रत्यक्ष की निवृत्ति हो जाने से—यदि घट के समान ज्ञान (भी) अन्य काल में स्थित रहता तो व्यवधान होने पर भी प्रत्यक्ष ठहरता । किन्तु ठहरता नहीं इसलिए ज्ञान (बुद्धि) अन्य काल में रहने वाला नहीं ।

अवस्थित ग्रहणे पि प्रत्यक्षनिवृत्तेः—अनस्थितग्रहणेऽपि प्रत्यक्ष निवृत्तेर्ध्वंसिनी, टी० ५७७ में यह पाठ है । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि स्पर्शादि बुद्धि एक ही उतने समय तक रहती है जब तक सन्निकर्ष होता है । सन्निकर्ष के नाश से ही वह नष्ट होती है निमितकारण के नाश से भी कार्य का विनाश होता देखा गया है जैसे अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्वादि का नाश हो जाता है तथापि क्षण कि उसी कार्य की गृहीती बुद्धि क्षणिक है यह बतलाते हुए आचार्य ने स्थायी वस्तु की गृहीती बुद्धि भी क्षणिक होती है, यह सूचित कर दिया है, स्थिरगोचराः बुद्धयः क्षणिकाः बुद्धित्वात् कर्याद्बुद्धिव टी० ५७७ । यहबात वार्तिक में आगे सिद्ध की जा रही है । यदावस्थित कुम्भादिकमुपलभते इत्यादि ।

१- यथावस्थितं, पा०

न्यायभाष्यम्

स्मृतिश्चालिङ्गं बुद्ध्यवस्थाने, संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिहेतुत्वात् याश्च मन्यते, 'अवतिष्ठते बुद्धिः दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः । सा च बुद्धावनित्यायां कारणभावान्न स्यादिति । तदिदमलिङ्गम् । कस्मात् ? बुद्धिजो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुर्न बुद्धिरिति ।

न्यायवार्तिकम्

स्मृतेरवतिष्ठते' इति चेत्—यदि बुद्धिर्ध्वंसिनी स्यात् स्मृतिर्न स्यात्, न हि बुद्धिभेदे स्मृतिं पश्याम इति; यथा पुरुषान्तरबुद्धिषु, अस्ति च स्मृतिः, तस्मादवतिष्ठते बुद्धिरिति ? नात एवानवस्थानात—न हि बुद्धाववस्थितायां स्मृतिः सम्भवति—स्मृतिर्नाम प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तत्पूर्वको विषयप्रतिसन्धिः, यथेदमद्राक्षमिति, एतच्च न प्रत्यक्षबुद्धाववस्थितायां युक्तमिति । अन्यतश्च तद्भावात् स्मृतिरलिङ्गमिति— येयं स्मृतिर्बुद्ध्यवस्थानलिङ्गत्वेनाभ्युपगम्यते, नेयं लिङ्गमन्यतस्तद्भावात्—अवतिष्ठते हि बुद्धिजः संस्कार इति ततः प्रणिधानादिनिमित्तापेक्षात् स्मृतिरिति ।

ज्ञान के अवस्थित रहने में स्मृति भी बोधक,(लिङ्ग) नहीं ज्ञान से उत्पन्न संस्कार के स्मृति का हेतु होने से—जो मानना है कि ज्ञान स्थित रहता है, क्योंकि ज्ञान के विषय में स्मृति देखी जाती है, ज्ञान (बुद्धि) के अनित्य होने पर कारण के अभाव से वह नही होगी, वह बोधक (लिङ्ग) नहीं ? वस्तुतः ज्ञान से उत्पन्न संस्कार जो अन्य गुण है वह स्मृति का हेतु है, ज्ञान नही ।

(शङ्का) यदि स्मृति होने क कारण ज्ञान ठहरता है–यदि बुद्धि (ज्ञान) नष्ट होने वाली होती तो स्मृति न होती । बुद्धि (ज्ञान) का भेद होने पर तो हम स्मृति नही देखते, जैसे दूसरे व्यक्ति के ज्ञानों में स्मृति नहीं होती और स्मृति होती है अतः बुद्धि (ज्ञान) ठहरती है ? (समाधान) नहीं, इससे ज्ञान की स्थिरता नही होती । वस्तुतः बुद्धि (ज्ञान) के स्थित रहने पर स्मृति होना (ही) सम्भव नहीं । स्मृति का अभिप्राय है–प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट हो जाने पर तत्पूर्वक विषय का प्रतिसन्धान, जैसे यह मैने देखा था, और यह प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थित रहने पर युक्त नही अन्य से स्मृति के होने के कारण भी स्मृति बोधक (लिङ्ग) नही—जो वह स्मृति बुद्धि (ज्ञान) की स्थिरता के लिङ्ग रूप मे स्वीकारी जाती है, यह लिङ्ग नही, अन्य से उस (स्मृति) के होने के कारण—वस्तुतः बुद्धि से उत्पन्न सस्कार ठहरता है, उससे प्रणिधान (एकाग्रता) आदि निमित्तों की अपेक्षा से स्मृति होती है ।

संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिलिङ्गत्वात् —ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार ही । स्मृति का है इससे ज्ञान (बुद्धि) का स्मृति होने तक अवस्थान नही होता ।

अन्यतश्च तद्भावात—यहाँ संस्कार ही स्मृति का हेतु है । इससे बुद्धि (ज्ञान) का स्मृति होने तक अवस्थान सिद्ध नही होता यह वार्तिककार ने समर्थित किया है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत् ? बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः—यावदव तिष्ठते बुद्धिस्तावदसौ बोद्धव्यार्थः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षे च स्मृतिरनुपपन्नेति। ३।२।४२।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युतसम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ३।२।४३।।

यद्युत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः, प्राप्तमव्यक्तं बोद्धव्यस्य ग्रहणम्, यथा विद्युत्सम्पाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानाद् अव्यक्तं रूपग्रहणमिति। व्यक्तं तु द्रव्याणां ग्रहणम्। तस्मादयुक्तमेतद्' इति। ३।२।४३।।

न्यायवार्त्तिकम्

हेत्वभाव इति चेत्—अथ मन्यसे संस्कारात् स्मृतिर्न बुद्ध्यनवस्थानात्' इत्यत्र को हेतुः ? स्मृतिरेव—यद्यवतिष्ठते बुद्धिः स्मृतिर्न स्यादिति। ३।२।४२।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत्—यदि अनवस्थायिनी बुद्धिः, अव्यक्तं व्यक्तस्य ग्रहणं प्राप्नोति; यथा विद्युत्प्रकाशितानामव्यक्तग्रहणमिति। ३।२।४३।।

यदि हेतु के अभाव से यह अयुक्त है तो ज्ञान (बुद्धि) के स्थित रहने के कारण प्रत्यक्ष ही होगा तथा स्मृति का अभाव होगा। जब तक ज्ञान (बुद्धि) स्थित रहेगी, तब तक जानने योग्य पदार्थ प्रत्यक्ष ही होगा और प्रत्यक्ष में स्मृति नहीं बनती। (आक्षेप) (ज्ञान) के अनवस्थायी होने से अस्पष्ट (अव्यक्त) ग्रहण होगा।३।२।४४।।

बिजली के चमकने पर रूप के अव्यक्त ग्रहण के समान। ३।२।४३।।

यदि ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला है तो जानने योग्य (अर्थ) का ग्रहण अव्यक्त होगा, यह प्राप्त होता है; जैसे बिजली के चमकने पर विद्युत् के प्रकाश के स्थित न रहने से रूप का ग्रहण अव्यक्त होता है; किन्तु द्रव्यों का ग्रहण व्यक्त होता है, अतः यह (ज्ञान अनवस्थित है) अयुक्त है। ३।२।४३।।

(शङ्का) यदि हेतु का अभाव है—यही मानते हो कि स्मृति संस्कार से होती है बुद्धि (ज्ञान) के अवस्थित रहने से नहीं, इस विषय में क्या हेतु है ? (समाधान) स्मृति ही (हेतु है)—यदि ज्ञान (बुद्धि) अवस्थित रहता है तो स्मृति न होगी। ३।२।४२।।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युतसम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत्' (यह विपक्ष का सूत्र है) यदि ज्ञान (बुद्धि) अनवस्थित है तो स्पष्ट (व्यक्त) वस्तु का अव्यक्त ज्ञान प्राप्त होता है; जैसे (बिजली के चमकने से) बिजली से प्रकाशित (वस्तुओं) का अव्यक्त ग्रहण होता है। ३।२।४३।।

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः—यदि स्मृति होने तक ज्ञान स्थिर रहता है तो स्मृति ही नहीं होगी। वह तो ज्ञान ही होगा। इसे ही वार्तिककार ने हेत्वभाव इति चेत् में समझाया है।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्—यह शङ्का है इसका समाधान अग्रिम सूत्र में किया गया है। भाष्यकार ने इसका तात्पर्य समझते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार बिजली की चमक से प्रकाशित अर्थों का अव्यक्त ग्रहण होता है उसीप्रकार ज्ञान से प्रकाशित अर्थों का अस्पष्ट ग्रहण होगा।

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा । ३।२।४४।।

उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति प्रतिषेद्धव्यम् । तदेवाभ्यनुज्ञायते 'विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवद्' इति । यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति ।

ग्रहणे हेतुविकल्पाद्ग्रहणविकल्पो न बुद्धिविकल्पात्—यद् इदं क्वचिदव्यक्तं क्वचिद्व्यक्तं ग्रहणमयं विकल्पो ग्रहणहेतु विकल्पात्—यत्रानवस्थितो ग्रहणहेतुः, तत्राव्यक्तं ग्रहणम्, यत्रावस्थितस्तत्र व्यक्तम्, न तु बुद्धेरवस्थानानवस्थानाभ्यामिति ।

न्यायवार्तिकम्

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा न, विरोधात्—अव्यक्तग्रहणादवस्थायिनी बुद्धिरिति ब्रुवाणोऽनवस्थायिनी बुद्धिरिति यत्प्रतिषेध्यं[1] तदभ्यनजानाति, तस्य चाभ्यनुज्ञानाद् यदुक्तं कालान्तरावस्थायिनी बुद्धिरिति तद् बाधित भवति ।

अव्यक्तग्रहणस्य चान्यनिमित्तत्वात्—नाव्यक्तग्रहणात् बुद्ध्यनवस्थानं सिद्ध्यति

हेतु के ग्रहण से प्रतिषेधव्य की स्वीकृति करली जाती है । ३।२।४४।।

उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाली बुद्धि (ज्ञान) है, यह प्रतिषेध करना (प्रतिषेधव्य) है । वही स्वीकार लिया जाता है, 'बिजली की चमक होने पर रूप के अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण के समान । जहाँ अस्पष्ट ग्रहण होता है वहाँ उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली बुद्धि होती है ।

ग्रहण में हेतु के भेद से ग्रहण का भेद होता है, ज्ञान के भेद से नहीं—जहाँ कहीं वह अस्पष्ट अथवा कहीं स्पष्ट ग्रहण होता है यह भेद ग्रहण के हेतु के भेद से होता है । जहाँ ग्रहण का निमित्त अनवस्थित है वहाँ अस्पष्ट ग्रहण होता है, जहाँ अवस्थित है, वहाँ स्पष्ट (व्यक्त) । बुद्धि (ज्ञान) के अवस्थित होने अथवा न होने से नही होता ।

'हेतूपादानात् प्रतिषेधव्याभ्यनुज्ञा' (यह सूत्र है) । (परिहार) नहीं, विरोध होने से—अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण से बुद्धि (ज्ञान) स्थायी है, यह कहने वाला 'ज्ञान अनवस्थित है' यह जो प्रतिषेध का विषय है (प्रतिषेध्य) उसे स्वीकार लेता है, और उसके स्वीकार ने से जो कहा है कि 'अन्य काल में स्थिर है ज्ञान' वह बाधित हो जाता है ।

और अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण का अन्य निमित्त होने से अव्यक्त ग्रहण से बुद्धि की अनवस्थिति सिद्ध नहीं होती ।

प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा—यह आक्षेप का परिहार है । यहाँ प्रतिषेधव्य है ज्ञान का उत्पन्न होकर नष्ट होना (उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः) उसकी ही अस्वीकृति की है ।

न विरोधात्—ज्ञानमस्त्र के स्थायी होने का विरोध किया गया है । अब यहाँ विद्युत्सम्पाते से घटादि बुद्धि के अनवस्थायी कहना अपनी बात में विरोध है ।

अव्यक्तग्रहणस्यचान्यनिमित्तत्वात्—इससे अव्यक्तग्रहण की अन्यथासम्प्राप्ता दिखाई गई है । टी० ५७८ ।

---

1. प्रतिषेधव्यम्, पा० ।

न्यायभाष्यम्

कस्मात् ? अर्थग्रहणं हि बुद्धिः—यत् तद् अर्थग्रहणमव्यक्तं व्यक्तं वा बुद्धि सेति। विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहणमात्रमव्यक्तग्रहणम् । तत्र विषयान्तरे बुद्ध्य् न्तरानुत्पत्तिर्निमित्ताभावात् । यत्र समानधर्मयुक्तश्च धर्मी गृह्यते, विशेषधर्मयुक्तश्च, तद्व्यक्तं ग्रहणम् । यत्र तु विशेषेऽगृह्यमाणे सामान्य-ग्रहणमात्रंतदव्यक्तं ग्रहणम् । समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषया-न्तरम् । तत्र यद् ग्रहणं न भवति तद्ग्रहणनिमित्ताभावात्, न बुद्धेरनव-स्थानाद् इति ।

न्यायवार्तिकम्

यत्तद् व्यक्तमव्यक्तं च ग्रहणं न बुद्धेरवस्थानानवस्थानाभ्यामपि तु ग्रहणहेतोर्भेदाद्[1] इति । तदसम्भवाच्च नाव्यक्तं नाम ग्रहणमस्ति । कस्मात ? अर्थग्रहणमात्रत्वाद् बुद्धेः—अर्थग्रहणमात्रं बुद्धिः, तच्चार्थग्रहणं सामान्यतो विशेषतश्च ।

क्यों ? वस्तुतः (बुद्धिः) अर्थ (वस्तु) का ग्रहण है—जो वह अर्थ ग्रहण अस्पष्ट है अथवा स्पष्ट वह ज्ञान है ? और विशेष का ग्रहण न होने पर केवल सामान्य का ग्रहण अव्यक्त ग्रहण है । वहाँ अन्य विषय में दूसरा ज्ञान निमित्त के अभाव से उत्पन्न नहीं होता । जहाँ समानधर्मयुक्त धर्मी का ग्रहण होता है और विशेष धर्म युक्त का भी वह पस्ट ग्रहण है किन्तु जहां विशेष का ग्रहण न होने पर केवल सामान्य का ग्रहण होता है, वह अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण है । समान धर्म के सम्बन्ध से (योगात्) विशिष्ट धर्म का सम्बन्ध अन्य विषय है, वहाँ जो ग्रहण नहीं होता वह ग्रहण के निमित्त के अभाव से (नहीं होता), ज्ञान (बुद्धि) की अनवस्थिति से नहीं ।

जो वह व्यक्त अथवा अव्यक्त ग्रहण है वह ज्ञान के स्थित होने अथवा न होने से नहीं होता अपि तु ग्रहण के हेतु के भेद से (होता है) । और उसके असम्भव होने से भी अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण नहीं है । क्यों ? ज्ञान के केवल अर्थ का ग्रहण होने से—केवल अर्थ का ग्रहण ज्ञान है, वह अर्थ का ग्रहण सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से (होता है) ।

विषयान्तरम्—अन्य विषय, सामान्य धर्म के सम्बन्ध से विशेष धर्म का सम्बन्ध भिन्न है ।

यत्तद्व्यक्तमव्यक्तं च ग्रहणम्—व्यक्त तथा अव्यक्त ग्रहण का वास्तविक निमित्तबतलाते हैं ।

ग्रहणहेतोर्भेदात्—टीका में 'धर्मिग्रहणहेतोर्भेदात्' पाठ है । जब धर्मी के सामान्य मात्र का ग्रहण होता है, विशेष का नहीं तब ग्रहणहेतु सामान्य है अन्यथा विशेष, टी० ५७८ ।

तदसम्भवात्—वह असम्भव है, सामान्य ग्रहण सामान्य के प्रति व्यक्त है और विशेषग्रहणं विशेष के प्रति, अतः सभी ग्रहणव्यक्त होता है, टी० ५७८ ।

[1] मत्र-प० ।

न्यायभाष्यम्

यथाविषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव, प्रत्यर्थनियतत्वाच्च बुद्धीनाम्— सामान्यविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तम्, विशेषविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तम्। प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः। तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं क्वविषये बुद्ध्यनवस्थाकारितं स्याद् इति।

न्यायवार्त्तिकम्

यच्च सामान्यविषयं तत्सामान्यं प्रतिव्यक्तम्। एवं विशेषविषयम्, एवं तद्वद्विषयमिति। तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं कथमेकस्मिन्[1] विषयेबुद्ध्यनवस्थाकारितं स्यात्। लोकविरोध इति चेत्—यदि तर्हि व्यक्ताव्यक्तग्रहणं न स्यातां योऽयं व्यवहारो लोकेषु व्यक्तं[2] पश्यामीति स कथम् ?

विषय के अनुसार सभी ग्रहण व्यक्त (स्पष्ट) है, ज्ञानों के प्रत्येक अर्थ (वस्तु) में नियत होने से भी—सामान्य विषयक ज्ञान अपने विषय के प्रतिव्यक्त (स्पष्ट) है और विशेषविषयक ज्ञान (ग्रहणम्) अपने विषय के प्रति व्यक्त है। वस्तुतः ज्ञान प्रत्येक अर्थ में नियत है। जो यह अव्यक्त-ग्रहण कहा है (देशितम्) वह ज्ञान की अनवस्था द्वारा किया गया कहाँ होगा।

और जो सामान्यविषय (का ग्रहण है) वह सामान्य के प्रति व्यक्त है, इसीप्रकार विशेषविषय का ग्रहण, और इसीप्रकार सामान्य विशेष विषयक ग्रहण भी। वह यह अव्यक्त ग्रहण जो कहा गया है कैसे एक विषय में ज्ञान के अनवस्थित होने से होगा। यदि (कहो) लोक का विरोध होता है—यदि तो व्यक्त और अव्यक्त ग्रहण नहीं होते तो जो यह लोक में व्यवहार होता है कि व्यक्त देखता हूँ,

---

यथाविषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव—यह पूर्वोक्त का उपसंहार किया गया है।

तद्वद्विषयम्—न्या० वा० के अनुसार तीन प्रकार का ग्रहण होता है सामान्यविषयक, विशेषविषयक तथा तद्वद्विषयक (अर्थात् सामान्यविशेषवद् विषयक) यह 'गो है' यह सामान्यविशेषवद् विषयक ज्ञान है यहाँ गोत्व सामान्य है, गो विशेष्य है, और 'यह गो' सामान्यविशेषाद् है।

लोकविरोध इति चेत्—यह शङ्का है, इसका समाधान है, नान्यथेति' (५७७), धर्मिणमनाश्रित्येत्यविद्वान् शङ्कते, धर्मिग्रहणमाश्रित्य निराकरोति, टी० ५७८। शङ्का का आशय यह है कि यदि व्यक्त एवं अव्यक्त ग्रहण नहीं होते तो लोक में जो कहा जाता है कि व्यक्त देखता हूं, यह कैसे ? अतः लोक का विरोध होता है।

इस शंका में दो दोष दिखलाये गये है, एक अग्रिम दोष जो पृ० १११६ पर है और एक 'अन्यथा' इत्यादि से।

---

१. कतस्मिन्, पा०। २. लोकेन व्यक्तम्, पा०।

न्यायभाष्यम्

धर्मिणस्तु धर्मभेदे बुद्धिनानात्वस्य भावाभावाभ्यां तदुपपत्तिः— धर्मिणः खल्वर्थस्य समानाश्च धर्मा विशिष्टाश्च । तेषु प्रत्यर्थनियता नानाबुद्धयः । ता उभय्यो यदि धर्मिणि वर्तन्ते तदा व्यक्तं ग्रहणं धर्मिणमभिप्रेत्य । यदा तु सामान्यग्रहणमात्रं तदाऽव्यक्तं ग्रहणमिति । एवं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोर्ग्रहणयोरुपपत्तिरिति । ३।२।४४॥

न्यायवार्त्तिकम्

न, अन्यथा तदुपपत्तेः—नायं सामान्यविशेषतद्वत्सु व्यक्ताव्यक्तग्रहणभेदोऽपि तु धर्मिणः सामान्यतोऽधिगतस्य विशेषत उपलिप्साद्वारकमव्यक्तग्रहणमितिः अनेकान्ताच्च[1]—नायमेकान्तोऽस्ति । यद्विषयग्रहणहेतोर्ग्राह्यस्य चानवस्थानं तत्राव्यक्तग्रहणम् । ३।२।४४॥

धर्मी का भिन्न-भिन्न धर्म होने पर ज्ञान की भिन्नता होने अथवा न होने से वह बन जाता है—धर्मी जो अर्थ (पदार्थ) है उसके समान धर्म होते है और विशेष भी। उनमें प्रत्येक अर्थ में भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं। वे दोनों ही यदि धर्मी में होती है तब व्यक्त (स्पष्ट) ग्रहण कहा जाता है, यह धर्मी के अभिप्राय से (होता है); किन्तु जब केवल सामान्य का ग्रहण होता है तब अव्यक्त ग्रहण (कहा जाता है)। इस प्रकार धर्मी के अभिप्राय से व्यक्त तथा अव्यक्त ग्रहण बन जाता हैं। ३।२।४४॥

वह कैसे ? नहीं इसके अन्य प्रकार से बन जाने से—यह सामान्य, विशेष तथा सामान्य विशेष वालों में (तद्वत्सु) व्यक्त एवं अव्यक्त ग्रहण का भेद नहीं अपितु (क) सामान्य रूप से जाने गये धर्मी के विशेष रूप से उपलब्धि की इच्छा के द्वारा अव्यक्त ग्रहण कहा जाता है (ख) अनेकान्त (सव्यभिचार) होने से भी—यह एकान्त नहीं है। जो विषय-ग्रहण के हेतु का और ग्राह्य (विषय) का अवस्थान होता है उसमें अव्यक्तग्रहण होता है। ३।२।४४।।

धर्मिणस्तु—किसी धर्मी के सामान्य, विशेष तथा तद्वद्विशेष (सामान्यविशेष वाले के विशेष) धर्म होते हैं। यहाँ भाष्यकार ने सामान्य तथा विशेष धर्मों का कथन किया था, वार्त्तिककार ने 'तद्वद्' का भी कथन किया है (ऊपर वार्त्तिक)।

अन्यथा तदुपपत्तेः—यह 'धर्मिणस्तु' आदि भाष्य की व्याख्या।

अनेकान्ताच्च—टी० (५७८ में) 'अनैकान्तिकत्वाच्च' यह पाठ है। वहाँ इसी के अनुसार व्याख्या की गई है। यह पूर्वपक्षी की शंका में दूसरा दोष दिखलाया गया है, दोषान्तरमाह, अनैकान्तिकत्वाच्चेति, टी० ५७८।

तत्राव्यक्तग्रहणम्—अव्यक्तग्रहण कहाँ होता है, यह इस वार्त्तिक में बतलाया गया है। इसकी टीका समझ से परे हैं, ज्ञान के या ज्ञेय के अनवस्थायी होने से अव्यक्तग्रहण होता है। टी० ५७८।

---

१. अनैकान्तिकत्वाच्च, तात्पर्यटीकायां पाठः।

न चेदमव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बोद्धव्यस्य वानवस्थायित्वादुपपद्यत इति। इदं हि,

[१]न प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् । ३।२।४५॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम् । कथम् ? प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्—प्रदीपार्चिषां सन्तत्यावर्तमानानां ग्रहणानवस्थानं ग्राह्यानवस्थानं च, प्रत्यर्थनियतत्वाद् बुद्धीनाम्, यावन्ति प्रदीपार्चींषि तावत्यो बुद्धय इति। दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणम्' इति। ३।२।४५॥

न्यायवार्त्तिकम्

न प्रदीपार्चिषः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम् । अनवस्थायित्वेऽपि यथा प्रदीपार्चिषां सन्तत्या वर्तमानानां ग्राह्यानवस्थानं ग्रहणानवस्थानं च भवति, भवति च व्यक्तं ग्रहणम् 'अर्चींषीति' यथार्चिःषु, तथान्यत्रापि' इति व्यवस्थितं क्षणिका बुद्धिरिति ३।२।४५॥'

यदि यह अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण ज्ञान अथवा ज्ञेय के अनवस्थायी होने से नहीं बनता। तो वस्तुतः यह,

नहीं, प्रदीप की किरण सन्तति के अभिव्यक्त ग्रहण के समान उनका ग्रहण होता है। ३।२।४५॥

ज्ञान (बुद्धि) के अनवस्थायी होने पर भी उन द्रव्यों का ग्रहण व्यक्त जानना चाहिये। कैसे ? प्रदीप की किरण—सन्तति के अभिव्यक्त ग्रहण के समान प्रदीप की करणें जो सन्तति में वर्तमान होने वाली हैं वहां ग्रहण (ज्ञान) की अनवस्थिति होती है और ग्राह्य की भी, क्योंकि ज्ञान प्रत्येक वस्तु (अर्थ) में नियत होते हैं, जितनी प्रदीप की किरणें होती है उतने ही ज्ञान होते हैं और यहां प्रदीप की किरणों का व्यक्त ग्रहण देखा जाता है। ३।२।४५॥

'न प्रदीपर्चिषः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम्' (यह सूत्र है) । अस्थिर होने पर भी जैसे प्रदीप की किरणों का जो सन्तति मे वर्तमान होती है । (जहां) ग्राह्य (विषय) का अनवस्थान तथा ग्रहण (ज्ञान) का (भी) अनवस्थान होता है (वहां) यक्त ग्रहण होता है कि 'ये किरणें हैं।' जैसे किरणों में उसी प्रकार अन्य स्थानों में भी, इस प्रकार सिद्ध हो गया कि 'ज्ञान (बुद्धि) क्षणिक है। ३।२।४५॥

न चेदमव्यक्तं ग्रहणम्—दूसरे परिहार को भी प्रौढिवादमात्र समझ कर फिर अन्य प्रकार से परिहार करते हैं, न चेदमिति।

न प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्त॰—विश्व॰ वृत्ति में 'प्रदीपार्चिः, सन्तन्त्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम्' यह सूत्र है, वहां 'न' नहीं।

इदं हि—यह भाष्य है, यह दूसरे के आक्षेप का परिहार है। 'इदम्' परकृत आक्षेप का परामर्श करता है।

व्यवस्थितं क्षणिका बुद्धिः— ज्ञान क्षणिक हैं, इसका अभिप्राय बौद्ध की क्षणिकता से भिन्न है न्या॰—वै॰ मत में जो पदार्थ क्षणिक है वे कम से कम तीन क्षण रहते हैं, प्रथम क्षण में उत्पन्न होते है दूसरे क्षण में अपना कार्य करते है तथा तीसरे क्षण में नष्ट होते हैं, बौद्ध मत में उत्पन्नः नष्टश्चेत्यकः कालः' यह क्षणिकता है।

---

१. न, नास्ति, पा॰ 'दुरयनुगतवात्स्यायन भाष्य सहित न्यायदर्शने।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

५. (बुद्धेः शरीरगुणत्वस्यपरीक्षा)

चेतना शरीरगुणः, सतिशरीरे भावादसति चाभावादिति,

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः । ३।२।४६।।

सांशयिकः सति भावः । स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते, परगुणश्चोष्णता । तेनायं संशयः 'किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यतेऽथवाद्रव्यान्तरगुणः' इति । ३।२।४६।।

न्यायवार्तिकम्

शरीरगुणश्चेतना सति शरीरे भावादसति चाभावादिति—यच्च यस्मिन् सति भवति असति च न भवति, तस्य त दिति विज्ञायते था रूपादय इति । न, सति भावात् शरीरगुणत्वं चेतनायाः सिध्यति सति भावस्यान्यगुणत्वेऽपि दर्शनात्—न तावत् संयोग विभागसंस्काराः कर्मगुणाः; अथ च सति कर्मणि भावोऽसति चाभाव इति । संयोग-विभागशब्देषु च सत्सु शब्दो भवति अथ च न तद्गुण इति । तद्गुणत्वं च तत्रोपल-ब्ध्या सिध्यति—यद्यत्र वर्तमानमुपलभ्यते रूपादिकं तत्तस्य गुण इति ।

---

५. बुद्धि (ज्ञान) शरीर का गुण नहीं ।)

ज्ञान (बुद्धि, चेतना) शरीर का गुण है, शरीर के होने पर होने से, शरीर के न होने पर न होने से (यह संशय है) ।

द्रव्य में अपने गुण तथा दूसरे के गुण उपलब्ध होने से संशय है ।

सन्देहास्पद है, होने पर होना । जलों में अपना गुण द्रवत्व उपलब्ध होता है और दूसरे का गुण उष्णता भी । उससे यह संशय है 'क्या शरीर का गुण चेतना (बुद्धि, ज्ञान) शरीर में गृहीत होता है, अथवा दूसरे द्रव्य का गुण । ३।२।४६।।

(शङ्का) चेतना शरीर का गुण है, शरीर के होने पर होने से, न होने पर न होने से—और जो जिसके होने पर होता है (अन्वय) तथा न होने पर नहीं होता (व्यतिरेक), उसका ही वह होता है, ऐसा जाना जाता है, जैसे रूप आदि हैं । (समाधान) नहीं, होने पर होने से चेतना का शरीर का गुण होना सिद्ध नहीं होता, होने पर होना अन्य का गुण होने पर भी देखा जाने से— प्रथमतः संयोग विभाग तथा संस्कार कर्म के गुण नहीं, किन्तु (अथ च) कर्म के होने पर इनका होना न होने पर न होना (देखा जाता है) । संयोग विभाग तथा शब्द के होने पर शब्द होता है किन्तु वह इनका गुण नहीं । उसका गुण होना उसमें उपलब्ध होने से सिद्ध होता है—जो जहाँ विद्यमान उपलब्ध होता है रूप आदि वह उसका गुण हैं —

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः— ऊपर भूतेन्द्रिय मन का चैतन्य साक्षात् निराकृत किया [illegible] जो असाक्षात् रूप से शरीर के विषय में भी समझा जा सकता है । संप्रति साक्षात् रूप से शरीर के चैतन्य का निराकरण करते है, टी० ५७८ ।

तात्पर्य के भेद से, यह पुनरुक्ति नहीं, भाष्यकार तथा वार्तिककार ने प्रकरण के अन्त में 'इस पुनरुक्ति का निराकरण किया है, टी० ५७८ ।

तद्गुणत्वं च तत्रोपलब्ध्या सिध्यति—,तद्गुणत्वं तत्रोपलब्ध्या सिध्यति' टीका में यह पाठ (यहाँ 'च' नहीं है), अबाधितयेति शेषः टी० ५७८ । यदि बाध न हो तब वह उसका गुण माना जा सकता है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न शरीरगुणश्चेतना । कस्मात् ?

यावच्छरीरभावित्वाद् रूपादीनाम् । ३।२।४७।।

न रूपादिहीनं शरीरं गृह्यते । चेतनाहीनं तु गृह्यते, यथोष्णताहीना आपः । तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ।

न्यायवार्त्तिकम्

अथ सति भावादित्यनेन शरीरे चेतनोपलब्धिं ब्रूयात् ? तस्याप्यसिद्धता दोषः—न हि शरीरे चेतनोपलभ्यते, चेतनामात्रं तूपलभ्यते, तच्च सन्दिग्धं किं शरीरे 'उतान्यस्मिन्' इति । उपेत्य शरीरे चेतनोपलब्धिं किं शरीरगुणश्चेतना, उत द्रव्यान्तरगुण इति । 'द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः' इत्युक्तार्थं सूत्रम् । ३।२।४६।।

न शरीरगुणश्चेतना 'यावद् द्रव्यभावित्वाद्' रूपादीनाम्' । दृष्टान्तसूत्रं वैधर्म्येण, ये शरीरगुणा भवन्ति ते यावच्छरीरं वर्तन्ते, यथा रूपादयः । न तु यावच्छरीर चेतनः वर्तते, तस्मान्न तद्गुण इति । साधर्म्येण वा न तद् गुण इति यथाप्सूष्णतेति ।

चेतना शरीर का गुण नही, क्यों ?

रूप आदि (गुणों) के शरीर के रहने पर्यन्त विद्यमान रहने से । ३।२।४७

रूपादि से रहित शरीर नहीं गृहीत होता किन्तु चेतना रहित से गृहीत होता है । जैसे उष्णता रहित जल (गृहीत होते है) इसलिये शरीर का गुण चेतना नहीं । (शङ्का) यदि होने पर होने से' इससे शरीर में चेतना की उपलब्धि कही जांये ? (समाधान) तो उसमें भी असिद्धता दोष है—वस्तुतः शरीर में चेतना नहीं उपलब्ध होती केवल चेतना उपलब्ध होती है और वह सन्देहास्पद है क्या (वह) शरीर में है अथवा अन्य किसी में ? शरीर में चेतना की उपलब्धि स्वीकार करके क्या चेतना शरीर का गुण है अथवा अन्य द्रव्य का गुण है (यह सन्देह होता है) । इस अर्थ वाला सूत्र है 'द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः । ३।२।४६।।

शरीर का गुण चेतना नही 'यावद् द्रव्यभावित्वाद् रूपादीनाम्' यह वैधर्म्य से दृष्टान्त सूत्र है । जो शरीर के गुण है, वे जब तक शरीर रहता है तब तक रहते हैं जैसे रूपादि । किन्तु चेतना (तो) शरीर पर्यन्त नहीं रहती, अतः यह (चेतना) उस (शरीर) का गुण नहीं । अथवा साधर्म्य से उस (शरीर) का गुण चेतना नहीं जैसे जल में आग की उष्णता (होती है) ।

चेतनामात्रम्—केवल चेतना का ग्रहण होता है, उसमें भी यह सन्देह होता है कि चेतना शरीर का गुण है या किसी अन्य द्रव्य का यह आगे दिखलाया गया है ।

इत्युक्तार्थं सूत्रम्—यह कहे गये अर्थ वाला सूत्र है ।

यावच्छरीरभावित्वाद रूपादीनाम्—वार्तिक में 'यावद् द्रव्य भावित्वाद् रूपादीनाम्' यह सूत्र है (द्र० ऊपर वार्त्तिक)

दृष्टान्तसूत्रम्—यह वैधर्म्य से दृष्टान्त सूत्र है। रूपादि यह वैधर्म्य से दृष्टान्त है ।

---

१. यावच्छरीरभावित्वाद्, पा० । २. यथाप्स्वग्न्युष्णता, पा० ।

न्यायभाष्यम्

संस्कारवद् इति चेत् ? न कारणानुच्छेदात्—यथाविधे द्रव्ये संस्कारः तथाविध एवोपरमो न। तत्र कारणोच्छेदादत्यन्तं संस्कारानुपपत्तिर्भवति। यथाविधे शरीरे चेतना गृह्यते तथाविध एवात्यन्तोपरमश्चेतनाया गृह्यते। तस्मात् संस्कारवद् इत्यसमः समाधिः।

न्यायवार्त्तिकम्

संस्कारवद् इति चेत्—अथ मन्यसे यथा संस्कारः शरीरगुणो न च यावच्छरीरं वर्त्तते, तथा चेतनापीति ? न कारणानुच्छेदात्—संस्कारस्य न शरीरमात्रं कारण तस्य नोदनादिकारणसन्निधाने तदभावे भावाभावौ युक्तौ कारणसन्निधानवतोऽयुक्तमेतद् इति। चेतनानिमित्तस्याप्यसन्निधानमिति चेत्—अथ मन्यसे यथैव संस्कारस्य कारणमसन्निहितमेवं चेतनाकारणमपीति ? तदयुक्तम् विकल्पानुपपत्तेः—यच्छरीरे चेतनोत्पत्तिकारणं तत्किं शरीरस्थमुत द्रव्यान्तरस्थम्।

(शङ्का) यदि संस्कार के समान होगा ? (समाधान) नहीं, कारण का नाश न होने से जिसप्रकार के द्रव्य में संस्कार होता है उसीप्रकार (द्रव्य में) ही उसकी समाप्ति नहीं होती, यहां कारण के नाश से अत्यन्त संस्कार नहीं रहता किन्तु जिस प्रकार के शरीर में चेतना का ग्रहण होता है, उसीप्रकार के (शरीर) में चेतना का अत्यन्त समाप्ति गृहीत होती है। इसलिये संस्कार के समान यह विषय समाधाता है (असमः समाधिः)।

(शङ्का) यदि संस्कार के समान–यदि मानते हो कि जिसप्रकार संस्कार शरीर का गुण है किन्तु शरीर पर्यन्त नहीं रहता उसी प्रकार चेतना भी (है)। (समाधान) नहीं; कारण के नष्ट न होने से—संस्कार का केवल शरीर ही कारण नहीं उसके नोदन आदि कारण की उपस्थिति होने पर तथा उसका अभाव होने पर भाव एवं अभाव होना युक्त है, किन्तु कारण के उपस्थित होने वाले का यह (एतद्) युक्त नहीं (शङ्का) यदि चेतना के निमित्त के उपस्थित न होने से—यदि मानते हो कि जिसप्रकार संस्कार का कारण (नोदन आदि) उपस्थित नहीं होता, इसीप्रकार चेतना का कारण भी ? (समाधान) वह ठीक नहीं, विकल्प न बन सकने से—जो शरीर में चेतना की उत्पत्ति का कारण है वह क्या शरीर में स्थित है अथवा अन्य द्रव्य में स्थित है ?

कारणानुच्छेदात्—चेतना का कारण है शरीर (पूर्वपक्षी के मत से), उसका उच्छेद (नाश) नहीं होता किन्तु संस्कार का उच्छेद हो जाता है, टी० ५७८।

नोदनादिकारणसन्निधाने—संस्कार के कारण नोदना आदि उपस्थित हैं, अतः संस्कार के सभी कारणों का उच्छेद नहीं होता।

चेतनानिमित्तस्याप्यसन्निधानमिति—यह शंका है, इसका समाधान 'तदयुक्तम्' से किया गया है।

विकल्पानुपपत्तेः—ये विकल्प आगे (वार्त्तिक में) दिखलाये गये हैं।

न्यायभाष्यम्

अथापि शरीरस्थ चेतनोत्पत्तिकारणं स्याद् द्रव्यान्तरस्थं वा उभयस्थं वा तन्न नयमहेत्वभावात्---शरीरस्थेन कदाचिच्चेतनोत्पद्यते कदाचिन्नेति नयमे हेतुर्नास्तीति । द्रव्यान्तरस्थेन च शरीर एव चेतनोत्पद्यते न लोष्टादिष्विन्यत्र न नियमे हेतुरस्तीति । उभयस्थस्य निमित्तत्वे शरीर समान जातीयद्रव्ये चेतना नोत्पद्यते शरीर एव इति नियमे हेतुर्नास्तीति । ३।२।४७।

न्यायवार्त्तिकम्

शरीरस्थमपि किं यावच्छरीर तावत् नैमित्तिकमिति ? यदि यावच्छरीरभावि. न कदाचिच्चेतनाहीनं शरीरमुपलभ्येत, निमित्तस्य सन्निहितत्वात् । अथ नैमित्तिकम्, यच्छरीरे चेतनोत्पत्तेर्निमित्तस्य कारणं तत्रापि[1] चेतनावत्प्रसङ्गः, अथ द्रव्यान्तरस्थं द्रव्यान्तरवृत्तिनिमित्तं शरीरे चेतनां करोति, न द्रव्यान्तरेष्विलान्स्तरावस्थापि क्षणप्रध्वंसि वेति[2] चेतनावत् प्रसङ्गः ।३।२।४७॥

(शङ्का) यदि शरीर में स्थित चेतना की उत्पत्ति का कारण है अथवा अन्य द्रव्य में स्थित या दोनों में स्थित ? (समाधान) वह ठीक नहीं, नियम का हेतु न होने से—शरीर में स्थित (चेतना के हेतु) से कभी चेतना उत्पन्न होती है, कभी नहीं, इस नियम में हेतु नहीं है । और अन्य द्रव्य में स्थित में शरीर में ही चेतना उत्पन्न होती है, लोष्ट आदि में नहीं, इस नियम में हेतु नहीं है दोनों में स्थित होने वाला निमित्त होने पर शरीर के समान जातीय द्रव्य में चेतना नहीं उत्पन्न होती । शरीर में ही उत्पन्न होती है, इस नियम में निमित्त नहीं है । ३।२।४७॥

× × ×

शरीर में स्थित होता हुआ भी क्या जब तक शरीर रहता है, तब तक रहता है । (यावच्छारिभावि अथवा किसी निमित्त से होता है ? यदि यावच्छरीरभावी है तो कभी भी चेतना रहित शरीर नहीं उपलब्ध होगा ? निमित्त के निमित के उपस्थित होने से । यदि वह निमित्त से होता है तो शरीर में चेतना की उत्पत्ति के निमित का जो कारण है वहाँ भी चेतना के समान प्रसङ्ग होता है । यदि अन्य द्रव्य में स्थित है ? तो अन्य द्रव्य में रहने वाला निमित शरीर में चेतना उत्पन्न करता है अन्य द्रव्यों में नहीं, इसमें भी नियम का हेतु कहना होगा । और अन्य द्रव्य में स्थित (यह) नित्य है अथवा अनित्य । अनित्य भी क्या अन्य के स्थित रहने वाला है अथवा क्षणध्वंसी है यह चेतना के समान प्रसङ्ग होता है । ३।२।४७॥

नियमहेत्वभावात्—यह आगे स्पष्ट किया है । [वार्तिक में 'नियमहेतुर्वक्तव्यः' यहाँ तक इसकी व्याख्या है ।

द्रव्यान्तरस्थेन च नित्यमनित्यं वा—यह 'द्रव्यान्तरस्थं' में विकल्प दिखलाया गया है ।

१. तदापि, पाठ । २. प्रतिक्षणं ध्वंसिवेति, पाठ ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथ मन्येत 'सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्टः, एवं चेतनोपरमः स्याद्' इति।

न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ३।२।४८॥

नात्यन्तं रूपोपरमो द्रव्यस्य—श्यामे रूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते। शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति। ३।२।४८॥

इतश्च,

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ३।२।४९॥

न्यायवार्त्तिकम्

यच्च मन्यते 'श्यामादिगुणं च द्रव्यं भवति, न च यावद्द्रव्यभाविनी श्यामतेति ? तच्च न, 'पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः'। नात्यन्च श्यामतोपरमे[1] रूपान्तरोत्पत्तिः, चेतनोपरमस्त्वत्यन्तम्' इति। ३।२।४८॥

इतश्च, 'प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः'। यावत्सु द्रव्येषु

यदि माना जाये कि श्यामादि गुण वाले द्रव्य के होने पर (उसमें) श्यामादि की समाप्ति देखी गई है, इसीप्रकार चेतना की समाप्ति हो जायेगी,

नहीं, पाकज अन्य गुण की उत्पत्ति होने से। ३।२।४८॥

द्रव्य का रूप अत्यन्त समाप्त नहीं होता—श्याम रूप निवृत्त होने पर पाकज अन्य गुण रक्त (लाल) उत्पन्न हो जाता है; किन्तु शरीर में चेतना मात्र की अत्यन्त समाप्ति हो जाती है। ३।२।४८॥

इसलिये भी,

पाकजों (गुणों) में प्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि हो जाने से प्रतिषेध नहीं। ३।२।४९॥

(शङ्का) जो माना जाता है कि 'द्रव्य श्यामादि गुण वाला होता है और श्यामता द्रव्य के रहने तक नहीं रहती। (समाधान) वह, न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः' श्यामता की अत्यन्त समाप्ति हो जाने पर अन्य रूप की उत्पत्ति नहीं होगी, चेतना की समाप्ति तो अत्यन्त हो जाती हैं। ३।२।४८॥

और इसलिये भी 'प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः' (यह सूत्र है) जितने

अथ मन्येत—यह पूर्वपक्ष का भाव है।

न—यहाँ 'तच्च न' यह ठीक में पाठ है।

पाकजगुणान्तररोत्पत्तेः—यह परिहार सूत्र है। वृत्तिकार ने इसकी शंका सूत्र के रूप में व्याख्या की है। परमाणु अथवा पिठर में अत्यन्त रूप का अभाव नहीं होता, टी० ५७६।

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः—इस सूत्र में पाकज रूपों में प्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि होती है अतः वैधर्म्य है, यह दिखाया गया है।

अप्रतिषेधः—चेतना का यावच्छरीरं रहने का प्रतिषेध नहीं हो सकता।

---

१. श्यामरूपोपरमे पा०।

न्याय भाष्यम्

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्विसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते, पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात् । न च शरीरं चेतना प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः सहानवस्थापि गुणान्तरं गृह्यते, येनानुमीयेत तेन चेतनस्य विरोधः । तस्माद् अप्रतिषिद्धा चेतना यावच्छरीरं वर्तेते ? न तु वर्तते । तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना' इति । ३।२।४९॥

न्यायवार्त्तिकम्

पूर्वगुणप्रतिषेधस्तावत्सु प्रतिद्वन्द्विनो गुणान्तरस्य दर्शनम् यथा श्यामनिवृत्तौ रक्तादीनामिति । न एवः शरीरे चेतनाविपरीतं गुणान्तरमुपलभ्यते, चेतनामात्रोपरमस्त्वत्यन्तम्' इति । अथ मन्यसे शरीरेप्यचेतनत्वं' नाम गुणान्तरमिति ? तन्न, स्वरूपतोऽनिर्देशात् —यत्तदचेतनत्वं नाम, किं तत् चेतनाविपरीतं धर्मभूतं वस्तु, उत चेतनाविप्रतिषेधमात्रमिति ? यदि विपरीतं चेतनावत् संवेद्यं स्यात् । अथ चेतनाविप्रतिषेधमात्रम्, तन्न गुण इति । ३।२।४९॥

जितने द्रव्यों में पूर्व गुण के प्रतिद्वन्द्वी (गुण) की सिद्धि होती है, उतनों में या पाकज गुण की उत्पत्ति देखी जाती हैं; क्योंकि पूर्वगुणों के साथ पाकजों की स्थिति नहीं गृहीत की जाती; किन्तु शरीर में चेतना का प्रतिद्वन्द्वी (गुण) सिद्ध होने पर साथ न रहने वाला अन्य गुण गृहीत नहीं होता जिससे उसके साथ चेतना के विरोध (प्रतिद्वन्द्विता) का अनुमान किया जा सके । इसप्रकार चेतना का (शरीर में) प्रतिषेध न किया जाने पर चेतना तब तक रहेगी जब तक शरीर रहता है (यावच्छरीरम्) किन्तु रहती नहीं । इसलिये शरीर का गुण चेतना नहीं । ३।२।४९॥

× × ×

द्रव्यों में पूर्वगुण का प्रतिषेध होता है उतनों में विरोधी अन्य गुण का दर्शन होता है। जैसे श्याम गुण की निवृत्ति हो जाने पर रक्त आदि का (दर्शन होता है), किन्तु शरीर में चेतना के विपरीत अन्य गुण उपलब्ध नहीं होता, चेतना मात्र की अत्यन्त समाप्ति हो जाती है । (शङ्का) यदि मानते हो शरीर में भी अचेतना नाम का अन्य गुण (उपलब्ध होता है), (समाधान) वह (ठीक) नहीं स्वरूप से निर्देश न करने के कारण—जो वह अचेतनता है, क्या वह चेतना के विपरीत कोई गुण वस्तुरूप है ? अथवा चेतना का प्रतिषेध मात्र है ? यदि विपरीत (वस्तुरूप) है जो चेतना के समान उसका संवेदन होगा । यदि चेतना का प्रतिषेध मात्र है तो वह गुण नहीं । ३।२।४९॥

तस्माद्—यह पूर्वकथन का उपसंहार किया गया है । चेतना का शरीर में प्रतिषेध नहीं ।

तस्मान्न—चेतना शरीर का गुण नहीं, इस कथन का उपसंहार किया गया है ।

स्वरूपतोऽनिर्देशात्—अचेतरव का स्वरूप नहीं बतलाया गया । यदि चेतना का प्रतिषेधमात्र ही अचेतना है तो वह गुण नहीं होगा । फिर तो वह चेतना गुण का प्रतिषेध मात्र होगा ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना,

शरीरव्यापित्वात् ।३।२।५०।।

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वं चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता' इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः । शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वम् । तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गम्, एवमेकशरीरेऽपि स्यात्, न तु भवति । तस्मान्न शरीरगुण श्चेतना' इति ।३।२।५०।

न्यायवार्त्तिकम्

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना 'शरीरव्यापित्वात्' । शरीरवत् शरीरावयवाश्चेतनोत्पत्त्या व्याप्यन्ते । को व्याप्त्यर्थः ? न कश्चित् शरीरावयवश्चेतनाहीनो भवतीति, सर्वस्य चेतनानिमित्तत्वात्, शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतनाः प्राप्नुवन्ति । भवन्तु शरीरावयवाश्चेतनाः ? न, प्रत्ययव्यवस्थाप्रसङ्गात्—शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्रत्ययव्यवस्थानं स्यात् । ३।२।५० ।।

इसलिये भी चेतना शरीर का गुण नहीं,

शरीर में व्यापक होने से । ३।२।५० ।।

शरीर तथा शरीर के सभी अवयव चेतना की उत्पत्ति से व्याप्त हैं, इसप्रकार कहीं (भी) चेतना की अनुत्पत्ति न होगी । शरीर के समान शरीर के अवयव (भी) चेतन होंगे । इसप्रकार (प्रत्येक शरीर में) अनेक चेतन होना प्राप्त होता है । वहाँ जैसे प्रत्येक शरीर में अनेक चेतन होने पर सुख-दुःख ज्ञानों की व्यवस्था होना बोधक (लिङ्ग) है, वैसे ही एक शरीर में भी होगी, किन्तु होती नहीं । इसलिये शरीर का गुण चेतना नहीं ।३।२।५०।।

इसलिये भी शरीर का गुण चेतना नहीं 'शरीरव्यापित्वात्' (यह सूत्र है) शरीर के समान शरीर के अवयव भी चेतना की उत्पत्ति से व्याप्त होते हैं, (प्रश्न) व्याप्ति का क्या अर्थ है ? (उत्तर) कोई शरीर का अवयव चेतना रहित नहीं होगा, (यह अर्थ है) सब (अवयवों) का चेतना का निमित्त होने से— शरीर के समान शरीर के अवयव (भी) चेतन प्राप्त होते हैं । (शङ्का) शरीर के अवयव चेतन हुआ करें ? (समाधान) नहीं, ज्ञानों (प्रत्यय) की व्यवस्था का प्रसङ्ग होने से—शरीर के समान शरीर अवयव (भी) चेतन है, इसप्रकार ज्ञानों की व्यवस्था होगी । ३।२।५० ।।

इतश्च न—यह चेतना को शरीर का गुण न मानने में अन्य युक्ति दी गई है । म० म० गङ्गानाथ झा का कथन है कि वार्त्तिककार ने इसे 'अनेकचेतनोद्भावन' रूप से ग्रहण किया है, (पूना संस्करण १९३९ पृ० २२६) ।

प्रत्ययव्यवस्थानं स्यात्—टीका में प्रत्ययव्यवस्थाप्रसङ्गात् (४३६।३) यह पाठ है, इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं, जैसे देवदत्त के ज्ञान को यज्ञदत्त प्रति सन्धान नहीं करता किन्तु देवदत्त ही, यह व्यवस्था है, इसी प्रकार एक शरीर में दूसरे अवयव के ज्ञान का अथवा अवयवी के ज्ञान का प्रतिसन्धान न होगा । यहाँ भाष्य के 'तत्र यथा प्रतिशरीरं ··· भवति' तक की व्याख्या की गई है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यदुक्तं 'न क्वचिच्छरीरावयवे चेतनायाः अनुत्पत्तिः' इति सा,

न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः ।३।२।५१।।

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति, अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वम् इति ।३।२।५१।।

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ।३।२।५२।।

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणम् । त्वक्पर्यन्तं जीवमनः सुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरम् । तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते । अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशादीनामिति ।३।२।५२।।

न्यायवार्त्तिकम्

'न शरीरावयवाश्चेतनाः', 'न[1] केशनखादिष्वनुपलब्धेः' । केशनखादिस्वनुपलब्धेः इति दृष्टान्तसूत्रम् । ३।२।५१ ।।

'त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः' । संयोगिद्रव्यं केशनखादयो न तु शरीरावयवा इति । तस्मान्नायं प्रसङ्गः । ३।२।५२ ।।

जो कहा गया है 'क्वच्छिरीरावयवे चेतनायाः अनुत्पत्तिः' (कहीं भी शरीर के अवयव में चेतना की अनुत्पत्ति नहीं होगी) वह,

(ठीक) नहीं, केश नखादि में चेतना की उपलब्धि न होने से ।३।२।५१।।

केश तथा नख आदि में चेतना की उत्पत्ति नहीं होती, अतः 'शरीरव्यापित्वात्' यह नहीं बनता । ३।२।५१ ।।

शरीर के त्वचा पर्यन्त होने से केश नखादि प्रसङ्ग नहीं होता ।३।२।५२।।

इन्द्रियों का आश्रय होना शरीर का लक्षण है । त्वचापर्यन्त जीव, मन, सुख-दुःख के अनुभव का स्थान ही शरीर है । इसलिये केशादि में चेतना नहीं उत्पन्न होती । केशादि का शरीर से सम्बन्ध तो प्रयोजन (अर्थ) से किया गया है । ३।२।५२ ।।

शरीर के अवयव चेतन नहीं, इस पर 'न केशनखादिष्वनुपलब्धेः' (यह सूत्र है) । केशनखादि में उपलब्धि न होने से, यह दृष्टान्त सूत्र है । ३।२।५१ ।।

'त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः' (यह सूत्र है) । संयोगी द्रव्य हैं, केशनखादि शरीर के अवयव नहीं है । इसलिये (उनमें) यह प्रसङ्ग नहीं होता ।३।२।५२।।

न केशनखादिष्वनुपलब्धेः—यह आक्षेपसूत्र है । 'यदुक्तम्' से सिद्धान्ती के कथन का अनुवाद किया गया है ।

दृष्टान्तसूत्रम्—कर चरणादि चेतन नहीं शरीर के अवयव होने से, केश नखादि के समान यह दृष्टान्त दिखलाने के लिये सूत्र है, टी० ५७९ । टीका में सूत्रों की संख्या एक कम है, यह ३।२।५२ है । टी० ५७९ ।

त्वक्पर्यन्तत्वात्—'इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणम्', जहां शरीरत्व है उसे अवश्य ही इन्द्रियों का आश्रय होना चाहिये । केशनखादि में शरीर का लक्षण नहीं जाता ।

तस्मान्न केशादिषु—यह सूत्र का उपसंहार है ।

अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः—केश नखादि तो शरीर में प्रयोजनवश संयुक्त कर दिये गये हैं ।

---

1. न, नास्ति, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना,

शरीरगुणवैधर्म्यात् ।३।२।५३।।

द्विविधः शरीरगुणोऽप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः। विधान्तरं तु चेतना—ना प्रत्यक्षा, संवेद्यत्वात्; नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात्। तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति ।३।२।५३।।

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ।३।२।५४।।

यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणत्वं जहत्येवं रूपादिवैधर्म्यात् चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ।३।२।५४।।

न्यायवार्त्तिकम्

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना 'शरीरगुणवैधर्म्यात्'। द्वये शरीरगुणा भवन्ति, बाह्यकरणप्रत्यक्षा रूपादयोऽतीन्द्रियं च गुरुत्वम्। विधान्तरं तु चेतना, न बाह्यकरणप्रत्यक्षा सुखवेद्यत्वात्, नातीन्द्रिया मनोविषयत्वात्। तस्मान्न शरीरगुण इति। ३।२।५३ ॥

इसलिय भी चेतना शरीर का गुण नहीं है,

शरीर के गुणों से वैधर्म्य (भिन्न धर्म) होने के कारण ।३।२।५३।।

शरीर का गुण दो प्रकार का है—१. अप्रत्यक्ष (जैसे) गुरुत्व, २. इन्द्रियग्राह्य रूपादि। चेतना तो भिन्न प्रकार की है, वह अप्रत्यक्ष नहीं क्योंकि उसका संवेदन (अनुभव) होता है (संवेद्यत्वात्)। वह (बहिः) इन्द्रिय से ग्राह्य भी नहीं; क्योंकि (वह) मन का विषय है। इसलिये वह अन्य द्रव्य का गुण है। ३।२।५४ ॥

(आक्षेप)

नहीं, रूपादि का एक-दूसरे से वैधर्म्य के कारण ।३।२।५३।।

जैसे एक-दूसरे से वैधर्म्य होते हुए भी रूपादि शरीर के गुण होते हैं (शरीरगुणत्व को नहीं छोड़ते) इसीप्रकार रूपादि से वैधर्म्य होने पर चेतना शरीर का गुण होगा (शरीर का गुण होना नहीं छोड़ेगी)। ३।२।५४ ॥

इसलिये भी चेतना शरीर का गुण नहीं 'शरीरगुणवैधर्म्यात्' (यह सूत्र है)। दो प्रकार के शरीर के गुण हैं, बाह्य इन्द्रिय (करण) प्रत्यक्ष होने वाले रूपादि तथा इन्द्रियों से ग्राह्य न होने वाले (अतीन्द्रिय) गुरुत्व आदि। किन्तु चेतना अन्य प्रकार की है। न तो वह बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष है, सवेदना (अनुभव) होने से। वह इन्द्रिय से ग्राह्य न होने वाली (अतीन्द्रिय) नहीं, मन का विषय होने से। इसलिये (वह) शरीर का गुण नहीं। ३।२।५४ ॥

शरीरगुणवैधर्म्यात्—यह सिद्धान्तसूत्र है। 'द्विविधः' इससे शरीर के गुणों का विभाजन किया गया है। इस सूत्र (५३) की व्याख्या में वार्तिककार का मतभेद है।

विधान्तरं तु चेतना—चेतना तो दोनों प्रकारों से विलक्षण है, अतः यह शरीर का गुण नहीं।

न रूपादीनाम्—यह आक्षेपसूत्र है; पूर्वपक्षी का कथन है कि रूपादि गुण के वैधर्म्य से चेतना शरीर का गुण नहीं, यह सिद्ध नहीं होता।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ।३।२।५५।।

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति । यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते तथा रूपादिवैधर्म्यात् चेतना न द्वैविध्यमतिवर्तेत, यदि शरीरगुणः स्याद्' इति । अतिवर्तते तु । तस्मान्न शरीरगुण इति ।

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञाननिषेधात् सिद्धे सत्यारम्भो विशेषज्ञापनार्थः । बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति ३ २.५५।।

न्यायवार्त्तिकम्

'न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात्' । यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणमतिवर्तन्ते तथा रूपादिवैधर्म्ये सति चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यति । ३।२।५४ ।।

'ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः' । द्वये शरीरगुणा भवन्तीत्ययुक्तः सूत्रार्थः ।

रूपादि के इन्द्रियग्राह्य होने से प्रतिषेध नहीं ।३.२ ५५।।

अप्रत्यक्ष होने से भी । जैसे एक-दूसरे से भिन्न धर्म वाले रूपादि (भी) दो प्रकार के होने का अतिक्रमण नहीं करते उसीप्रकार चेतना रूपादि से भिन्न धर्म वाली होते हुए (उक्त) दो प्रकार का अतिक्रमण न करेगी, यदि शरीर का गुण होगी । किन्तु यह (दो प्रकारों का) अतिक्रमण करती है । इसलिये यह शरीर का गुण नहीं ।

(पृथिवी आदि) भूत, इन्द्रिय तथा मन का (गुण) ज्ञान नहीं, यह कहने से सिद्ध हो जाने पर (सूत्र का) आरम्भ विशेष ज्ञापन के लिये है। बहुत प्रकार से परीक्षा किया गया तत्त्व भली-भाँति निश्चित होता है । ३।२।५५ ।।

'न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात्' (यह सूत्र है) । जैसे एक-दूसरे से भिन्न धर्म वाले होकर भी रूप आदि शरीर का गुण होने का अतिक्रमण नहीं करते उसीप्रकार रूपादि से वैधर्म्य होने पर चेतना शरीर का गुण होगी (शरीर का गुण होने को नहीं छोड़ेगी) । ३।२।५४ ।।

'ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः' (यह सूत्र है) । यह सूत्र का अर्थ (अभिप्राय) ठीक नहीं, कि शरीर के गुण दो प्रकार के होते है ।

ऐन्द्रियकत्वात्--यह आक्षेप का परिहार है । अप्रतिषेध का अर्थ है शरीर के आश्रित रूप आदि हैं, इसका प्रतिषेध नहीं । यदि चेतना भी द्वैविध्य के अन्दर होती तो यह शरीर का गुण हो सकती ।

तस्मान्न शरीरगुणः--यह उपसंहार किया गया है कि चेतना शरीर का गुण नहीं ।

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञाननिषेधात्--सूत्र ३८ में यह कहा गया है कि ज्ञान (बुद्धि) भूत, इन्द्रिय तथा मन में नहीं रहता । अतः पुनरुक्ति की आशङ्का हो सकती है उसका समाधान भाष्यकार ने यह किया है । वार्त्तिककार ने अग्रिम पृष्ठ में इसका समाधान किया है जो इस भाष्य की व्याख्या है ।

बहुधा परीक्ष्यमाणम्—बार-बार परीक्षित किया हुआ तत्त्व निश्चित हो जाता है ।

अयुक्तः सूत्रार्थः यह सूत्रार्थ अयुक्त क्यों है, इसका कारण आगे (पृ० २८६) में दिया गया है।

न्यायवार्त्तिकम्

रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यमननुसंहितं चाव्यावृत्तं चेति । वैधर्म्यमात्रमन्वयव्यतिरेकि तु चेतनायाः शरीरगुणत्वसाधनं न भवतीति तस्माद् असममेतत् ।

ये हेतवोऽनेन प्रकरणेन[1] लभ्यन्ते तेषां प्रयोगः । (१) न शरीरगुणश्चेतना निमित्तान्तराभावे विरोधिगुणादर्शने च सत्ययावद्द्रव्यभावित्वात् अप्सु औष्ण्यवद् इति । शरीरव्यापित्वाद् इति तु न साधनम्, किन्तु शरीरे चेतनां ब्रुवतो दोषोऽनेकचेतनत्वप्रसङ्गः । ( ) न शरीरगुणश्चेतना, बाह्यकरणाप्रत्यक्षत्वात्, सुखादिवद् इति ।

अथेदं प्रकरणं निर्णीतार्थं कस्मात् पुनरारभ्यमिति ? बहुधा परीक्ष्यमाणं[2] तत्त्वं निश्चिततरं भवतीति, अत आरभ्यते' इति । परीक्षिता बुद्धिरिति ।

इति बुद्धेः शरीरगुणव्यतिरेकप्रकरणम् ।

रूपादि का एक-दूसरे से भिन्न धर्म वाला होना (वैधर्म्य) न तो शरीर के गुण के रूप में अन्वित है (अननुसंहितम्) न ही व्यावृत्त है (अव्यावृत्तम्=शरीरगुणानां तादृश-वैधर्म्यदर्शनात्, टी० ५७६); किन्तु केवल वैधर्म्यमात्र चेतना का अन्वयव्यतिरेकी होता हुआ उसका शरीर का गुण होना सिद्ध करने का साधन नहीं होता, अतः यह विषम है ।

जो हेतु इस प्रकरण से प्राप्त होते हैं उनका प्रयोग है (१) चेतना शरीर का गुण नहीं, अन्य निमित्त न होने पर तथा (चेतना के) विरोधी गुण का दर्शन न होने पर, यावद् द्रव्यभावी न होने से, जलों की उष्णता के समान। शरीर में व्यापक होने से तो हेतु नहीं, अपितु शरीर में चेतना मानने वाले के एक शरीर में अनेक चेतन प्राप्त होते हैं । (२) चेतना शरीर का गुण नहीं, बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न होने से, सुखादि के समान ।

(शङ्का) यदि (कहो कि) यह प्रकरण क्यों आरम्भ किया जाता है जिसका अर्थ निश्चित किया जा चुका था ? (समाधान) बहुत प्रकार से परीक्षा किया हुआ तत्त्व और अधिक निश्चित हो जाता है । इसलिये (यह) आरम्भ किया जाता है ।

बुद्धि की परीक्षा समाप्त हुई ।

अननुसंहितम्—शरीर का गुण होने के लिये अन्वित नहीं, यह शरीर का गुण होता है, यह नहीं कहा जा सकता । शरीरगुणत्वेनानन्वितम्' इत्यर्थः, टी० ५७६ ।

अव्यावृतम्—यह शरीर का गुण नहीं होता यह भी नहीं कहा जा सकता । शरीर गुणानां तादृश वैधर्म्यदर्शनात्, टी० ५७६ ।

ये हेतवः—यहाँ वार्त्तिककार ने बहुवचन का प्रयोग एकदेश की विवक्षा से किया है, बहुवचनं हेत्वेकदेशविवक्षया, टी० ५७६ ।

न शरीरगुणश्चेतना—इसका पदकृत्य टीका में दिखलाया गया है, टी० ५७६–५८० ।

बाह्यकरणाप्रत्यक्षत्वात्—गुरुत्व आदि से अनेकान्त नहीं क्योंकि वे अप्रत्यक्ष ही होते हैं, टी० ५८० ।

---

१. प्रकरणे, पा० । २. परीक्षितं त, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

६. (मनः परीक्षा)

परीक्षिता बुद्धिः। मनस इदानीं परीक्षाक्रमः। तत् किं प्रतिशरीरमेकमनेकमिति विचारे,

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः । ३।२।५६ ।।

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयम् करणस्यैकप्रत्ययनिर्वृत्तौ सामर्थ्यात्। न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम्। यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात्? सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, न तु भवति। तस्माद् विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः ।३।२।५६।।

न्यायवार्तिकम्

मनोऽवसरप्राप्तं परीक्ष्यते तत् प्रतिशरीरमेकमिति वा विचारे, 'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः'। अयुगपज्ज्ञानानि भवन्ति' इति प्रत्यक्षम्,

---

६. बुद्धि (ज्ञान) की परीक्षा की गई, अब मन की परीक्षा का क्रम है। वह क्या प्रत्येक शरीर में एक है या अनेक इस विचार में,

ज्ञानों के एक साथ न होने से मन (प्रत्येक शरीर में) एक है ।३।२।५६।।

वस्तुतः एक-एक इन्द्रिय का अपने विषय में ज्ञान एक साथ नहीं होता क्योंकि करण का एक ज्ञान की उत्पत्ति में सामर्थ्य होता है। वह मन के एक होने में बोधक (लिङ्ग) नहीं; किन्तु जो यह अन्य इन्द्रियों का अन्य विषयों में ज्ञान का एक साथ न होना है वह मन का बोधक (लिङ्ग) है। क्यों? वास्तव में बहुत से मन होने पर इन्द्रिय और मन का संयोग एक साथ हो सकता है, उससे अनेक ज्ञान एक साथ हो जायेंगे, किन्तु होते नहीं। इसलिये विषय में ज्ञानों का क्रम (पर्याय) होने से मन एक है। ३।२।५६ ।।

अवसर से प्राप्त मन की परीक्षा की जाती है। वह क्या प्रत्येक शरीर में एक है या अनेक, इस विचार में 'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः' (यह सूत्र है)। ज्ञान एक साथ नहीं होते, यह प्रत्यक्ष है (सभी को अनुभव होता है कि मन एक है)।

मनस इदानी परीक्षाक्रमः—बुद्धि के पश्चात् मन की परीक्षा की जाती है।

यत्त्विदम्— ज्ञान दो प्रकार से युगपत् नहीं होता, १. एक इन्द्रिय का अपने विषय में ज्ञान युगपत् नहीं होता, २. इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों के एकत्र होते हुए भी युगपत् ज्ञान नहीं होता। इनमें से दूसरा ही मन का बोधक (लिङ्ग) है।

तस्मात्—इससे मन का एकत्व सिद्ध किया गया है।

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः—सूत्र में सिद्धान्त दिखलाया है, क्योंकि ज्ञान एक साथ नहीं उत्पन्न होते, इसलिये मन प्रति शरीर में एक है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः । ३।२।५७ ॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते, व्रजति, कमण्डलुं धारयति, पन्थानं पश्यति, शृणोत्यरण्यजान् शब्दान्, बिभेति, व्याललिङ्गानि बुभुत्सते, स्मरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति, क्रमस्याग्रहणाद् एताः क्रिया इति प्राप्तं मनसो बहुत्वमिति ।३।२।५७॥

न्यायवार्त्तिकम्

एतच्च मनस एकत्वं साधयति । कथमिति ? यदि बहूनि मनांसि स्युः प्रतीन्द्रियं मनसः सम्बन्ध इति युगपदनेकार्थसन्निधाने युगपदनेकज्ञानानि भवेयुः। यस्त्वेकेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु विज्ञानानामयुगपद्भावः तन्न मनस एकत्वे लिङ्गम् अन्यतरतद्भावात्—अन्यथा हि करणत्वात्तद्भवतीत्युक्तम् । ३।२।५६ ॥

'न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः' इति । शेषं भाष्ये । ३।२।५७ ॥

नहीं (मन में) एक साथ अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से ३।२।५७॥

वास्तव में यह अध्यापक पढ़ता है, घूमता है, कमण्डलु को धारण करता है, मार्ग को देखता है, वन के शब्दों को सुनता है, डरता है, सर्प के चिह्नों को जानने की इच्छा करता है और गन्तव्य स्थान (अपनी मंजिल) को याद करता है, क्रम के ग्रहण न होने से ये क्रियाएँ एक साथ होती हैं, अतः मन अनेक हैं, यह प्राप्त होता है । ३।२।५७ ॥

× × × ×

यह मन की एकता को सिद्ध करता है। यदि बहुत से मन हों तो प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध हो जाये तो एक साथ अनेक विषयों की उपस्थिति होने से एक साथ अनेक ज्ञान हो जायें। किन्तु जो एक इन्द्रिय के ग्राह्य विषयों में ज्ञानों का एक साथ न होना है, वह मन के एक होने में बोधक (लिङ्ग) नहीं, अन्य (कारण) से उसके होने के कारण—वस्तुतः अन्य प्रकार से, अर्थात् करण होने से वह होता है, यह कहा गया है । ३।२।५७ ॥

(इस पर) 'न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः' (यह सूत्र है) । शेष भाष्य में है ।३।२।५७॥

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः—इस पर न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकाकार कहते हैं, मनः स्वरूपपरीक्षाय भाष्यवार्त्तिके निगदेनैव व्याख्याते । टी०, ५८० । यह पूर्वपक्ष का सूत्र है । इसका उत्तर सूत्र ५८ में दिया गया है । पूर्वपक्षी का कथन है कि एक साथ अध्यापक की अनेक क्रिया दिखाई देती है । इसलिये मन की अनेकता प्राप्त होती है। सिद्धान्ती का उत्तर है कि यह भ्रान्ति है' । भाष्य में अध्यापक की अनेक क्रियाओं को दिखलाया गया है ।

एतच्च मनस एकत्वं साधयति—बहुत से विषयों के उपस्थित होने पर जो एक ज्ञान होता है, युगपद् ज्ञान नहीं होते यह मन के एकत्व में लिङ्ग है ।

शेषं भाष्ये—शेष भाष्य में है, वार्त्तिककार इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर करते हैं ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसंचारात् । ३।२।५८ ॥

आशुसञ्चाराद् अलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते। क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद्बुद्धिर्भवति, तथा बुद्धीनां क्रियाणां चाशुवृत्तित्वाद् विद्यमानः क्रमो न गृह्यते। क्रमस्याग्रहणाद् युगपत् क्रिया भवतीत्यभिमानो भवति।

किं पुनः क्रमस्याग्रहणाद् युगपत् क्रियाभिमानः, अथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति ? नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते' इति।

न्यायवार्त्तिकम्

अत्रोत्तरद्वारकं सूत्रम् 'अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशु सञ्चारात्'। यथाऽलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो नोपलभ्यते तथा बुद्धीनामाशुभावाद् विद्यमानः क्रमो नोपलभ्यते।

(परिहार)

अलातचक्र दर्शन के समान उस (मन) की अनेक क्रियाओं की उपलब्धि नहीं होगी।३।२।५८॥

शीघ्र गति से भ्रमण करते हुए अलात (मशाल) के घूमते हुए विद्यमान होता हुआ भी क्रम नहीं देखा जाता, क्रम के अग्रहण के कारण निरन्तर होने की बुद्धि (ज्ञान) से 'चक्र के समान है' ऐसा ज्ञान हो जाता है, उसीप्रकार बुद्धियों (ज्ञानों) की तथा क्रियाओं की शीघ्र गति के कारण विद्यमान होते हुए भी क्रम का ग्रहण नहीं होता। क्रम का ग्रहण न होने से एक साथ क्रिया हो रही है, यह भ्रम हो जाता है।

(शङ्का) किन्तु क्या क्रम के ग्रहण न होने के कारण एक साथ क्रिया होने का भ्रम होता है, अथवा एक साथ होने से ही एक साथ अनेक क्रिया होने की उपलब्धि होती है। यहां विशेष के ज्ञान का कारण नहीं कहा जा रहा है। अतः संशय होता है)।

× × × ×

यह कहा जाने पर उत्तर के रूप में यह सूत्र है 'अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्' जैसे अलात के घूमते हुए विद्यमान क्रम की उपलब्धि नहीं होती, उसीप्रकार बुद्धियों (ज्ञानों) के शीघ्र होने से विद्यमान भी क्रम की उपलब्धि नहीं होती।

अलातचक्र०—यह पूर्वपक्ष में संशय दिखलाने के लिये है।

किं पुनः—'अलातचक्र' इत्यादि में संशय है कि क्या क्रम के अग्रहण से युगपत्क्रिया का अभिमान (भ्रान्ति) है अथवा वस्तुतः वहां क्रम नहीं है। इस प्रकार अध्यापक की क्रियाओं में यौगपद्य संशयग्रस्त ही है। 'अलात' का अभिप्राय है मसाल जो लकड़ी पर कपड़ा लपेटकर बनाई जाती है। उसके घुमाने से जो चक्र सा प्रतीत होता है, वह भ्रान्ति है, वस्तुतः वहां चक्र नहीं होता। कोई क्रम होता है वह मसाल एक स्थान से दूसरे पर जाती है क्रमशः किन्तु वह क्रम दिखलाई नहीं देता, भ्रान्ति से उसे एक गोले में घूमती हुई समझ लिया जाता है।

न्यायभाष्यम्

उक्तम् 'इन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्ति' इति। तच्चाप्रत्याख्येयम्, आत्मप्रत्यक्षत्वात्। अथापि दृष्टश्रुतार्थान् चिन्तयतः क्रमेण बुद्धयो वर्तन्ते न युगपद् अनेनानुमातव्यमिति। वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम्। कथम्? वाक्यस्थलेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति। श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति। पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते। पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति। सम्बद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते। न चासां क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात् क्रमो गृह्यते। तदेतदनुमानमन्यत्र बुद्धिक्रियायौगपद्याभिमानस्य' इति।

[समाधान] कहा जा चुका है, कि अन्य इन्द्रियों का अन्य विषयों में क्रम से ज्ञान होता है, और उसका निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि (प्रत्येक) आत्मा को प्रत्यक्ष होता है। और भी, देखे गये या सुने गये अर्थों (पदार्थों) का चिन्तन करने वाले को क्रम से ज्ञान होता है, एक साथ नहीं। इससे अनुमान किया जा सकता है, तथा वर्ण, पद, वाक्यों का ज्ञान और उनके अर्थों के ज्ञान का शीघ्र होने के कारण (उनके) क्रम का ग्रहण नहीं होता। कैसे? वस्तुतः वाक्यों में स्थित वर्णों का उच्चारण करने पर प्रथमतः प्रत्येक वर्ण का श्रवण होता है। सुने गये वर्ण को एक या अनेक वर्णों का पद-रूप में प्रतिसन्धान करता है। प्रतिसन्धान करके पद का निश्चय करता है। पद का निश्चय करने से (अपनी) स्मृति से पदार्थ को जानता है और पद-समूह का प्रतिसन्धान करने से वाक्य का निश्चय करता है। सम्बद्ध अर्थों का ग्रहण करके वाक्यार्थ को जानता है। किन्तु इन ज्ञानों का क्रम से विद्यमानों का (भी) शीघ्र होने के कारण क्रम नहीं गृहीत होता। वह यह अनुमान है अन्य स्थान में ज्ञान तथा क्रियाओं में एक साथ होने के भ्रम में।

उक्तम्— यह पूर्व शङ्का का समाधान है। इसका भाव यह है कि नानाविषयक ज्ञान क्रम से होते - यह प्रत्येक आत्मा को प्रत्यक्ष होता है और वादी एवं प्रतिवादी इसे मानते भी हैं। अतः इसका निराकरण नहीं किया जा सकता।

श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा— वर्णों को क्रमशः श्रोता सुनता है (और अनेक वर्णों से एक पद का निश्चय करता है फिर स्मृति से पद का अर्थ निश्चित करता है।

तदेतत्— उक्त वर्णों तथा पदों में क्रमिकता देखी जाती है। अतः यौगपद्य का ज्ञान भ्रान्ति ही है, यह अनुमान से जाना जाता है।

न्याभाष्यम्

न चास्ति मुक्तसंशयं युगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनां यया मनसां बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयेत' इति ।३।२।५८॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु । ३।२।५९ ॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात् । महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयग्रहणं स्याद्' इति ।३।२।५९॥

न्यायवार्तिकम्

न चास्त्युभयपक्षसम्प्रतिपन्ना[1] युगपदुत्पत्तिर्यया बहुत्वं मनसः प्रतिपद्येमहि, इति । ३।२।५८ ॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु[2] । य एवैकत्वे हेतुर्मनस उक्तोऽनेनैवाणु, मनोऽवसातव्यम्' इति । ३।२।५९ ॥

इति मनः परीक्षा ।

और संशय रहित (सन्देह को छोड़कर) ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती जिससे एक शरीर में मन की अनेकता का अनुमान किया जा सके । ३।२।५८ ॥

कहे गये हेतुओं से मन अणु (परिमाण वाला) है ।३।२।५९॥

मन अणु परिमाण वाला है और एक है, यह मन के धर्मों का समुच्चय है; क्योंकि ज्ञान एक साथ नहीं होते । मन के महत् परिमाण वाला होने पर सब इन्द्रियों के साथ संयोग होने के कारण एक साथ विषयों का ग्रहण होगा । ३।२।५९ ॥

और दोनों पक्षों (वादी तथा प्रतिवादी) की मानी हुई ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति है नहीं जिससे मन की अनेकता हम मान लें । ३।२।५८ ॥

'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु' (यह सूत्र है) । (इसका अभिप्राय है) जो ही मन के एक होने में हेतु कहा गया है, इससे मन अणु (परिमाण वाला) है, यह निश्चय कर लेना चाहिये । ३।२ ५९ ॥

मुक्तसंशयम्—ज्ञानों की युगपद् उत्पत्ति होती है, ऐसा कोई संशयरहित, जो दोनों पक्षों को स्वीकृत हो, दृष्टान्त नहीं है जिससे मन को अनेक माना जा सके ।

अणु मन एकं चेति—मन एक है और उसका परिमाण अणु है । यदि मन अनेक हों अथवा मन विभु हो तो सब इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध होगा, अतः एक साथ ज्ञान हुआ करेंगे ।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु—यहां वार्तिक में 'यथोक्तनिमित्तत्वाच्चाणु' यह पाठ भी मिलता है । यद्यपि इन दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है तथापि पाठ-भेद तो है ही । यह मन की परीक्षा समाप्त हुई ।

---

१. न चास्त्युभयपक्षसम्प्रतिपन्ना, पा० । २. यथोक्तनिमित्तत्वाच्चाणु, पा० ।

७. (शरीरस्यादृष्टनिष्पाद्यत्वम्)

न्यायसूत्रं भाष्यं च

मनसः खलु भोः सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्। ज्ञातुश्च पुरुषस्य शरीरायतना बुद्ध्यादयो विषयोपभोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च सर्वे च शरीराश्रया व्यवहाराः। तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः 'किमयं पुरुषः कर्मनिमितः शरीरसर्गः' आहो भूतमात्राद् अकर्मनिमित्त इति ? श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति। तत्रेदं तत्त्वम्,

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः। ३।२।६०॥

न्यायवार्त्तिकम्

मनसः खलु भोः सेन्द्रियशरीरे वृत्तिः। शरीरे विचार्यमाणे' मन एव विचारितं भवति' अतः शरीरं पुनर्विचार्यते, किमयं शरीरसर्गः कर्मनिरपेक्षैर्भूतैरारभ्यते, आहोस्वित् सापेक्षैरिति ? विप्रतिपतेः संशयः, श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिः ! तत्रेदं तत्त्वम्, 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः'।

अरे (भोः) मन की वृत्ति इन्द्रिय सहित शरीर में होती है, शरीर के अन्य स्थान में नहीं, और ज्ञाता पुरुष (आत्मा) का ज्ञान आदि शरीर के अन्दर होते हैं, विषयों का उपभोग त्यागने की इच्छा वाले का त्याग और प्राप्त करने की इच्छा वाले की प्राप्ति सब व्यवहार शरीर के आश्रित होते हैं। वस्तुतः वहाँ विप्रतिपत्ति से संशय होता है कि 'क्या यह शरीर की सृष्टि पुरुष के कर्म के निमित्त से होती है अथवा (पृथिवी आदि) भूतों से बिना कर्म के निमित्त के ही। इस विषय में मतभेद भी है (श्रूयते= नानादर्शनग्रन्थेषूपलभ्यते)। उसमें तत्व यह है,

पूर्वकृत फल के निमित्त से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है।३।२।६०॥

अरे निश्चय ही मन की इन्द्रिय सहित शरीर में वृत्ति होती है। अतः शरीर का विचार करने पर मन का ही विचार किया जाता है। अतः शरीर का फिर विचार किया जाता है कि क्या यह शरीर की सृष्टि कर्म-निरपेक्ष पृथिवी आदि भूतों से होती है अथवा सापेक्ष भूतों से। इस विषय में नाना मत होने से संशय होता है। इस विषय में विवाद सुना जाता है। उसमें यह तत्त्व है, 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः' (यह सूत्र है)।

शरीरस्यादृष्टनिष्पाद्यत्वम्—व्यक्ति का शरीर अदृष्ट के कारण बनता है। इस प्रकरण में यह प्रतिपादित किया गया है।

मनसः खलु—मन का ज्ञान आदि सभी कार्य शरीर से होता है। अतः मन का विचार करने के लिये शरीर का विचार आवश्यक है।

तत्र खलु विप्रतियत्तेः संशयः—शरीर के विषय में नानाविप्रतिपत्ति हैं कुछ लोग (जैसे सांख्य) कहते हैं कि शरीर की सृष्टि कर्म के निमित से नहीं होती किन्तु न्या० वै० मानता है कि कर्म के निमित्त से ही शरीर की उत्पत्ति होती है। इसी विप्रत्तिप्रति से यह संशय होता है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्ति—यह सिद्धान्त है, इसकी व्याख्या आगे भाष्य तथा वार्तिक में है।

न्यायभाष्यम्

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा। तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तम्। तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ। तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानम्। तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति। यदधिष्ठानोऽयमात्माऽयमहमिति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयानुपलभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरम्। तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन पतितेऽस्मिन् शरीरे शरीरान्तरं निष्पद्यते। निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीरवत् पुरुषार्थक्रिया। पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति।

न्यायवार्त्तिकम्

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृत तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ तयोरनुबन्ध आत्मसमवेतयोरवस्थानम्, विपाककालस्यानियमात्—अनियतो विपाककाल इहामुत्र जात्यन्तरे चेति। तेनावस्थितेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्य शरीरस्योत्पत्तिर्न स्वतन्त्रेभ्यः।

पूर्व शरीर में जो प्रवृत्ति, वाणी, मन तथा शरीर का कार्य रूप थी वह यहाँ पूर्वकृतकर्म कहा गया है। उसका फल है, उसमें उत्पन्न धर्म तथा अधर्म। उसके फल का अनुबन्ध आत्मा में समवाय सम्बन्ध से (धर्माधर्म का संस्कार) रहना। उससे प्रयुक्त (पृथिवी आदि) भूतों से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्रों से नहीं, जिसमें स्थित होकर यह आत्मा 'यह मैं हूँ', यह समझता हुआ, जहाँ नियुक्त (अभियुक्तः) होकर, जहाँ उपभोग की इच्छा से विषयों को उपलब्ध करता हुआ धर्म तथा अधर्म को अर्जित करता है (संस्करोति) वह इसका शरीर है। भूत सहित उस धर्माधर्म रूप संस्कार से इस शरीर के गिर जाने पर अन्य शरीर को प्राप्त होता है। और (अन्य शरीर को) प्राप्त हुए इसकी पूर्व शरीर के समान पुरुष के प्रयोजन की क्रिया होती है तथा पुरुष (आत्मा) की पूर्व शरीर के समान प्रवृत्ति होती है।

पूर्व शरीर में जो प्रवृत्ति, वाणी, मन तथा शरीर के कार्य थे वे पूर्वकृत कर्म हैं, उसका फल है उससे उत्पन्न धर्म तथा अधर्म। उनका अनुबन्ध है आत्मा में समवाय से रहना, विपाक के काल का नियम न होने से—कर्म का (अन्तिम फल) विपाक मिलने का समय नियत नहीं, वह यहाँ (इह) मिले; परलोक में (मिले) (अमुत्र) और अन्य जन्म में (जात्यन्तरे)। उस (धर्माधर्म) से प्रयुक्त (पृथिवी आदि) भूतों से उस शरीर की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्रों से नहीं।

प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति क्या है? यह सूत्र १.१.१७ में बतलाया गया है। उसी को यहाँ दिखला दिया है।
धर्माधर्मौ– वाक्, मन तथा शरीर से जो कर्म किया जाता है उसका फल ही धर्म एवं अधर्म होता है। उनका किया हुआ यह शरीर है। धर्म एवं अधर्म के द्वारा प्रयुक्त पृथिवी आदि भूतों से इसका [illegible] होता है, स्वतन्त्रों से नहीं।

कस्मात् पुनः कर्म धर्माधर्मसंज्ञकम् उत्पत्तिसमकालं फलं न ददाति । क एवमाह न ददातीति, विपाककालस्यानियमात्—यदा अशेषकारणसन्निधानं भवति, सन्निधानेऽपि यदा कारणान्यप्रतिबद्धानि भवन्ति तदा ददात्येव[1]। यदा पुनर्न ददाति तदा विपच्यमानकर्माशय प्रतिबन्धात्—यो विपच्यमानः कर्मातिशयो भवति यस्य धर्माधर्मसमाख्यातोऽनुपभुक्तफलः, तेन प्रतिबन्धाद् विद्यमानमपि कर्म फलं न ददाति । यानि वा प्राण्यन्तराणि तस्य कर्मणः समानोपभोगानि तेषां विपच्यमानैः कर्माशयैः प्रतिबन्धात् न सर्वदा फलम् । यानि वा प्राण्यन्तराणि कर्मभागीनि तस्य कर्मणस्तत्कर्मभिः प्रतिबन्धात्, तस्य वा कर्मणः सहकारिधर्माधर्मलक्षणं निमित्त नास्तीत्यतः फलस्यानारम्भः, तस्य वा सहकारिणः प्रतिबन्धात् सत्त्वान्तरकर्मणां वा सहकारिणां प्रतिबन्धात् न सर्वदा फलं धर्माधर्मौ प्रयच्छत इति । दुर्विज्ञेया च कर्मगतिः, सा न शक्यया मनुष्यधर्मणाऽवधारयितुम् । आकृतिमात्र तूक्तम् ।

(प्रश्न) किन्तु धर्माधर्मसंज्ञक कर्म उत्पत्ति के समान काल में फल क्यों नहीं देता ? (उत्तर) कौन ऐसा कहता है (कि उत्पत्ति के समान काल में फल नहीं देता), विपाक के काल का नियम न होने से—जब सभी कारण उपस्थित हैं, (उनके) उपस्थित होने पर भी जब कारणों का प्रतिबन्धक नहीं होता तब उसी समय फल देते हैं। किन्तु जब नहीं देता तब विपाक को प्राप्त होने वाले कर्मों के संस्कार के प्रतिबन्ध से—जो विपाक को प्राप्त होने वाला कर्मों का संस्कार होता है, जिसका धर्माधर्म नाम के (कर्म का) फल नहीं भोगा गया, उससे प्रतिबन्ध होने के कारण विद्यमान भी कर्म फल नहीं देता। अथवा जो अन्य प्राणी उस (व्यक्ति) के कर्म के समान उपभोग वाले हैं उनके पाक को प्राप्त होने वाले कर्म के संस्कारों से प्रतिबन्ध होने के कारण सदा फल नहीं होता। अथवा जो अन्य प्राणी कर्मभागी हैं उस (व्यक्ति) के कर्म के उनके कर्मों से प्रतिबन्ध होने के कारण, अथवा उसके कर्म के सहकारी (निमित्त कारण) धर्म तथा अधर्म नहीं है इसलिये फल का आरम्भ नहीं होता। या उसके सहकारी का प्रतिबन्ध होने से, अथवा अन्य प्राणियों के कर्मों के सहकारियों का प्रतिबन्ध होने से धर्म एवं अधर्म सदा फल नहीं देते। वस्तुतः कर्मों की गति कठिनाई से जानी जा सकती है, मानवधर्मा के द्वारा उसका निश्चय नहीं किया जा सकता। हमने तो यहाँ उदाहरण मात्र (आकृतिमात्र) बतलाया है।

उत्पत्तिसमकालम्—सम के समान सम कहा गया है, उत्पत्ति के अनन्तर यह अभिप्राय है। समभिव समम् । उत्पत्त्यनन्तरमित्यर्थः, टी० ५८० ।

एवमाह न ददातीति—यदि कर्म समग्र होता है तो उत्पत्ति के अनन्तर फल देता ही है, यदि समग्रं भवति तत उत्पत्त्यनन्तरं दास्यत्येवेत्यर्थः, टी० ५८० ।

विच्यमानः कर्मातिशयो भवति—यहाँ टीका में विपच्यमानः कर्माशयो भवति, यह पाठ है। विपच्यमानः का अर्थ है फल का भोग कराने वाला, फलं भोजयतीत्यर्थः, टी० ५८० ।

तस्य वा कर्मणः सहकारिधर्माधर्मलक्षणं निमित्तं नास्ति—धर्माधर्म ही कर्म के सहकारी निमित्त होते हैं। उनके न होने से भी फल का आरम्भ नहीं होता।

---

१. ददात्यपि, पा० ।

न्यायभाष्यम्

कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरसर्गे सत्येतदुपपद्यते' इति। दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतीनामुत्पत्तिः तथानुमातव्यं शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्पद्यमानं पुरुषस्यगुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यते' इति।३।२।६०॥

न्यायवार्त्तिकम्

कः पुनरत्र न्यायः कर्मतन्त्राणि भूतानि शरीरमारभन्ते न निरपेक्षाणीति? अयं न्यायोऽभिधीयते, पुरुषविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वकं शरीर कार्यत्वे सति पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात्, यत् पुरुषार्थक्रियासमर्थं तत् पुरुषविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वकं दृष्टं यथा रथादि, पुरुषविशेषगुणेन प्रयत्नेन प्रेरितैर्भूतैरारभ्यमाणं पुरुषार्थक्रियासमर्थं दृष्टं तथा च शरीरं तस्माद् इदमपि सापेक्षैर्भूतैरारभ्यते सुखदुःखनिमित्तत्वात् घटादिवद्' इति। इतश्च कार्यत्वात् रथादिवत्, बाह्यकरणग्राह्यत्वे सति[1] रूपादिमत्वात् घटादिवदेव। ३।२।६०॥

कर्म की अपेक्षा करने वाले भूतों से शरीर की सृष्टि होने पर यह बन सकता है, और पुरुष के गुण प्रयत्न से प्रयुक्त हुए भूतों से पुरुष की अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थों—रथ आदि द्रव्यों—की उत्पत्ति देखी गई है। उसी प्रकार अनुमान करना चाहिये कि शरीर भी पुरुष की अर्थक्रिया में समर्थ उत्पन्न होता है, अतः वह पुरुष (आत्मा) के अन्य गुणों की अपेक्षा करने वाले भूतों से उत्पन्न होता है। ३।२।६०॥

× × × ×

(प्रश्न) इसमें युक्ति (न्याय) क्या है कि कर्म के अधीन भूत शरीर का आरम्भ करते हैं निरपेक्ष नहीं? (उत्तर) यह न्याय कहा जाता है (क) पुरुष (व्यक्ति) के विशेष गुण (अदृष्ट) से प्रेरित भूतपूर्वक शरीर है, कार्य होकर पुरुष की अर्थक्रिया में समर्थ होने से, जो पुरुष की अर्थक्रिया में समर्थ देखा गया है, जैसे रथादि; वह पुरुष के विशेष गुण प्रयत्न से प्रेरित भूतों से आरम्भ किया जाता है, वैसा ही शरीर है, इसलिये यह भी सापेक्ष भूतों से उत्पन्न किया जाता है (आरभ्यते)। (ख) सुख-दुःख का निमित्त होने से घट आदि के समान। (ग) और इसलिये (भी) कार्य होने से रथादि के समान। (घ) बाह्य करण (इन्द्रिय) ग्राह्य होने पर रूपादि वाला होने से घट आदि के समान ही। ३।२।६०॥

बाह्यकरणग्राह्यत्वे सति—इन्द्रियग्राह्यत्वे सति' इससे कार्य सिद्ध हो जाता, फिर 'बाह्यकरणग्राह्यत्वे सति' यह इसलिये कहा गया है कि इन्द्रियग्राह्यत्व में भी बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व एक विशेष धर्म है, इन्द्रियग्राह्यत्वे सतीत्यैतावतैव सिद्धे इन्द्रियग्राह्यराशेर्बाह्यकरणग्राह्यं राश्यन्तरम्, इत्येतावन्मात्रविवक्षया बाह्यकरणग्राह्यत्वे सतीत्युक्तम्, टी० ५८१।

रूपादिमत्वात्—यह हेतु है, घटादिवदेव यह दृष्टान्त है।

---

१. बाह्यकरण प्रत्यक्षत्वे सति, पा०।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अत्र नास्तिक आह,

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् । ३।२।६१ ॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वाद् उपादीयन्ते तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वाद् उपादीयत' इति । ३।२।६१ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

अत्र नास्तिक एवमाह 'भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम्' । यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वर्त्या मूर्त्तयः सिकताशर्करागैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थक्रियाकारित्वाद् उपादीयन्ते तथा शरीरसर्गोऽपि' इति ।

पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात्, इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकद्वारकं सूत्रम् । साधनपक्षे दृष्टान्तमात्रत्वाद् असिद्धम् । ३।२।६१ ॥

इस विषय में नास्तिक कहता है,

(पृथ्वी आदि) भूतों से मूर्त्ति की उत्पत्ति के समान उस (शरीर) का निर्माण होता है । ३।२।६१ ॥

जैसे कर्म की अपेक्षा न रखने वाले भूतों से उत्पन्न हुई बालू, कंकड़ (शर्करा) पत्थर, गैरिक तथा अञ्जन आदि की मूर्त्तियाँ पुरुष (आत्मा) की अर्थक्रिया को सिद्ध करने के कारण निर्मित होती हैं, उसी प्रकार कर्म-निरपेक्ष भूतों से शरीर उत्पन्न होकर पुरुषार्थ करने वाला है, अतः गृहीत होता है । ३।१।६१ ॥

इस विषय में नास्तिक यह कहता है 'भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम्' (यह सूत्र है) । जिस प्रकार कर्म की अपेक्षा न करने वाले (पृथिवी आदि) भूतों से बनने वाली बालू, कंकड़, गेरु आदि की मूर्तियाँ पुरुष (आत्मा) की अर्थक्रिया करने के कारण गृहीत हो जाती हैं, उसी प्रकार शरीर की संरचना भी पुरुष (आत्मा) की अर्थक्रिया में समर्थ होने के करण (गृहीत हो जाती है) ।

इस हेतु को अनैकान्तिक (सव्यभिचार) बतलाने वाला यह सूत्र है जो साधनपक्ष में (साधनपक्षे) दृष्टान्तमात्र होने से असिद्ध है । ३।२।६१ ॥

नास्तिक आह—परलोक नहीं है, धर्म एवं अधर्म नहीं होते, यह मानने वाला नास्तिक कहलाता है।

भूतेभ्यो मूर्त्युपा—यह पूर्वपक्षी का सूत्र है । इसमें बतलाया गया है कि जिस प्रकार सिकता आदि से मूर्तियों की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार भूतों से शरीर की उत्पत्ति हो जाती है, इसमें अदृष्ट की कोई आवश्यकता नहीं ।

अनैकान्तिकद्वारकं सूत्रम्—वार्त्तिककार के मत में 'पुरुषार्थक्रियासार्यत्वात्' इस हेतु की अनैकान्तिकता दिखलाने के लिये यह सूत्र है, यदि इसे साधन माना जाये तो यह दृष्टान्तमात्र है तथा असिद्ध है, पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात् ['इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकद्वारकं सूत्रम्' साधनपक्षे दृष्टान्तमात्रत्वाद् असिद्धम् (वार्त्तिक ऊपर) । इस प्रकार यह सूत्र सन्देहास्पद ही है ।

न साध्यसमत्वात् । ३।२।६२ ॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या तथा सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः । साध्यसमत्वाद् असाधनम्' इति । 'भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवद्' इति चानेन साध्यम् । ३।२।६२ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

अथ पक्षः कर्मनिरपेक्षाणि भूतानि शरीरमारभन्ते पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात् सिकतादिवद्' इति । एतच्च 'न साध्यसमत्वात्' । यथैव शरीरसर्गः कर्मनिरपेक्षैर्भूतैरारभ्यत इति साध्यं तथा सिकतादीनाम् अकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यत इति । सिकतादीनामपि कर्मनिमित्तः सर्ग इत्येतस्मादेव हेतोः सिध्यतीति । यथा चोभयपक्षसम्प्रतिपन्नो रथादिदृष्टान्तः पुरुषविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वकोऽस्ति न तथा अकर्मनिमित्तसर्गपक्षे दृष्टान्तोऽस्ति' इति । ३।२।६२ ।

नहीं, (हेतु के) साध्य के समान होने के कारण । ३।२।६२॥

जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति कर्म के निमित्त से नहीं होती यह साध्य है, उसी प्रकार बालू, कंकड़, पत्थर, गैरिक, अञ्जन आदि की भी संरचना कर्म के निमित्त के बिना हो जाती है, यह साध्य है । साध्य के समान (साध्यसम जाति) होने से यह हेतु (साधनम्) नहीं । 'भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवद्' यह भी इसे (पूर्वपक्षी को) सिद्ध करना होगा । ३।२।६२ ॥

× × × ×

यदि यह पक्ष है कि कर्म की अपेक्षा न करने वाले भूत शरीर का उत्पादन करते हैं, पुरुष (आत्मा) की अर्थक्रिया का सामर्थ्य होने से बालू (सिकता) आदि (की मूर्ति) के समान । और यह भी 'न साध्यसमत्वात्' (यह सूत्र है) । जिस प्रकार शरीर की रचना कर्म की अपेक्षा रहित भूतों से आरम्भ की जाती है यह साध्य है, उसी प्रकार बालू आदि की अकर्म निमित संरचना होती है, यह सिद्ध करना है । सिकता (बालू) आदि की संरचना भी कर्म के निमित्त से होती है, यह इसी हेतु से सिद्ध होता है । और जिस प्रकार दोनों पक्षों (वादी तथा प्रतिवादी) द्वारा माना गया रथादि का दृष्टान्त है कि पुरुष के विशेष गुण (प्रयत्न) से प्रेरित भूतों से निष्पादित है, उस प्रकार कर्म के निमित्त बिना सृष्टि होती है, इस पक्ष में नहीं है । ३।२।६२ ॥

न साध्यसमत्वात्—इसमें नास्तिक के सूत्र में 'साध्यसमता' दिखलाई गई है । सिकतादि दृष्टान्त की साध्यसमता से ही 'पुरुषक्रियासामर्थ्यात्' इस हेतु की अनैकान्तिकता का निराकरण हो जाता है । सिकतादृष्टान्तस्य साध्यसमतयैव 'पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात्' इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि प्रत्युक्तम्, डी० ५८१ ।

सिकतादीनामपि—सिकतादि की सृष्टि भी अदृष्टनिमित्तक होती है । (न्यायवार्त्तिक ऊपर) । वस्तुतः न्या० वै० के मत में सर्वत्र अदृष्ट ही निमित्त है । व्यक्ति को जो सुख या दुःख मिलता है उसका निमित्त अदृष्ट ही होता है ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

भूतेभ्यो भूत्युपादानवद् इति चानेन साम्यम् ।

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः । ३।२।६३।

विषमश्चायमुपन्यासः । कस्मात् ? निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते, बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः । मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते । तत्र सत्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाशये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति । ३।२।६३ ॥

न्यायवार्तिकम्

विषमश्चायमुपन्यासः, भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवद इति 'नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः । मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते तत्र, पित्रोः पुत्रफलानुभमनीये कर्मणी सत्वस्य गर्भावासानुभवनीयं कर्म सह मातृगर्भाशये शरीरोत्पत्तिं प्रयोजयति । तत्र चोपपन्नं बीजानुविधानं बीजानुविधानाच्च यज्जातीयौ तस्य पितरौ तज्जातीय सम्भवतीति । ३।२।६३ ॥

नहीं, माता और पिता के उत्पत्ति का निमित होने से । ३।२।६३ ॥

और, यह दृष्टान्त विषम है । क्यों ? ये मूर्तियां तो बिना बीज के उत्पन्न होती हैं, किन्तु शरीर की उत्पत्ति बीजपूर्वक होती है । (सूत्र में) माता, पिता शब्द से लोहित (रक्त) तथा रेतस् बीजों का ग्रहण होता है । उनमें प्राणी का गर्भवास का अनुभव करने योग्य कर्म तथा माता-पिता के पुत्र-फल का अनुभव कराने वाले कर्म होते हैं जो माता के गर्भ में भूतों से शरीर की उत्पत्ति के प्रयोजक होते है। इस प्रकार बीज का अनुसरण करना सिद्ध होता है ।३।२।६३॥

यह दृष्टान्त विषम भी है, भूतेभ्यो मूर्त्युपादान वत् (तदुपादानम् ? क्यों कि नोत्पत्तिनिमितत्वात् मातापित्रोः' (यह सूत्र है) । यहाँ माता-पिता शब्द से लोहित तथा रेतस् का ग्रहण है जो (शरीरोत्पत्ति के) बीज हैं । वहाँ माता-पिता के पुत्र फल का अनुभव कराने वाले कर्म और प्राणी का गर्भवास में अनुभव करने योग्य कर्म के साथ (ही) माता के गर्भाशय में शरीरोत्पत्ति के प्रयोजक होते हैं । वहाँ बीज का अनुसरण बन जाता है । और बीज के अनुसरण से जिस प्रकार के उसके माता-पिता होते है, उस प्रकार का होना (वह) सम्भव है ।३।२।६३॥

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्माता पित्रोः— इस सूत्र में दिखलाया गया है कि शरीर की उत्पत्ति सिकता आदि से मूर्ति ग्रहण के समान नहीं है ।

विषमश्चायमुपन्यासः—सिकतादि की सृष्टि भी पुरुषार्थ का हेतु है अतः वह अदृष्ट पूर्वक होती है । यदि वह नहीं है तथापि शरीर की उत्पत्ति आदि तो सिकता आदि के मूर्ति ग्रहण से भिन्न है। वह तो पुरुष के कर्म के निमित्त से है, पृ० ५८१ ।

माता पितृशब्देन लोहितरेतसी गृह्येते—यदि शङ्का हो कि माता पिता तो शरीर के साक्षात् निमित नहीं तो कहा गया है कि मातापितृ शब्देन लोहितरेतसी गृह्येते । (३·४ ६८)

अनुभवनीये—भवगेयादि में अनुभवनीय का पाठ होने से कर्मणि कृत होता है । टी० ५८२ ।

तथाहारस्य । ३।२।६४ ॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वाद इति प्रकृतम् । भुक्तं पीतमाहारस्तस्य पक्तिनिर्वृत रसद्रव्यम्, मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकं मात्रया चोपचयो बीजे यावद् व्यूहसमर्थः सञ्चय इति । सञ्चितं च कललार्बुद-मांसपेशीकण्डरशिरःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूह्यते । व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति । न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पते इति । एतस्मात् कारणात् कर्मनि-मित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायते इति । ३।२।६४ ॥

न्यायवार्त्तिकम्

'तथाहारस्य' । उत्पत्तिनिमित्तत्वाद् इति प्रकृतम् । एतदपि सिकतादिभिर्वैधर्म्यं-मेवोच्यते अशितपीतमाहारस्तस्य पाकाद् रसद्रव्यं निर्वर्त्यते, तन्मातृशरीरे[1] उपचीयते, गर्भशरीरे चोपचितं कललादिभावेनोपचीयमानं कर्मसापेक्षभूतैः पाण्यादिभावमापद्यते । यदि पुनः कर्मनिरपेक्षाणि भूतानि स्युः, स्थाल्यादिगतमिवान्नं पच्येत, न त्विदमस्ति तस्मात् सापेक्षाणि इति ।।३।२।६४।।

इसी प्रकार शरीरोत्पत्ति का भोजन भी निमित्त होने से ।३।२।६४ ॥

उत्पत्ति के निमित्त से, यह प्रकरण से आ रहा है । खाया और पीया हुआ आहार है, उसके पाक से बना हुआ रसद्रव्य और माता के शरीर में गर्भाशय में स्थित बीज के बढने पर और बीज के समान पाक वाले और सञ्चित होकर कलल ( ) अर्बुद ( ) मांसपेशी, कण्डर ( ) सिर तथा हाथ आदि रचना से इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न अधिष्ठानों के रूप में रचा जाता है । और रचना में गर्भनाडी से उतारा गया रसद्रव्य बढता है जब तक प्रसव में समर्थ होता है । और यह स्थाली में स्थित अन्न-पान का नहीं होता । इस कारण से शरीर का कर्म के निमित से होना जाना जाता है ।३।२।६४।।

तथाहारस्य (यह सूत्र है) उत्पत्ति का निमित्त होने से यह प्रकरण से आ रहा है । यह भी बालू आदि से वैधर्म्य ही कहा जाता है । खाया पीया आहार है । उसके पाक से रसद्रव्य उत्पन्न होता है, वह माता के शरीर में बढता है और गर्भ के शरीर में बढा हुआ, कलल आदि के रूप में होता हुआ, कर्म की अपेक्षा रखने वाले भूतों से हाथ आदि रूप को प्राप्त होता है । किन्तु यदि कर्म की अपेक्षा के बिना भूत होवे तो स्थाली (देगची) आदि में स्थित अन्न के समान पाक होवे किन्तु यह होता नहीं, अतः भूत कर्म सापेक्ष होते हैं ।३।२।६४।।

तथाऽऽहारस्य— इससे वैषम्य दिखलाया गया है : माता पिता ही नहीं आहार भी शरीर की उत्पत्ति में कारण होता है ।

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति— पूर्व सूत्र के प्रतीक से इस सूत्र को पूरा किया गया है ।

कललादिभावेन— कलल, कण्डर, मांसपेशी आदि लोहित रेतस के परिणाम हैं । टी० ५८२ ।2 टीका में कललरकण्ड इत्यादि छप गया है ।

---

१ .तन्माच्च शरीरेच, पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

प्राप्तौ चानियमात् । ३।२।६५ ॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते । तत्रासति कर्मणि न भवति सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति । कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु नियमः स्यात् । न ह्यत्र कारणाभाव इति । ३।२।६५ ॥

न्यायवार्तिकम्

'प्राप्तौ चानियमात्' । कर्मनिरपेक्षाणि भूतानि शरीरमारभन्त इति सर्वो दम्पत्योः संयोगः पुत्रादिफलकः स्यात् । कर्मसापेक्षेषु भूतेषूपपन्नो नियमाभाव इति । ३।२।६५॥

सर्वात्मभिः सम्बन्धात् साधारणविग्रहवत्त्वप्रसंगः नियमहेत्वभावादितिचेत्— अथ मन्यसे शरीरं सर्वात्मभिः सम्बध्यते संयोगजेन संयोगेन क्रियाजेन, वा तत्र शरीरादिगतो न कश्चिन्नियमहेतुरिति येन शरीरमेव तस्यात्मनो व्यवतिष्ठेत. न च पुरुषगतो विशेषः कश्चिद् विद्यते, येन शरीरमेकस्य पुरुषस्योपभोगसाधनं भवेत्; अस्ति च नियमस्तस्माद् वक्तव्यो नियमहेतुरिति ?

संयोग (प्राप्ति) होने पर भी नियम न होने से । ३। ।६५ ॥

स्त्री-पुरुष (दम्पत्यो) का सभी संयोग गर्भाधान का हेतु नहीं देखा जाता। वहाँ कर्म के होने पर (सन्तानोत्पादन) नहीं होता, होने पर होता है । विना कर्म के नियम का अभाव नहीं बनता । कर्म की अपेक्षा न रखने वाले भूत ही यदि शरीरोत्पत्ति के हेतु हों तो नियम होगा । वस्तुतः यहाँ कारण का अभाव नहीं है । ३।२।६५॥

प्राप्तौ चानियमात (यह सूत्र है) । कर्म की अपेक्षा न रखते हुए भूत शरीर को उत्पन्न करते हैं तो सब दम्पतियों का संयोग पुत्रादि फल वाला होगा । कर्म की अपेक्षा रखने वाले भूतों के होने पर नियम का अभाव बनता है ।३।२।६५॥

(आक्षेप) यदि सब आत्माओं के साथ (शरीर का) सम्बन्ध होने से साधारण शरीर वाले (सब आत्मा) होने लगेगें नियम का हेतु न होने से—यदि मानते हो कि शरीर का सब आत्माओं से सम्बन्ध होता है संयोगज सयोग मे अथवा क्रियाज संयोग से । वहाँ शरीर आदि में स्थित कोई नियम हेतु नहीं जिससे शरीर उस आत्मा का ही है, यह व्यवस्था हो जाये । ओर पुरुष (आत्मा) में स्थित भी कोई विशेष नही है, जिससे शरीर एक पुरुष के उपभोग का साधन हो जाये । किन्तु च होता है (नियम है) । इसलिये नियम का हेतु कहना होगा ।

प्राप्तौ चानियमात्—यह सिद्धान्ती का सूत्र है । प्राप्ति का अर्थ है दम्पती का संयोग, दम्पत्योः संयोगः प्राप्तिः, टी० ५८२ । किन्तु कभी संयोग होने पर भी शरीर की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये दृष्ट का व्यभिचार हैं, अतः अदृष्ट हैं जिससे शरीर की सृष्टि होती है

कर्मसापेक्षेषु— यदि पृथिवी आदि भूत कर्म (अदृष्ट) की अपेक्षा रखते हैं, तब तो जहाँ अदृष्ट होगा वहीं शरीर की उत्पत्ति होगी, अतः नियमाभाव भी बन जाता है (ऊपर वार्तिक) ।

सर्वात्मभिः सम्बन्धात्—यह अग्रिम सूत्र ३।२।६६॥ की अवतरणिका है । पार्श्वस्थः शङ्कते, सर्वात्मभिरित, टी० ५८२ ।

न च पुरुषगतः—आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष से धर्माधर्म होते हैं, मन का सन्निकर्ष सब आत्माओं से हैं, अतः धर्माधर्म सबके समान हैं, टी० ५८२ ।

अथापि,

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।३।२।६६।

यथा खल्विदं शरीरं, धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनांच स्नायुत्वगस्थिशिरापेशीकललकण्डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थ्नाञ्च कोष्ठगानां वातपित्तकफानां च मुखकण्ठहृदयामाशयपक्वाशयाधःस्रोतसां च परमदुःखसम्पादनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं, पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षैरुत्पादयितुम् इति कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति विज्ञायते । एवं च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैरात्मभिः सम्बन्धात् सर्वात्मनां च समानैः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरं पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वात्मनां सुखदुःखसंवित्त्यायतनं समानं प्राप्तम् ।

वार्त्तिकम्

अस्योत्तरद्वारकं सूत्रम् 'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।' येनैव कर्मणा शरीरमुत्पाद्यते तदेव संयोगं नियमयति । अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे यथोक्तदोष इति

और भी,

शरीर की उत्पत्ति के निमित के समान संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है । ३।२।६६ ।।

वस्तुतः जिस प्रकार यह शरीर कर्मनिरपेक्ष पृथिवी आदि से उत्पन्न किया जाना असम्भव है (अशक्यम्) अतः शरीरोत्पत्ति कर्म के निमित्त से होती है, यह जाना जाता है । (यह शरीर) धातु, प्राण वाहक नाडियों का शुक्रपर्यन्त धातुओं का और स्नायु, त्वचा अस्थि, शिरा, पेशी, कलल, कण्डर का तथा सिर, भुजा, उदर का और सक्थियों का तथा कोष्ठ में स्थित वात, पित्त, कफ का और मुख, कण्ठ, हृदय, आमाशय, पक्वाशय तथा अधः स्रोतों का अत्यन्त दुःख से करने योग्य संस्थान से रचना (पृथिवी आदि कर्मनिरपेक्षों से असम्भव है) । और इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में स्थित निमित के न होने से अतिशय रहित आत्माओं से सम्बन्ध होने के कारण सब आत्माओं का पृथिवी आदि (भूतों) से उत्पन्न किया गया शरीर और पृथिवी आदि में स्थित नियम का निमित्त का अभाव होने से समान रूप से सब आत्माओं के सुखः दुःख संवेदन का आयतन प्राप्त होता है ।

इसके उत्तर के द्वारा (रूप में) सूत्र है । शरीरोत्पत्तिः निमित्त वत् संयोगोत्पत्ति निमित्त कर्म जिस कर्म से शरीर उत्पन्न किया जाता है वही संयोग का नियमन करता है । यदि शरीर की उत्पत्ति विना कर्म के निमित्त होगी तो यथोक्त दोष होगा ।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवतः—यह सिद्धान्त सूत्र है । इसका अभिप्राय है कि जैसेप्रत्येक आत्मा के शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट निमित्त है उसी प्रकार संयोग की उत्पत्ति में भी । संयोग के दो भाव लिये जाते है १- प्रत्येक शरीर का आत्मा के साथ संयोग २- दम्पती का संयोग ।

व्यूहनमशक्यम — इस शरीर की रचना कर्मनिरपेक्ष पृथिवी आदि भूतों द्वारा नही की जा सकती

नियमहेतोरभावात्— कौन सुख दुःख किस आत्मा को होगा इस नियम का हेतु नही हैं । अतः संयोग भी अदृष्ट (कर्म) के निमित्त से ही होता है ।

अस्योत्तरद्वारकं सूत्रम् —इसका उत्तर देने वाला सूत्र है । शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।

न्यायभाष्यम्

यत्तु प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते तत्र शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते परिपच्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते तस्यैवोपभोगायतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति । तदेवं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगनिमित्तं कर्म इति विज्ञायते । प्रत्यात्मव्यवस्थानं तु शरीरस्यात्मना संयोगं प्रचक्ष्महे । ३।२।६५॥

न्यायवार्तिकम्

तत्स्थता कुत इति चेत्—अथ मन्यसे यदि कर्म नियामकं शरीरसर्गस्य, अथ कर्मणि कुतो नियमः ? इति, न, स्वसंयोगोत्पत्तिनियमात्—यो यस्यात्मनः संयोगः, तस्माद् यत् कर्मोपजायते, त तस्य भवतीति । संयोगे कुतो नियम इति ? यथैव कर्मणि पर्यनुयोगो न व्यावर्तते तथा संयोगेऽपीति । न, मनोनियमहेतुत्वात्—यस्यात्मनो यन्मनस्तेन यः संयोगो जन्यते स तस्य भवतीति - मनस्यपि तुल्यम् मनसस्तर्हि सर्वात्मभिः सम्बन्धात् किं नियामकमिति ? कर्मैव—यन्मनो यदीयेन कर्मणोपनिबद्धं तदीयं तद्भवतीति । सर्गादौ कथमिति चेत् ? सर्गादेरनभ्युपगमात् अदेश्यम्—अनादिः संसारः पूर्वाभ्यस्तसूत्रे प्रतिपादितमेतत्, आदिमति संसार एष देश्यो नानादाविति । ३।२।६६॥

जो यह प्रत्येक आत्मा में व्यवस्थित होता है, उसमें शरीर की निमित्त कर्म ही व्यवस्था का निमित्त है, यह जाना जाता है । वस्तुतः प्रत्येक आत्मा में नियत कर्माशय पाक को प्राप्त होता हुआ जिस आत्मा में होता है उसके ही उपभोग के आयतन शरीर को उत्पन्न करके व्यवस्थित कर देता है । इस प्रकार शरीर की उत्पत्ति के निमित्त के समान संयोग का निमित्त (भी) कर्म है, यह जाना जाता है । शरीर के आत्मा के साथ संयोग को (हम) प्रत्येक आत्मा में व्यवस्था करने वाला कहते हैं। ३।२।६६॥

(प्रश्न) यदि (कहो) उस आत्मा में (अदृष्ट की) स्थिति कैसे है ?—यदि मानते हो कि कर्म (ही) शरीरोत्पत्ति का नियामक है तो कर्म में नियम कैसे होता है ? (उत्तर) नहीं, अपने संयोग की उत्पत्ति का नियम होने से—जो जिस आत्मा का संयोग है उससे जो कर्म उत्पन्न होता है ? वह उसका ही होता है । (प्रश्न) संयोग में नियम कैसे है ? जैसे कर्म में प्रश्न (पर्यनुयोगः) की व्यावृति नहीं होती (न व्यावर्तते) वैसे ही संयोग में भी । (उत्तर) नहीं, नियम का हेतु (नियामक) मन होने से—जिस आत्मा का जो मन है, उससे जो संयोग होता है वह उसका होता है । (प्रश्न) मन में भी (यह) समान है—तब तो मन का सब आत्माओं से सम्बन्ध होने से क्या नियामक है ? (उत्तर) कर्म ही—मन जिसके कर्म से (जिस आत्मा से) जुड़ा है उसका वह होता है । (प्रश्न) यदि कहो कि सृष्टि के आदि में कैसे होता है ? (उत्तर) सृष्टि का आदि न मानने से यह प्रश्न नहीं किया जा सकता—यह संसार अनादि है, यह पूर्वाभ्यस्त सूत्र (३।१। २८) में सिद्ध किया जा चुका है । आदिमान संसार में यह प्रश्न हो सकता है अनादि में नहीं । ३।२।६६॥

यत्तु—इसमें सूत्र की व्याख्या की गई है । दूसरों द्वारा उद्भावित दोष का अनुवाद करके यह दिखलाया गया है कि यद्यपि आत्मा विभु है तथापि अदृष्ट ही व्यवस्था कर देता है ।

तत्स्थता कुत इति चेत्—यह खण्डन है। इसका समाधान है स्वसंयोगोत्पत्तिनियमात्, टी० ५८२ ।

संयोगे कुतो नियमः—फिर शङ्का है। इसका समाधान है, न मनोनियमहेतुत्वात्, टी० ५८२ ।

अदृष्ट निमित्तक मन का नियम है और मन निमित्तक अदृष्ट का नियम है ।

न्यायसूत्रं च भाष्यम्

एतेनानियमः प्रत्युक्तः । ३।२।६७ ।।

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते, अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेन प्रत्युक्तः । कस्तावदयं नियमः ? अन्यैकस्यात्मनः शरीरं तथा सर्वेषामितिनियमः अन्यस्यान्यथान्यस्यान्यथा इत्यनियमो भेदो व्यावृत्तिर्विशेष इति ।

न्यायवार्त्तिकम्

एतेनानियमः प्रत्युक्तः । कः पुनरयं नियमः ? यथैकस्यात्मनः शरीरं तथा सर्वात्मनामिति नियमः । अन्यस्यान्यथाऽन्यस्याऽन्यथा' इत्यनियमो भेदो व्यावृत्तिः ।

इस (कर्मसापेक्षता) से नियम का निराकरण हो गया । ३। ।६७ ।।

जो यह कर्म निमित्त न होने में शरीर की सृष्टि होने पर अनियम कहा जाता है, यह शरीर की उत्पत्ति के निमित्त के समान संयोग की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है, इस (कथन) से निराकृत हो गया। (प्रश्न) क्या है यह नियम ? (उत्तर) जैसे एक आत्मा का शरीर है वैसे ही सब (आत्माओं) का, यह नियम है। अन्य का अन्य प्रकार से, दूसरे का अन्य का अन्य प्रकार से, यह अनियम है, अनियम अर्थात् भेद, व्यावृत्ति विशेष।

'एतेनानियमः प्रत्युक्तः' (यह सूत्र है)। (प्रश्न) यह नियम क्या है ? (उत्तर) जिस प्रकार एक आत्मा का शरीर है उसी प्रकार सब आत्माओं का (क्योंकि सब आत्मा व्यापक हैं) यह नियम है। अन्य (आत्मा) का अन्य प्रकार का (अन्यथा), दूसरे का अन्य प्रकार का (शरीर है), यह अनियम है, (इसका अभिप्राय है) भेद, व्यावृत्ति ।

एतेनानियमः प्रत्युक्तः—नियम है जैसे एक आत्मा का शरीर है, उसी प्रकार सबका है । अन्य आत्मा का अन्य प्रकार से अन्य का दूसरे प्रकार से होता है, यह अनियम है (भाष्य ऊपर)

भेदो व्यावृत्तिविशेषः—ये भाष्यकार ने अनियम के पर्याय बतला दिये है । कर्मसापेक्षाणां भूतानां शरीरसर्गे अनियमाभिधाने न तन्निरपेक्षाणां व्यतिरेकमुखेनानियमः प्रत्युक्तः । नियमो व्याप्तिः साधारणविग्रहत्वं सर्वात्मनाम् । अनियमस्त्वव्याप्तिः कस्यचिदात्मनः किंचित् शरीरं कस्यचित् किंचिदिति । टी० ५८३ ।

एतेन—इससे कर्म की अपेक्षा रखने वाले भूतों से शरीर की सृष्टि होने पर अनियम कहा गया है, कर्म-निरपेक्ष भूत यदि शरीर की सृष्टि करें यह इसका व्यतिरेक होगा। व्यतिरेक के द्वारा अनियम का निराकरण हो गया। नियम का अभिप्राय है व्याप्ति, सब आत्माओं का साधारण शरीर (विग्रह) होना। अनियम का अभिप्राय है अव्याप्ति, किसी आत्मा का शरीर किसी प्रकार का होगा किसी का अन्य प्रकार का, यह अनियम है। यही देखा जाता है। जो पूर्वपक्षी ने कहा था, उसका भी निराकरण हो गया। यहाँ भूत ग्रहण प्रकृति का उपलक्षण है। सांख्य जो कहता कि प्रकृति धर्माधर्म रूप निमित्त के बिना ही सब आत्माओं का शरीर रच देती है, वह सत्त्व, रज तथा तमोगुण वाली है तथा प्रवृत्तिशील हैं। सांख्य के अनुयायी भी इससे निराकृत हो गये।

न्यायभाष्यम्

दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिः, उच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति प्रशस्तं निन्दितमिति, व्याधिबहुलमरोगमिति, समग्रं विकलमिति पीडाबहुलं सुखबहुलमिति; पुरुषातिशयलक्षणोपपन्नं विपरीतमिति । प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति, पटि्वन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति । सूक्ष्मश्च भेदोऽपरिपरिमेयः । सोऽयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियतात् कर्मभेदादुपपद्यते । असति कर्मभेदे प्रत्यात्मनियते निरतिशयित्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादीनां पृथिव्यादिगतस्य नियमहेतोरभावात् सर्वं सर्वात्मनां प्रसज्येत । न त्विदमित्थं भूतं जन्म । तस्मान्नाकर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति ।

न्यायवार्त्तिकम्

दृष्टः शरीरभेदः प्राणिनामनेकरूपः, स च कर्मनिरपेक्षैर्भूतैः शरीरारम्भे न युक्तः । कर्मणां भेदाच्छरीराणि भिद्यन्त इति युक्तम् ।

और जन्म में भेद देखा गया है, उच्चकुल में जन्म, नीच कुल में जन्म, प्रशंसनीय (अथवा) निन्दित, रोगों की बहुलता से युक्त, रोगरहित, पूर्ण या विकल, दुःख से भरा हुआ या सुखयुक्त, व्यक्ति के उत्कर्ष के लक्षणों से युक्त या विपरीत (लक्षणों वाला), प्रशस्त लक्षण युक्त या निन्दित लक्षण वाला, पटु इन्द्रिय वाला या मृदु इन्द्रिय वाला, इस प्रकार सूक्ष्म भेद असंख्य हैं। वह यह जन्म का भेद प्रत्येक आत्मा में नियत कर्म के भेद से बनता है । प्रत्येक आत्मा में नियत कर्म का भेद न होने पर आत्माओं के निरतिशय तथा पृथिवी आदि के समान होने से पृथिवी आदि में स्थित नियम के हेतु का अभाव होने के कारण सब कुछ सब आत्माओं को प्राप्त होने लगेगा । किन्तु यह ज़न्म इस प्रकार का नहीं । इसलिये शरीर की उत्पत्ति (जन्म) कर्मों के निमित्त विना नहीं होती ।

प्राणियों का शरीर का भेद अनेक प्रकार का देखा गया है और वह कर्म की अपेक्षा न करने वाले भूतों से शरीर की उत्पत्ति होने पर युक्त नहीं । इस प्रकार कर्मों के भेद से शरीरों का भेद होता है । यह युक्त है ।

उच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति—उच्चः अभिजनो यस्य, निकृष्टः अभिजनो यस्य—ऊँचा जिसका कुल है, नीचा जिसका कुल है ।

सोयम्—प्रत्येक आत्मा में नियत कर्म (अदृष्ट) के भेद से ही यह भेद बनता है ।

प्रत्यात्मनियते—यदि कर्म का भेद प्रत्येक आत्मा में नियत न होगा तो यह जन्म का भेद न होगा क्योंकि आत्माओं में कोई भेद नहीं है और पृथिवी आदि भूतों में भी कोई भेद नहीं है ।

तस्मात्—अकर्मनिमित्तक शरीर की सृष्टि होती है इसका निराकरण किया गया है, तथा कर्मनिमित्तक ही शरीर की सृष्टि होती है, इसका प्रतिपादन किया गया है और उपसंहार भी ।

कर्मणां भेदाच्छरीराणि भिद्यन्ते—वार्त्तिककार ने यह उपसंहार किया है कि कर्म के भेद से ही शरीरों में भेद होता है, यही मानना युक्तियुक्त है ।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः—कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः। कस्मात् ? कर्मक्षयोपपत्तेः—उपपद्यते खलु कर्मक्षयः, सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतुकर्मकायवाङ्मनोभिर्न करोति इत्युत्तरस्यानुपचयः। पूर्वोपचितस्य विपाकप्रतिसंवेदनात् प्रक्षयः। एवं प्रसवहेतोरभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसन्धिः। अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्तिरिति। ३।२।६७॥

न्यायवार्तिकम्

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः—द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता चाव्यक्ता च। तत्राव्यक्तायाः कर्मसमाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः, प्रक्षीणे च[१] कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीति, उपपन्नोऽपवर्गः। कर्मनिरपेक्षेषु कस्य प्रक्षयान् मोक्षमाणा अपवृज्येरन्, भूतलक्षणायाः प्रकृतेरनुच्छेदात्। ३।२।६७॥

और शरीर से वियोग (अपवर्ग) भी बन जाता है, क्योंकि कर्मों का नाश बन जाता है—कर्मनिमित्तक शरीर की सृष्टि होने पर उस शरीर से आत्मा का वियोग बनता है। क्यों ? कर्मों का नाश बन जाने से- वस्तुतः कर्मों का नाश बन जाता है, तत्त्व-ज्ञान से मोह का नाश हो जाने से राग से रहित (वीतरागः) व्यक्ति पुनर्जन्म का निमित्त कर्म काया, वाणी तथा मन से नहीं करता, इस प्रकार आगे आने वाले (कर्म) का उपचय नहीं होता। पूर्व उपचित (सञ्चित) का फल भोगने से नाश हो जाता है। इस प्रकार जन्म के हेतु का अभाव होने से इस शरीर का पतन हो जाने पर अन्य शरीर की प्राप्ति न होने से बन्धन का अभाव (अप्रतिसन्धिः) हो जाता है। इस प्रकार जन्म के हेतु का अभाव होने से इस शरीर का पतन हो जाने पर फिर अन्य शरीर की प्राप्ति न होने से बन्धन का अभाव (अप्रतिसन्धिः) हो जाता है। शरीर की सृष्टि बिना कर्म के निमित्त से होगी तो (पृथिव्यादि) भूतों का नाश न होने के कारण उनका वियोग नहीं बनता।३।२।६७॥

और शरीर से वियोग (अपवर्ग) भी बनता है, कर्मों का नाश बनने से—शरीर की दो प्रकृतियां हैं व्यक्त तथा अव्यक्त। उनमें अव्यक्त प्रकृति का–जो कर्म कही जाती है—उपभोग से नाश होता है। कर्म के नाश होने पर विद्यमान होते हुए भी भूत शरीर को उत्पन्न नहीं करते, इस प्रकार अपवर्ग (मोक्ष) बन जाता है। कर्म-निरपेक्ष भूतों के होने पर किसके नाश से मोक्ष की इच्छा करने वाले मुक्त होंगे। भूतरूप प्रकृति का नाश न होने के कारण।३।२।६७॥

उपपन्नश्च तद्वियोगः—तद्वियोगः=शरीरवियोगः, मोक्षः। जब कर्मनिमित्तक शरीर होता है तो शरीर का वियोग अर्थात् मोक्ष भी बन जाता है, सांख्य के मत में मोक्ष नहीं बनता, अपि तु मोक्षोऽपि न स्यादिति दर्शयितुं स्वपक्षे मोक्षमुपपादयति उपपन्नश्चेति। सांख्यपक्षे तु न मोक्षः स्यादिति दर्शयति, कर्मनिरपेक्षेष्विति। टी० ५८३।

कस्य—किसके नाश से मोक्ष के इच्छुक मोक्ष को पायेंगे। क्योंकि भूतों का नाश तो होता नहीं।

---

१ 'ियमाणं च, पा०

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ।३।२।६८ ॥

अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते । अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः । न जात्वनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं पश्यति । तच्चास्य दृश्यं द्विविधम् विषयश्च नानात्वं चाव्यक्तात्मनोः । तदर्थः शरीरसर्गः । तस्मिन्नवसिते चरितार्थानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोग इति । एवं चेन्मन्यसे ।

न्यायवार्तिकम्

(तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे) । अदृष्टकारितमिति चेत्—अथ मन्यसे 'अदृष्टकारिता शरीरोत्पत्तिः', अदृष्टशब्देनादर्शनमुच्यते, अदर्शनमदृष्टमिति, सर्गादौ प्रधानं पुरुषार्थेन हेतुना प्रवर्तते, तत्तु प्रवर्तमानं महदादिभावेन शरीरमुत्पादयति, उत्पन्ने शरीरे दृष्टा द्रश्यं पश्यति' इति । दृश्यं च द्वेधा विषयो नानात्वं च प्रकृतिपुरुषयोः, दृष्टेन प्रधानं चरितार्थत्वान्न प्रवर्तते इति । तदेवमदर्शनं शरीरसर्गहेतुस्तद्भावभावित्वाद् इति' ।

(सांख्य मत का निराकरण)

यदि वह (शरीर की उत्पत्ति) अदृष्ट द्वारा होती है तो फिर उसकी प्राप्ति अपवर्ग में होगी । ३।२।६८ ॥

अदृष्ट का अभिप्राय है अदर्शन (प्रधान का अदर्शन) । अदृष्ट के द्वारा की जाती है भूतों से शरीर की उत्पत्ति । शरीर के उत्पन्न न होने पर द्रष्टा कभी बिना आयतन के दृश्य को नहीं देखता । वह इसका दृश्य दो प्रकार का है—विषय और प्रकृति (अव्यक्त) तथा पुरुष (आत्मा) की पृथकता । उसके लिये शरीर की सृष्टि है । उसके पूर्ण हो जाने पर भूत कृतार्थ हो जाते हैं, शरीर को उत्पन्न नहीं करते । इस प्रकार शरीर से वियोग (अपवग, मोक्ष) बन जाता है, यदि ऐसा मानते हो ।

इस पर सूत्र है 'तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे' । अदर्शन की कराई गई है—यदि मानते हो कि शरीर की उत्पत्ति अदर्शन की कराई हुई है, अदृष्ट शब्द से अदर्शन कहा जाता है, अदर्शन=अदृष्ट, सृष्टि के आदि में प्रधान (प्रकृति, अव्यक्त) पुरुषार्थ के लिये प्रवृत्त होती है, वह प्रवृत्त होती हुई महत् आदि के रूप में शरीर को उत्पन्न करती है, शरीर के उत्पन्न होने पर द्रष्टा (पुरुष, आत्मा) दृश्य को देखता है । दृश्य दो प्रकार का है १. विषय (रूपादि) और २. प्रकृति तथा पुरुष की पृथक्ता । देखा जाने से प्रधान कृतार्थ हो जाने से प्रवृत्त नहीं होती । तो इस प्रकार अदर्शन शरीर सृष्टि का हेतु है, क्योंकि अदर्शन के होने पर शरीर की उत्पत्ति होती है ।

तददृष्टकारितमिति चेत्—पुरुष और प्रकृति का भेद न देखना, यह अदर्शन है, यही अदृष्ट कहलाता है, उसका किया हुआ ही शरीर है। प्रकृतिपुरुषभेदादर्शनं वा अदृष्टमुच्यते, तत्कारितमित्यर्थः टी० ५८३ । इस अदर्शन से ही भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है क्योंकि बिना शरीर के कभी भी द्रष्टा दृश्य के नहीं देख सकता । यह दृश्य दो प्रकार का है १-विषय १- प्रकृति और पुरुष का भेददर्शन। उसके लिये ही शरीर की उत्पत्ति होती है । (ऊपर भाष्य)

. तद्भावभावादिति, पा० ।

न्यायभाष्यम्

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे—पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यते इति। या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमता, या चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता, नैवयोरदर्शनयोः कश्चिद्विशेषः' इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

न्यायवार्तिकम्

एतस्मिन् खल्वदर्शने पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे—या च प्राग्प्रवृत्तेर्दर्शननिवृत्तिरदर्शनाभिमता या चोत्तरकालं निवृत्ते सर्गे नैतयोरदर्शनयोः कश्चिद्विशेषः। अदर्शननिमित्ता चेत् शरीरोत्पत्तिर्भवति, तेन यथा प्राक नानात्वदर्शनात् प्रधानं पुरुषार्थं प्रवर्तते तथाऽपवृक्तेऽपि प्रवर्तेत, न चैवमभ्युपगम्यते। तस्मात् नादर्शनं शरीरसर्गे कारणमिति।

तो अपवर्ग (मोक्ष) में फिर शरीर की प्राप्ति (तत्) होने लगेगी — फिर शरीर की प्राप्ति का प्रसङ्ग होता है। और जो शरीर के उत्पन्न न होने पर अदर्शन आपके द्वारा माना गया है तथा जो मोक्ष में – शरीर की निवृति होने में—दर्शन का न होना अदर्शन है, इन अदर्शनों में कोई भेद नही, इस प्रकार अदर्शन की निवृति न होने के कारण मोक्ष में फिर शरीर की उत्पति का प्रसङ्ग होता है।

वस्तुतः इस अदर्शन में फिर मोक्ष में शरीरोत्पत्ति का प्रसङ्ग होता है– और जो प्रधान की प्रवृत्ति से पहले दर्शन का अभाव है जिसे (आपने) अदर्शन माना है और उत्तर काल में शरीरोत्पत्ति की सृष्टि न होने पर (जो अदर्शन है) इन दोनों अदर्शनों में कोई भेद (विशेष) नहीं, यदि अदर्शन के निमित से शरीरोत्पत्ति होती है तो जैसे पृथक्ता के दर्शन से पहले प्रधान पुरुष के लिये प्रवृत होती है वैसे (ही) अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त होने पर भी प्रवृत्त होगी। किन्तु (च) ऐसा स्वीकारा नहीं जाता। इसलिये अदर्शन शरीर की उत्पत्ति मे कारण नहीं।

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे—मोक्ष में फिर शरीर की उत्पत्ति होने लगेगी। क्योंकि दोनों अदर्शनों में कोई भेद नहीं जो प्रकृति की प्रवृति प्राक् अदर्शन है और जो मोक्ष हो जाने पर अदर्शन है। या च प्राक्प्रवृत्तेर्दर्शननिवृत्तिरदर्शनाभिमता या चोत्तरकाले निवृत्ते सर्गे नैतयोरदर्शनयोः कश्चिद्विशेषः (ऊपर वार्त्तिक)

तथाऽपवृक्तेऽपि प्रवर्तेत—किन्तु मोक्ष में शरीर की उत्पति आप नहीं मानते, न चैवमभ्युपगम्यते (ऊपर वार्तिक)।

तस्मात् नादर्शनं शरीरसर्गे कारणमिति—भाष्य की व्याख्या के पश्चात् वार्त्तिककार उपसंहार करते हैं तथा सांख्य मत का निराकरण करते हैं। इसलिये शरीर की उत्पत्ति में यह अदर्शन (अदृष्ट) कारण नहीं। अदृष्ट तो कर्म से ही उत्पन्न होता है। वही अदृष्ट शरीर की उत्पत्ति का कारण है।

न्यायभाष्यम्

चरितार्थता विशेष इति चेत्, न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ।
चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्ते इत्ययं विशेष एवं चेदुच्यते ? न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्-चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात् पुनः पुनः शरीरारम्भो दृश्यते, प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणात् निरर्थकः शरीरारम्भः पुनः पुनर्दृश्यते । तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता । युक्ता तु कर्मनिमित्ते सर्गे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः । कर्मविपाकसंवेदनं दर्शनमिति ।

न्यायवार्तिकम्

चरितार्थता विशेषो भविष्यतीति न युक्तं (न) चरितार्थानामचरितार्थानां च भूतानां पुनरारम्भदर्शनात्—आद्येन शरीरेण रूपाद्युपलब्धेः कृतत्वात् द्वितीयादिशरीरं शब्दाद्युपलब्धिसाधनं न स्यात्, भवति च शब्दाद्युपलब्धिसाधनं द्वितीयादिशरीरम्, तेन गम्यते चरितार्थान्यपि भूतानि पुनः शरीरमारभन्ते' इति । पुरुषार्थेन च हेतुना पुनः शरीराण्यारभन्त इति; पुरुषार्थश्च पुरुषप्रधाननानात्वदर्शनम्, तस्य चाकरणादनर्थकः शरीरारम्भो भवेदिति ।

(शङ्का)यदि चरितार्थता का भेद (विशेष) है । तो (ठीक) नहीं (न), करने तथा न करने पर आरम्भ देखने से–यदि कहा जाता है कि यह भेद (विशेष) है भूत चरितार्थ हो चुके हैं, दर्शन की समाप्ति होने से वे अन्य शरीर की उत्पत्ति नहीं करते ' (समाधान) (ठीक) नहीं, करने तथा न करने पर आरम्भ देखा जाने से—चरितार्थ भूतों की विषय की उपलब्धि करने से बार-बार शरीर की उत्पत्ति देखी जाती है, प्रधान तथा पुरुष (आत्मा) की पृथक्ता का दर्शन के न कराने से निरर्थक शरीरोत्पत्ति बार-बार देखी जाती है । इसलिये अकर्मनिमित्त भूतों की सृष्टि में दर्शन के लिये शरीरोत्पत्ति होना ठीक नहीं । ठीक तो यह है कि कर्मनिमित्तक सृष्टि में दर्शन के लिये शरीर की उत्पत्ति होती है; दर्शन का अभिप्राय है कर्मों का फल देखना (कर्मविपाकसंवेदनम्)
(शङ्का) चरितार्थता का भेद (विशेष) होगा ? यह युक्त नहीं । (समाधान) चरितार्थ तथा अचरितार्थ भूतों का फिर आरम्भ देखा जाने से–आदिम शरीर से रूपादि की उपलब्धि कर लेने पर द्वितीय आदि शरीर शब्द आदि की उपलब्धि का साधन न हुआ करें, किन्तु (च) द्वितीय आदि शरीर शब्दादि की उपलब्धि का साधन होते हैं, उससे प्रतीत होता है कि चरितार्थ भी भूत फिर शरीर की उत्पत्ति करते हैं, और पुरुषार्थ के लिये फिर शरीर का आरम्भ करते हैं । पुरुषार्थ है पुरुष और प्रकृति का भेद-दर्शन, उसके न करने से शरीर की उत्पत्ति अनर्थक होगी ।

चरितार्थता विशेषः—भूत चरितार्थ हो चुके हैं, उन्होंने विषयों की उपलब्धि कर ली है, अतः वे फिर दर्शन के लिये शरीर का आरम्भ नहीं करते ।

पुरुषार्थेन च हेतुना—'च' (और) अवधारण अर्थ में है । 'पुरुषार्थेनैव' यह अर्थ है, टी० ५८४ ।

तस्य चाकरणात्, चस्त्वर्थे, यह च तु के अर्थ में है । अब यह है कि जिसके लिये शरीर का आरम्भ किया था वह नहीं किया अन्य ही किया, टी० ५८४ ।

पुरुषार्थश्च पुरुषप्रधाननानात्वदर्शनम्—पुरुष और प्रकृति की पृथक्ता का दर्शन ही पुरुषार्थ है । (ऊपर वार्तिक) ।

न्यायवार्तिकम्

दिदृक्षाविशेषोऽदर्शनमिति चेत्—अथ मन्यसे नादर्शनं दर्शनाभावः, किन्तु दिदृक्षाऽदर्शनमित्युच्यते, सा चापवृक्ते प्रधाने दिदृक्षा न वर्ततीति ? न, प्राक्प्रकृतेस्तद्भावात्—यावत्प्रधानं महदादिभावेन न परिणमते तावद्दिदृक्षा नास्ति कथं कारणं भविष्यति प्रवृत्तेरिति । सर्वशक्तिमत्त्वात् तदाप्यस्तीति चेत्—अथ मन्यसे 'सर्वाः कारणशक्तयः प्रधाने विद्यन्ते, तदिदमात्मभूताभिः कारणशक्तिभिः सर्वशक्तिमत् प्रधानम् सर्वशक्तिमत्त्वाच्च प्रागपि प्रवृत्तेः प्रधाने दिदृक्षाऽस्तीति । न, अपवर्गाभावप्रसङ्गात्—दिदृक्षावन्नानात्वदर्शनमप्यस्तीत्यपवर्गाभावः, विद्यमाने च नानात्वदर्शने प्रधानस्य प्रवृत्तिरयुक्ता—यदा च नानात्वदर्शनं तदापि दिदृक्षा न व्यावर्तते, 'न हि सदात्मानं जहाति' इति वः पक्षः । दिदृक्षायां च सत्यां कुतोऽपवर्गः ? दिदृक्षानानात्वदर्शने च विरुद्धे कथमेकस्मिन् काले भवतः ।

(शङ्का) यदि दिदृक्षा विशेष ही अदर्शन है— यदि मानते हो कि दर्शन का अभाव, अदर्शन नहीं है, किन्तु देखने की इच्छा अदर्शन कही जाती है और वह (दिदृक्षा) प्रधान का अपवर्ग हो जाने पर दिदृक्षा नहीं होती । (समाधान) नहीं, प्रवृत्ति से पूर्व उसके न होने से-जब तक प्रधान महद् आदि रूप में परिणत नहीं होता, तब तक देखने की इच्छा (दिदृक्षा) नहीं होती, फिर वह प्रवृत्ति का निमित कैसे होगी (शङ्का) यदि, (प्रधान के) सर्वशक्ति वाला होने से तब भी है, यदि यह कहो—यदि मानते हो सब कारण शक्तियाँ प्रधान में हैं, वह यह प्रधान अपना स्वरूप (आत्मा) होने वाली कारणशक्तियों से सर्वशक्तिमान् है और सर्वशक्तिमान् होने से प्रवृत्ति से पूर्व भी प्रधान में दिदृक्षा है ही । (समाधान नहीं, अपवर्ग के अभाव का प्रसङ्ग होने से— दिदृक्षा के समान पृथक्ता का ज्ञान भी है, अतः अपवर्ग (मोक्ष) का अभाव होगा और पृथक्ता का दर्शन विद्यमान होने पर प्रधान की प्रवृत्ति अयुक्त है । और जब पृथक्ता का ज्ञान है तब भी दिदृक्षा का अभाव नहीं होता, वस्तुतः (व्यावृत्ति) विद्यमान (सत्) अपने स्वरूप को (आत्मानम्) नहीं छोड़ता, यह आपका मत है । दिदृक्षा होने पर अपवर्ग कैसे होगा। और (व्यावृत्ति) दिदृक्षा और पृथक्ता का दर्शन विरुद्ध (भाव) है, वे एक काल में कैसे होंगे।

दिदृक्षा विशेषः – दिदृक्षा तो अपवर्ग में होती नहीं अतः अपवर्ग के प्राप्त हुआ फिर शरीर धारण नहीं करता, इसका समाधान है न, प्राक् प्रवृत्तेः इत्यादि टी० ५८४ ।

न प्राक्प्रवृत्तेस्तदभावात् — दिदृक्षा तो तभी होगी जब प्रकृति का परिणाम बुद्धि होगी, इस प्रकार प्रवृत्ति पूर्व दिदृक्षा न होगी, टी० ५८४ ॥

सर्वशक्तिमत्त्वात—सत्कार्यवाद को लेकर शङ्का की है–सत्कार्यवादमादाय शङ्कते सर्वशक्तिमत्त्वादिति टी० ५८४ । इसका निराकरण है, नापवर्गाभावप्रसङ्गात् । टी० ५८४ ।

न हि सदात्मानं जहाति—जो विद्यमान (सत्) है वह अपने स्व रूप को नहीं छोड़ता । यह आपका मत है जो सत्कार्यवाद का ही एक अङ्ग है । सांख्य यह मानता है कि जो है वह कभी नष्ट नहीं होता।

अज्ञानमदर्शनमिति च ब्रुवाणो विकल्पतः पर्यनुयोज्यः किं ज्ञानाभावोऽज्ञानमुत मिथ्याज्ञानमिति ? किं चातः ? यद्यभावोऽपवर्गो न प्राप्नोति, प्राक् प्रवृत्तेरपवृक्ते च प्रधाने ज्ञानाभावस्य तुल्यत्वात्। अथ मिथ्याज्ञानम्। तन्नयुक्तम्, प्राक् प्रवृत्तेस्तदभावात। कथमभावः ? बुद्धिधर्मकत्वात्—अपवृक्ते च प्रधाने न बुद्धिरिति कथं तद्धर्मोऽज्ञानं भविष्यति[1] इति। सत्कार्यावादाभ्युपगमात सर्वदास्तीति ब्रुवाणे मोक्षं बाधते। कथम ? तत्वज्ञानस्य सर्वदाभावत्त्, तत्वज्ञानमिथ्याज्ञानयोश्च सहानवस्थानात्, प्रवृत्तेस्तादर्थ्यं प्रयुक्तम्। न हि भवतां पक्षे किञ्चिदसद् भवति सच्चात्मानं जहातीति सर्वार्थानां सम्भवात् प्रधानं किमर्थं प्रवर्तत इति वक्तव्यम्। अथभिव्यक्तिनिमित्तां प्रवृत्तिं प्रतिपद्येथाः ? साप्यभिव्यक्ति प्राक् प्रवृत्तः सती आहोऽसतीति पूर्ववत्प्रसङ्गः। अथ प्रागनुपलब्धः पश्चादुपलभते ? किमुपजात विशेष—

अज्ञान (ही) अदर्शन है, यह कहने वाले से विकल्प करके पूछना है कि क्या ज्ञान का अभाव अज्ञान है अथवा मिथ्याज्ञान अज्ञान है ? (प्रश्न) इससे क्या (उत्तर) यदि (ज्ञान का) अभाव अज्ञान है तो अपवर्ग नहीं प्राप्त होता—(प्रधान की) प्रवृत्ति से पूर्व तथा प्रधान का अपवर्ग हो जाने पर ज्ञान का अभाव समान रूप से होने के कारण। यदि मिथ्याज्ञान (अज्ञान है) वह युक्त नहीं, प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व उस (मिथ्याज्ञान) का अभाव होने से। (प्रश्न) अभाव कैसे है ? (उत्तर बुद्धि का धर्म होने से प्रधान का अपवर्ग हो जाने पर बुद्धि (महत्) नहीं है उसका धर्म अज्ञान कैसे होगा ? (सांख्य के) सत्कार्यवाद को स्वीकारने से (बुद्धि) सदा है, यह कहने वाला मोक्ष को बाधता है। कैसे ? तत्वज्ञान के सदा होने से, तत्वज्ञान और मिथ्याज्ञान के साथ न रहने से (प्रधान की) प्रवृत्ति उस तत्वज्ञान के लिये होती है। वस्तुतः आपके मत में कुछ असत् नहीं होता और सत् अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। अतः सब वस्तुओं के सदा सम्भव होने के कारण प्रधान किसलिये प्रवृत्त होता है, यह कहना होगा। यदि अभिव्यक्ति के लिये प्रवृत्ति होती है यह मानते हैं। व भी अभिव्यक्ति प्रवृत्ति से पहिले सत् है अथवा असत्, यह पहले के समान प्रसङ्ग है। यदि (प्रवृत्ति से) पूर्व अनुपलब्ध होती हुई को (प्रवृत्ति के) पश्चात् उपलब्ध करता है तो क्या विशेष

अज्ञानमदर्शनमिति—अज्ञान में विवेक ज्ञान का अभाव भी अगाय विवेकज्ञाना भावस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। इस प्रकार प्रकृति तथा पुरुष का विवेक ज्ञान भी अज्ञान मे आ जाता है। टी० ५८४।
तत्वज्ञानस्य सर्वदाभावात्—सत्कार्यवाद के अनुसार तत्वज्ञान भी सदा रहेगा, अतः तत्वज्ञान और मिथ्य ज्ञान साथ नहीं रह सकेंगे। (ऊपर वार्तिक)
प्रवृत्तेस्तादर्थ्यंप्रयुक्तम्—प्रधान की प्रवृत्ति तो प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान के लिये होती है।

---

१. बुद्धिरसिा, पा० । २. तादात्म्य, प० ।

न्यायभाष्यम्

तददृष्टकारितमिति चेत् कस्यचिद्दर्शनम्—अदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुः। तेन प्रेरिता परमाणवः सम्मूर्च्छिताः शरीरमुत्पादयन्ति 'इति' तन्मनः समाविशति तवगुणेनादृष्टेन प्रेरितम्। समनस्के शरीरे द्रष्टुरुपलब्धिर्भवतीति। एतस्मिन् वै दर्शने गुणानुच्छेदात् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे। अपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्याहष्टस्यादानुच्छेद्यत्वात्।

३।२।६८

न्यायवार्त्तिकम्

भूतानुपजातविशेषमिति। यदि विशेषोपजननात् पश्चादुपलभ्यते व्याहतं भवति। अनुपजातविशेषः कस्मात् प्राङ्नोपलभ्यते' इति वक्तव्यम्। सत्यार्थवादाभ्युपमे च स्फूर्जतापि न विशेषोपजनः शक्यः प्रतिपादयितुम्। न च विशेषोपजनप्रत्याख्याने वस्तुन उपलब्ध्यनुपलब्धिविषयत्वं शक्यमवगमयितुम्। कर्मनिमित्ते तु सर्गे दर्शनार्थं भूतानि शरीर पुरुषगण प्रेरितान्यारभन्ते' इति युक्तम्। न ह्यनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं पश्यतीति।

अपरे त्वदृष्टं परमाणुगुणं वर्णयन्ति तेषामपि, पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे इति—परमाणुगुणस्य शरीरोत्पत्तिनिमित्तत्वात् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे इति ३।२।६८।

(जैनमत का निराकरण) यदि उसके अदृष्ट का किया हुआ है, यह किसी (जैन) का दर्शन है—अदृष्ट का अभिप्राय है परमाणुओं का विशेष गुण जो क्रिया का हेतु है। उससे प्रेरित हुए परमाणु एकत्र होकर (सम्मूर्छिताः) शरीर को उत्पन्न करते हैं उसमें मन प्रविष्ट हो जाता है, अपने गुण अदृष्ट से प्रेरित होकर। मनयुक्त शरीर में द्रष्टा (आत्मा) की उपलब्धि होती है। इस दर्शन में भी गुणों के नष्ट होने से अपवर्ग में फिर उस (शरीरोत्पत्ति) का प्रसङ्ग होता है। अपवर्ग में शरीर की उत्पत्त के गुण होगी, परमाणु के गुण(अदृष्ट) नष्ट होने योग्य न होने से।३।२।६८॥

उत्पन्न होने वाले को या विशेष न उत्पन्न होने वाले को। यदि विशेष उत्पन्न होने के पश्चात् उपलब्ध करता है तो व्याघात होता है (आप तो असत् की उत्पत्ति नहीं मानते)। विशेष न उत्पन्न होने वाला क्यों पहले उपलब्ध नहीं होता, यह कहना होगा। और सत्कार्यवाद को स्वीकार करने पर बलपूर्वक भी विशेष की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। विशेष की उत्पत्ति का प्रत्याख्यान (खण्डन) करने पर वस्तु की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि के विषय को समझाया नहीं जा सकता। कर्म निमित्तक सृष्टि होने पर तो भूत शरीर का पुरुष (आत्मा) के गुणों से प्रेरित होकर आरम्भ करते हैं, यह युक्त है। क्योंकि शरीर के उत्पन्न न होने पर द्रष्टा (आत्मा) बिना आयतन के दृश्य को नहीं देखता।

दूसरे (जैन, आर्हत) तो अदृष्ट को परमाणु का गुण कहते हैं। उनके मत में भी फिर अपवर्ग में उस (शरीर की उत्पत्ति) का प्रसङ्ग होता है; क्योंकि परमाणु के गुण का शरीर की उत्पत्ति का निमित्त होने से फिर उसका प्रसङ्ग अपवर्ग में होगा

३।२।६८॥

अदृष्टं नाम—अदृष्ट परमाणुओं का गुण विशेष है।

अपरे तु—अर्हताः, टी० ५८४। जैन लोग अदृष्ट को परमाणु (पुद्गल) का गुण मानते हैं।

तेषामपि पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे—सांख्य मतानुयायियों के समान उनके मत में भी मोक्ष में फिर शरीरोत्पत्ति होने लगेगी, इसे ही सिद्ध करते हैं, परमाणुगुणस्येति टी० ५८४-५८५।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगाद्यनुच्छेदः ।३।२।६९।

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगाद्यनुच्छेदस्तेः न स्यात् । तत्र किंकृतमः शरीरादपसर्पणं मनस इति । कर्माशयक्षये तु कर्माशयान्तराद्विपच्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति ।

अदृष्टादेवोपसर्पणमिति चेत् योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः सः एवापसर्पणहेतुरपीति न एकस्यजीवन प्रायणहेतुत्वानुपपत्तेःएवं च सति एकमदृष्टं जीवनप्रायणयो र्हेतुरिति प्राप्तम्, नैतदुपपद्यते ।३।२।६९।

न्यायवार्तिकम्

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगाद्यनुच्छेदः ? परमाणवः स्वगुण्यदृष्टतन् संहन्यन्ते, संहताश्च द्व्यणुकादिक्रमेण शरीरमुत्पादयन्ति, तन्मनःस्वगुणादृष्टा दुपसर्पतीति ? उपसर्पणहेतोदृष्टस्य नित्यत्वान् किंकृतमपसर्पणमिति । कर्माशयक्षये कर्माशयादपसर्पणमिति युक्तं प्रायणम् । उभयहेतुर्मनोवृत्तिरदृष्टो भविष्यतीति न युक्तम् एकस्य जीवन प्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः ।३।२।६९।

मन के कर्म के निमित्त से भी संयोगादि का नाश न होगा ।३।२।६९

मन के गुण अदृष्ट से मन के प्रविष्ट होने पर संयोगादि का नाश न होगा, वहाँ किसके द्वारा मन का शरीर से अपसर्पण (पृथक्त्व) होगा । किन्तु कर्माशय का नाश होने पर (तो) विपाक को प्राप्त होते हुए दूसरे कर्माशय से अपसर्पण बन जाता है ।

(शङ्का) यदि अदृष्ट से ही अपसर्पण होगा—जो अदृष्ट शरीर के उपसर्पण (समीप गमन) का हेतु है वही अपसर्पण का हेतु भी होगा । (समाधान) नहीं, एक (अदृष्ट) का जीवन तथा मरण का हेतु होना नहीं बनता, ऐसा होने पर एक अदृष्ट जीवन तथा मरण (प्रायण) का हेतु हुआ, यह प्राप्त होता है, यह बनता नहीं ।
।३।२।६९।।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगाद्यनुच्छेदः[1] (यह सूत्र है) । (शङ्का) परमाणु अपने गुण अदृष्ट से संहत हो जाते हैं तथा संहत होकर द्व्यणुकादि क्रमसे शरीर को उत्पन्न करते हैं, अतः मन अपने गुण अदृष्ट से उपसर्पण करता है ? (समाधान) उपसर्पण के हेतु अदृष्ट के नित्य होने से अपसर्पण किसके द्वारा किया गया होगा । (शङ्का) कर्माशय का नाश होने पर (दूसरे) कर्माशय से अपसर्पण हो जायेगा, अतः मरण युक्त है । (समाधान) मन का अदृष्ट दोनों (जीवन तथा मरण) का हेतु होगा, यह ठीक नहीं—एक का जीवन तथा मरण का हेतु होना नहीं बनता ।३।२।६९।।

कर्माशयक्षये— टीका में "वर्तमान भी शरीरारम्भककर्माशयक्षयेतु भविष्यद्देहान्तरारम्भककर्माशयादपसर्पणं मनस इति युक्तं प्रायणम् यह पाठ है, टी० ५८५ । यह पाठ अधिक युक्त है । इसका अर्थ होगा, वर्तमान शरीर के आरम्भक कर्माशय का नाश हो जाने पर भविष्य के शरीर की उत्पत्ति करने वाले कर्माशय से मन का ऊपसर्पण (उपसर्पण) हो जाता है ।

उभयहेतु—मन का अदृष्ट ही उपसर्पण तथा अपसर्पण का निमित नहीं होगा, उपसर्पणापसर्पणहेतु रित्यर्थः टी० ५८५ ।। भाष्य में कहा था, एवं च सति एकमदृष्टं जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तम्, नैतदुपपद्यते (ऊपर भाष्य)

---

१. संयोगाद्युच्छेद पा० ।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ।३।२।७०॥

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म भूतमात्रात्तु कर्मनिरपेक्षाच्छरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयाच्छरीरपातः प्रायणमिति, प्रायणानुपपत्तेः खलुवै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः याहच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति ।३।२।७०॥

'नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः । नित्यत्वप्रसङ्ग इति प्रायणानुपपत्ति' ब्रूमः । तदिदमुक्तम् 'उपसर्पणहेतोरदृष्टस्य नित्यत्वादपसर्पणहेतोश्चादृष्टस्याभावात्, यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदो न स्यात् ।३।२।७०।

(मन का गुण अदृष्ट है, इस मत में अन्य दोष)

(शरीर के) नित्य होने का प्रसङ्ग होगा मरण न बनने के कारण ।३।२ ७०।

फल भोगने से कर्माशय का नाश हो जाने पर शरीर का गिर जाना मरण (प्रायण) है, और अन्य कर्माषय से फिर जन्म होता है। कर्म की अपेक्षा न करने वाले केवल भूतों से शरीर की उत्पत्ति होने पर किसके नाश से शरीर का गिरना अर्थात् मरण होगा। इस प्रकार वस्तुतः मरण न बनने के कारण शरीर के नित्य होने का प्रसङ्ग हम समझते हैं। यदि मरण को अकस्मात् (याहच्छिक) माना जाये तो मरण का भेद (प्रकार) नहीं बनता ।३।२।७०॥

'नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः' ।(यह सूत्र है)। मरण न बन सकने को हम (शरीर का) नित्य होने का प्रसङ्ग कहते हैं। इसी से यह कहा है (भाष्य में), उपसर्पण के हेतु अदृष्ट के नित्य होने से तथा अपसर्पण के हेतु अदृष्ट का आभाव होने से (शरीर नित्य होने लगेगा)। मरण को आकस्मिक (याहच्छिक) मानने पर तो मरण का भेद नहीं होगा ।३।२।७०॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणनुपपत्तेः—टीका में 'शरीरस्य नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपतेः' यह पाठ है। यह उपयुक्त प्रतीत होता है। इस पर टीका है 'संयोगा व्युच्छेदादित्यर्थः' संयोग का नाश न होगा, नाश न होने से शरीर नित्य होगा।

नित्यत्वप्रसङ्ग इति प्रायणानुपपत्ति ब्रूमः—शङ्का यह है कि शरीर तो कारण वाला है फिर नित्य कैसे होगा (सदकारणं नित्यम्)। इसके समाधान के लिये कहा गया है प्रायण मरण (नाश) नहीं होगा इसी को हम नित्यत्व कहते हैं। टी ५८५ ॥

प्रायणभेदो न स्यात्—यदि प्रायण को अकारण माना माना जावेगा तो प्रायण में भेद न होगा। किन्तु प्रायण (मरण) में भेद देखा जाता है, कोई गर्भस्थ ही मृत्यु को प्राप्त होता है कोई जात मात्र ही कोई कुमार ही अकारण का नित्य ही सत्व या असत्व होगा जैसे आकाश का या आकाश कुसम का टी० ५८५ ॥ भाष्य में यही कहा था यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति: (उपर भाष्य)।

न्यायसूत्र भाष्य च

'पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे' इत्येतत्समाधित्सुराह,

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ।३।२।७१॥

यथा अणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिबद्धा न पुनरुत्पद्यते, एवम् ष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यत इति । ३।२ ७१॥

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । ३।२।७२॥

नायमस्ति दृष्टान्तः। कस्मात् ? अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अकृतं प्रमाणतोऽनुपपन्नं तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः। एतच्छ्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम् ।

न्यायवार्तिकम्

'अणुश्यामतानित्यत्ववद् एतत् स्यात्' इति। परिहारं वर्णयन्ति यथा किलाणोः श्यामता नित्या, अथापि संयोगेन प्रतिषिध्यते, एवमणुमनसरोदृष्टः सम्यग्ज्ञानेन प्रतिषिध्यते' इति । ३।२।७१ ।

एतच्च न, 'अकृताभ्यागमप्रसङ्गाद्' इति । अनुपपन्नः प्रमाणैस्याभ्युपगम ऽकृताभ्यागमः'

फिर अपवर्ग में उस (शरीरोत्पत्ति) का प्रसङ्ग होता है, इसके समाधान की इच्छा वाला कहता है.

अणु की श्यामता की नित्यता के समान यह हो जायेगा । ३।२।७१॥

जैसे अणु की श्यामता नित्य होते हुए (भी) अग्नि के संयोग से प्रतिषिद्ध हो कर फिर उत्पन्न नहीं होती, इसीप्रकार अदृष्ट का किया हुआ शरीर फिर अपवर्ग में नहीं उत्पन्न होता । ३।२।७१।

(उपर्युक्त समाधान का निराकरण)

नहीं, बिना किये की प्राप्ति का प्रसङ्ग होने से । ३।२।७२॥

यह दृष्टान्त नहीं । क्यों ? बिना किये की प्राप्ति का प्रसङ्ग होने से—अकृत अर्थात् प्रमाण से प्रमाणित न हुआ, उसका अभ्यागम प्राप्ति या व्यवसाय। ऐसा मानने वाले के द्वारा प्रमाण से अप्रमाणित मानना होगा ।

'अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात्' (यह सूत्र है) । उपर्युक्त का परिहार करते हुए कहा है जैसे अणु की श्यामता नित्य है किन्तु (अग्नि के) संयोग से प्रतिषिद्ध हो जाती है, इसीप्रकार अणु तथा मन का अदृष्ट तत्वज्ञान से प्रतिषिद्ध कर दिया जाता है । ३।२।७२॥

यह नहीं, 'अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्' (यह सूत्र है) । प्रमाणों से अस्वीकृत की प्राप्ति अकृताभ्यागम है, यह सूत्र का अर्थ है ।

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे —यह जो सिद्धान्ती ने दोष दिखलाया था, उसका कोई समाधान करता है । अणुगतश्यामादित्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वेन प्रत्यवतिष्ठते, अणुश्यामतावदिति, टी० ५८५ । (ऊपर वार्तिक तथा भाष्य) ।

एतच्च न —अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् प्रमाण से जो उपपन्न न हो वह अकृत है, इतना ही नहीं जो प्रत्यक्षागम के विरुद्ध हो वह अकृत है । उसका अभ्यागम अर्थात् अभ्युपगम (स्वीकार करना) का प्रसङ्ग होता है । परमाणु की श्यामता भी बिना कारण के नहीं पृथिवी का रूप होने से लोहितादि रूप समान इस अनुमान से उसको भी पाकज मानते हैं। टी० ५८५ ।

अनुपपन्न इत्यादिस्यस्यप्रमाणस्याभ्युपगमः —प्रमाण रहित को मानना होगा ।

न्याय भाष्यम्

तस्मान्नायं दृष्टान्तः न प्रत्यक्ष न चानुमानं किञ्चिद् उच्यते' इति । तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयते' इति ।

अथवा 'नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्' । अणुश्यतमादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां शरीरोत्पत्तिं समादधानस्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत । ओमिति ब्रुवतः, प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः ।

न्यायवार्तिकम्

इति सूत्रार्थः ।

यथाश्रुति वा सूत्रार्थः, अकृतस्य कर्मण उपभोगप्रसङ्गादिति । एतत् सविस्तरोक्तं भाष्ये' इति ।

इसलिये यह दृष्टान्त नहीं । न प्रत्यक्ष है, और न अनुमान कुछ कहा जाता है । तो यह दृष्टान्त की साध्यसमता (जाति) कही जाती है ।

अथवा 'नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्' बिना किये (कर्म) की प्राप्ति का प्रसङ्ग होने से) । अणु की श्यामता के दृष्टान्त से अकर्मनिमित्तक शरीर की उत्पत्ति का समाधान करने वाले के मत में बिना किये (ही) प्राप्ति का प्रसङ्ग होता है— सुख-दुःख के हेतु कर्म के बिना किये (हीं) व्यक्ति को (पुरुषस्य) सुख-दुःख आ जाते है, यह प्रसङ्ग होता है । हो जाये (ओम्) ऐसा कहने वाले के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम से विरोध होता है।

अथवा शब्दों के अनुसार ही सूत्र का अर्थ (अभिप्राय) है । बिना किये उपभोग का प्रसङ्गः होता है । यह विस्तार से भाष्य में कहा गया है ।

तस्मान्नाय दृष्टान्तः—इसलिये यह दृष्टान्त नहीं । क्यों ? न प्रत्यक्ष, न अनुमान और न ही आगम है । यह दृष्टान्त साध्यसम (जाति) है । आगे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम का विरोध दिखलाया गया है ।

अथवा 'नाकृताभ्यागम प्रसङ्गात्'—अथवा सूत्र का अर्थ श्रुति के अनुसार है— यथा श्रुति वा सूत्रार्थः, टी० ५८५, ५८६।।

ओमिति ब्रुवत.—यदि कहो कि अकृताभ्यागम होगा तो हमारी क्या हानि है ? इस पर कहा गया है कि इससे प्रत्यक्षानुमानागम का विरोध है, ओमिति ब्रुवतः, प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः (ऊपर भाष्य) ।

इति सूत्रार्थः—यह नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् सूत्र का अर्थ है ।

यथाश्रुति वा सूत्रार्थः—अर्थात् सूत्र का अर्थ यथा श्रुति (सुने हुए के अनुसार) या शब्दों के अनुसार) ही है । बिना किये कर्म का उपभोग होने लगेगा, यह सूत्र में कहा गया है ।

एतत् सविस्तरोक्तं भाष्ये— सूत्र का यह अर्थ भाष्य में विस्तार से कहा गया है । वहां दिखलाया गया है कि सुख दुःख का हेतु कर्म न करने पर भी सुख-दुख प्राप्त होंगे, यदि कहो कि हो जायें तो इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम का विरोध होता है । टीका में आगमविरोध को स्पष्ट किया गया है ।

न्यायभाष्यम्

प्रत्यक्षविरोधस्तावत्—भिन्नमिदं सुखदुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम् । को भेदः ? तीव्रं मन्दं चिरमाशु, नानाप्रकारमेकप्रकारम् इत्येवमादिर्विशेषः । न चास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःहेतुविशेषः । न च सति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते । कर्मनिमित्ते तु सुखदुःखयोगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः, कर्मसञ्चयानां चोत्कर्षापकर्षभावात् नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः । सोऽयं हेतुभेदाभावात् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यात्' इति प्रत्यक्षविरोधः ।

तथाऽनुमानविरोधः—दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात् सुखदुःखव्यवस्थानम् । यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्तनीयं सुखं बुद्ध्वा तदीप्सन् साधनावाप्तये प्रयतते स सुखेन युज्यते, न विपरीतः । यश्च साधन निर्वर्तनीयं

प्रत्यक्ष का विरोध तो यह है—यह सुख तथा दुःख भिन्न-भिन्न है जो प्रत्येक आत्मा में जाना जाने के कारण सब शरीरधारियों को प्रत्यक्ष है । क्या भेद है, तीव्र-मन्द, बहुत समय तक शीघ्र, नाना प्रकार का—एक प्रकार का इत्यादि भेद (विशेष) है । और (तुम्हारे मत में) प्रत्येक आत्मा में नियत सुख दुःख का विशेष हेतु है नहीं, किन्तु (च) विशेष हेतु के न होने पर विशेष फल नहीं देखा जाता; किन्तु कर्मनिमित्तक सुख-दुःख का सम्बन्ध होने पर कर्मों की तीव्रता तथा मन्दता बन जाती है, और कर्मसञ्चयों का उत्कर्ष तथा अपकर्ष होने से और अनेक प्रकार तथा एक प्रकार होने से सुख एवं दुःख का भेद बन जाता है । वह यह देखा गया सुख एवं दुःख का भेद हेतु (कर्म) के भेद के अभाव से न होगा । यह प्रत्यक्ष का विरोध है ।

उसी प्रकार अनुमान का विरोध है—वस्तुतः व्यक्ति (पुरुष) के गुणों की व्यवस्था से सुख-दुःख की व्यवस्था देखी गई है जो चेतन है । साधन से प्राप्त होने वाले सुख को जनकर उसे चाहता हुआ उसके साधन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है वह सुख से युक्त होता है, विपरीत नहीं । और जो साधन से प्राप्त होने

प्रत्यक्षविरोधः—यहाँ प्रत्यक्ष का विरोध दिखलाया गया है । सुख-दुःख प्रत्येक आत्मा को प्रत्यक्ष होता है, किसी को तीव्र किसी को मन्द ।

न चास्ति.........सुखदुःख हेतुविशेषः—सुख दुःख के हेतु का भेद है नहीं बिना हेतु के भेद के कार्य में भेद न ीं होना चाहिये ।

कर्मनिमित्ते तु—यदि कर्मनिमित्तक सुख-दुःख का उपयोग माना जाये तो जैसा कर्म होगा उसके अनुसार ही सुख भोग या दुःख भोग होगा । हेतु के भेद के अभाव में यह नहीं बनत ।

तदीप्सन्—उसकी इच्छा करता हुआ, या उसे चाहता हुआ ।

साधनावाप्तये प्रयतते—जो सुख के साधन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वह सुख से युक्त ता है: ोता नहीं ।

न्यायभाष्यम्

दुखं बुद्ध्वा तज्जिहासुः साधनपरिवर्जनाय यतते, स च दुःखेन त्यज्यते, न विपरीतः। अस्ति चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःखव्यवथानम्। तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थाकृतेन भवितव्यमित्यनुमानम्। तदेतद् कर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुद्धयते' इति। तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाद् 'अदृष्टं' विपाक-कालानियमाच्चाव्यवस्थितम्। बुद्धयादयस्तु संवेद्याश्चापवर्गिणश्चेति।

अथागमविरोधः—बहु खल्विदमार्षम्=ऋषीणामुपदेशजातमनुष्ठान-परिवर्जनाश्रयमुपदेशफलं च शरीरिणां वर्णाश्रमविभागेनानुष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः, तच्चोभयमेतस्यां दृष्टौ, नास्ति कर्म सुच-रितं दुश्चरितं वाऽकर्मनिमित्तः पुरुषाणां सुखदुःखयोग इति विरुध्यते।

दुःख को जानकर उसे छोडने की इच्छा वाला होकर उसका साधन छोड़ने के लिये यत्न करता है, वह दुःख से छोड़ दिया जाता है, विपरीत नहीं। और यह यत्न के बिना (ही) चेतनों की सुख-दुःख की व्यवस्था है, वह भी चेतन के अन्य गुण की व्यवस्था से की गई होगी, यह अनुमान है। वह यह अकर्म निमित्तक सुख-दुःख का सम्बन्ध होने पर ठीक नहीं (विरुध्यते)। वह अन्य गुण संवेदन योग्य न होने से 'अदृष्ट' है और विपाक (फल देने का) समय न निश्चित होने से व्यवस्थित नहीं है, बुद्धि आदि का तो संवेदन होता है और वे नाशशील हैं।

और आगम (शब्द) का विरोध है—वस्तुतः यह बहुत सा आर्ष है अर्थात् ऋषियों का उपदेश है जो अनुष्ठान (कर्तव्य) और परिवर्जना (छोड़ना) पर आश्रित है और उपदेश का फल है शरीरधारियों की वर्ण एव आश्रम के अनुसार अनुष्ठान रूप प्रवृत्ति एव परिवजन रूप निवृत्ति। वह दोनों (ही) इस दृष्टि (दर्शन) में विरुद्ध है कि कर्म नहीं है, अच्छा कार्य और बुरा कार्य (नहीं है), यह संसार (जन्म-मरण) तथा सुख-दुःख का सम्बन्ध व्यक्तियों को बिना कर्म के निमित्त के ही होता है।

जिहासुः—हातुमिच्छुकः, छोड़ने की इच्छा वाला।

साधनपरिवर्जनाय यतते— दुःख का साधन छोड़ने का प्रयत्न करता है।

तदेतदकर्मनिमित्ते — यदि सुख-दुःख का उपभोग बिना कर्म के निमित्त के होवे तो यह विरुद्ध है।

अदृष्टम्— वह आत्मा का गुण अदृष्ट कहलाता है क्योंकि उसका अनुभव (संवेदन) नहीं होता।

विपाककालानियमाच्चाव्यवस्थितम्— उसके फल देने का कोई नियम नहीं है, अतः वह अव्यव-स्थित है।

आर्षम् – ऋषीणामुपदेशजातम्, यह इसी का अभिप्राय है। (ऊपर भाष्य)।

न्यायभाष्यम्

सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिरकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिःकर्मनिमित्तः सुख-खयोग इति । ३।२।७२॥

इति श्री वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीताध्यायास्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चयं तृतीयोऽध्यायः ।

न्यायवार्त्तिकम्

आत्मा शरीरं करणार्थो बुद्धिर्मनस्तथा ।

यद्यथा वस्तु तत्त्वेन तत् तथेहोपपादितम् ॥

(इति प्रासङ्गिकमदृष्टनिष्पाद्यत्वप्रकरणम्)

इति औद्योतकरे न्यायसूत्रवार्त्तिके तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

वह यह घोर पापियों की मिथ्या दृष्टि है कि कर्म के निमित्त के बिना शरीर की सृष्टि होती हैं, कर्म के निमित्त के बिना सुख:दुख का सम्बन्ध होता है । ३।२।७२॥

श्रीवात्स्यायनीय न्यायभाष्य में तृतीय अध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त और यह तृतीयाध्याय भी समाप्त ।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि और मन ।

जो वस्तुतः जैसा है, वैसा ही सिद्ध किया गया है ॥

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में तृतीय अध्याय का द्वितीयाह्निक तथा तृतीय अध्याय भी समाप्त ।

तृतीय अध्याय भी समाप्त ।